UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186259
UNIVERSAL
LIBRARY

)UP—731—28-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H&3 P59P Accession No. H3298

Author कैलाशप्रकाश, कैलाश

Title प्रेम-तट दूर्त हिन्दी उपन्यास-1962

This book should be returned on or before the date last marked below

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास

(दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखिका

डॉ० कैलाशप्रकाश एम. ए., पी-एच. डी.

हिन्दी-विभाग, इन्द्रप्रस्थ कालेज फौर वीमन

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

●

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

के निमित्त

हिन्दी साहित्य संसार

दिल्ली-६ :: पटना-४

द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
रामकृष्ण शर्मा
हिन्दी साहित्य संसार
१३६१ वैदवाड़ा, दिल्ली-६

ब्रांच—
खजाञ्ची रोड, पटना-४

मूल्य
साढ़े बारह रुपया (१२.५०)

मुद्रक
राजश्री प्रेस
दिल्ली-६

हमारी योजना

'प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्-ग्रन्थमाला का पच्चीसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्', हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ ई० में हुई थी। 'परिषद्' के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन, तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अबतक 'परिषद्' की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे, जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे, जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है; और तीसरे, वे ग्रन्थ, जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं :

(१) हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र,
(२) हिन्दी वक्रोक्ति जीवित,
(३) अरस्तू का काव्यशास्त्र,
(४) हिन्दी काव्यादर्श,
(५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी-अनुवाद)
(६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा
(७) काव्य कला (होरेसकृत)
(८) सौन्दर्य तत्त्व
(९) हिन्दी अभिनव-भारती
(१०) हिन्दी नाट्य-दर्पण

द्वितीय वर्ग के प्रकाशित ग्रन्थ हैं :

(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ,
(२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास,
(३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य,
(४) अपभ्रंश साहित्य,
(५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य
(६) सूर की काव्य-कला
(७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा

(८) मैथिलीशरण गुप्तः कवि और भारतीय सस्कृति के आख्याता
(९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य
(१०) मतिराम · कवि और आचार्य
(११) आधुनिक हिन्दी-कवियो के काव्य-सिद्धान्त

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है :

(१) अनुसन्धान का स्वरूप
(२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध
(३) अनुसन्धान की प्रक्रिया

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का बारहवां प्रकाशन है, जिसे हम उपन्यास-मर्मज्ञो एवं आलोचको की सेवा मे अर्पित कर रहे हैं।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने मे हमे हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। इन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते है।

डॉ० नगेन्द्र
अध्यक्ष,
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
३० मई १९६२

—नगेन्द्र

भूमिका

ईस्वी सन् की उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ से ही खड़ी बोली ने भाषा का रूप ग्रहण करके साहित्य में प्रवेश आरम्भ कर दिया था। उसका प्रथम स्वागत कथा-साहित्य एवं समाचार-पत्रों ने किया। राजनीतिक कारणों से इस साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ा। फलतः हिन्दी के आधुनिक साहित्य का उपक्रम खड़ी बोली के 'नवीन' कथा-साहित्य से हुआ। कुछ दशाब्दियों तक बिखरे हुए प्रयत्न होते रहे। परन्तु उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध से अंग्रेजी साहित्य, क्वचित् प्रत्यक्ष और क्वचित् बंग-भाषा के माध्यम से, खड़ी बोली हिन्दी-साहित्य को निश्चय एवं निरन्तर प्रभावित करने लगा। 'नावेल' अथवा 'उपन्यास' का सूत्रपात हिन्दी में उसी सम्पर्क का स्वाभाविक परिणाम है।

खड़ी बोली हिन्दी के उस प्रभात में जितनी लोकप्रियता 'उपन्यास' को प्राप्त हुई उतनी किसी अन्य साहित्य-रूप को नहीं। दूसरी भाषाओं से अनुवाद तो हुए ही, मौलिक रचनाएं भी असंख्य प्रकाशित हुईं। काशी, वृन्दावन, कलकत्ता, आगरा आदि नगरों में अनेक प्रकाशन-केन्द्र खुल गये और व्यवस्था-पूर्वक 'उपन्यास' नामधारी पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। 'उपन्यास', 'उपन्यास-बहार', 'उपन्यास-सागर', 'जासूस', 'दारोगा', आदि अनेक मासिक-पत्रिकाएं अपने अंकों में केवल उपन्यास छापती थीं, जो पूर्ण होने पर पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिये जाते थे। यह सिलसिला हिन्दी में प्रेमचन्द के अवतीर्ण होने तक चलता रहा।

प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी-उपन्यास के लिए एक विशेष घटना है। उनसे चरित्र-विकास एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण की छाप दृष्टिगत होने लगती है। प्रेमचन्द के तीव्र आलोक में सामान्यतः पाठक यह भूल जाता है कि प्रेमचन्द से पूर्व भी उपन्यास का राजमार्ग स्वच्छ एवं विस्तृत था। एक तो हमारे आलोचकों ने उपन्यास-साहित्य की ओर ही ध्यान कम दिया है; दूसरे यदि हिन्दी-उपन्यास के विषय में कुछ लिखा भी है तो उसमें प्रेमचन्द-पूर्व-साहित्य को महत्व नहीं दिया। सामान्यतः यह धारणा बनी हुई है कि प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में साहित्यिक स्तर के अनुवाद तो थे मौलिक उपन्यास नहीं, और जो पुस्तकें मौलिक उपन्यास बतलाई जाती हैं वे अनर्गल, विचित्र एवं नानी-की-कहानी मात्र हैं। इस धारणा का एक कारण प्रेमचन्द-पूर्व-युग में उपन्यास का अपरिमित प्रवाह है। यदि अजस्र वर्षा के कारण उपन्यास-धारा पंकिल न हुई होती तो प्रेमचन्द-घाट तक आने के पूर्व वह नितान्त निर्मल एवं आकर्षक लगती।

इस परम्परागत धारणा का मेरे हृदय में सुधार उस समय हुआ जब मैंने

हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पूज्य डा० नगेन्द्रजी से उपन्यास-साहित्य के विकास पर एम०ए० कक्षा में व्याख्यान सुना। तभी से उक्त काल के विषय मे मेरे मन मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई। एम० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होने के अनन्तर मैंने प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास साहित्य पर शोध-कार्य की अनुमति मागी जो डाक्टर साहब ने सहर्ष दे दी और रूपरेखा आदि में सहायता देकर मुझे प्रोत्साहित भी किया; आगे चलकर प्रस्तुत प्रबन्ध के शास्त्रीय भाग मे आपसे मुझे अमूल्य परामर्श प्राप्त हुआ, जिसके लिए मै अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे प्रेमचन्द-पूर्व-युग के मौलिक उपन्यास-साहित्य का अध्ययन किया गया है। उक्त युग में इतने अधिक उपन्यास लिखे गये कि उनका ऐतिहासिक विवरण एक स्वतन्त्र प्रयास हो सकता है। मैंने सभी रचनाओ का विवरण देकर प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-साहित्य का इतिहास नही लिखा, प्रत्युत केवल प्रवृत्ति-विशेष की प्रतिनिधि रचनाओ तक अपने अध्ययन को सीमित रखा है। प्रतिनिधि रचनाओ का अध्ययन शैली-विषयक भी हो सकता है और प्रवृत्ति-विषयक भी। इस शोध-प्रबन्ध मे केवल प्रवृत्ति-विषयक अध्ययन है। अस्त प्रेमचन्द पूर्व-युग की मौलिक उपन्यास-राशि मे से प्रतिनिधि रचनाओ का अध्ययन करते हुए युग-प्रवृत्ति का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध का लक्ष्य है। यह कहने की आवश्यकता नही कि यह प्रयास सर्वांशत : मौलिक है, उक्त साहित्य का अभी तक न ऐतिहासिक अध्ययन हुआ है और न विवेचनात्मक।

विवेच्य सामग्री पर आलोचको ने बहुत कम ध्यान दिया है। इसलिए प्रामाणिक अध्ययन का संकेत भी किसी आलोचनात्मक रचना से मिलना संभव नही। ऐसी परिस्थिति में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं लेखक माने गये है। जिस रचना को लेखक ने 'उपन्यास' कहा उसको प्रस्तुत अध्ययन मे 'उपन्यास' मान लिया गया। जिस वर्ग मे लेखक ने अपने उपन्यास को स्थान दिया, उसी वर्ग मे उसे मैंने भी रख दिया। दूसरा प्रमाण तत्कालीन समाचार-पत्र एव पत्रिकाए हैं; उनसे यह विदित होता है कि रचना—विशेष अथवा प्रवृत्ति-विशेष के सम्बन्ध मे तत्कालीन साहित्यिको की क्या प्रतिक्रिया थी। तीसरा प्रमाण रचनाओ के विज्ञापन है जो कम-से-कम इतना अवश्य बतला देते हैं कि उस युग का पाठक क्या चाहता था। इस प्रकार उपलब्ध सामग्री का विश्लेषण करते हुए जो निष्कर्ष निकाले गये है उनकी बहुत बड़ी शक्ति वह साहित्य स्वयं है—मेरा प्रयत्न यह रहा है कि यथासभव समकालीन साहित्यिको की शब्दावली से लाभ उठाया जाय।

प्रस्तुत प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 'उपन्यास' तथा उसके मूल रूप 'नावेल' शब्दों तथा उनसे अभिव्यक्त काव्यरूपो की विशेषताओ का अध्ययन किया गया है। संस्कृत का 'उपन्यास' शब्द बगला मे एक विशेष अर्थ मे भी प्रयुक्त होने लगा, हिन्दी में उस अर्थ का अनुकरण हुआ। अग्रेजी मे भी 'नावेल' शब्द विदेश से आकर एक विशेष अर्थ का द्योतक बन गया था। नावेल के अर्थ, क्षेत्र एव परिभाषा में परिवर्तन होता रहा है। 'नावेल' के तत्व ६ हैं, परन्तु 'उपन्यास' के सात माने जाते हैं।

'नावेल' अथवा 'उपन्यास' के अनेक भेद हो सकते हैं, जिनमें से कुछ भेद बहुत स्वाभाविक है।

द्वितीय अध्याय में संस्कृत से लेकर प्राकृत पैशाची, पालि एवं अपभ्रंश भाषाओं के कथा-साहित्य पर विचार करते हुए यह प्रयत्न किया गया है कि उपन्यास से किस रूप का कितना साम्य तथा कितना वैषम्य है; शास्त्रीय दृष्टि से कथा के विभिन्न रूप तथा उपन्यास की उनसे तुलना प्रस्तुत की गई है। मध्ययुगीन कथा-साहित्य से उपन्यास की तुलना कर यह प्रतिपादित किया गया है कि उस साहित्य से उपन्यास का सम्बन्ध जोडना भ्रामक है। खडी बोली की प्रारम्भिक कहानियों को उपन्यास मानने का खंडन किया गया है। बंगभाषा के प्रारंभिक उपन्यासों पर सामान्य दृष्टिपात कर उनकी विशेषताओं का विश्लेषण है। तदनन्तर इस विवादपूर्ण प्रश्न पर विचार है कि 'रानी केतकी की कहानी' से लेकर 'चन्द्रकान्ता' तक के उपन्यासो में से किसको हिन्दी का प्रथम मौलिक साहित्यिक उपन्यास मानना उचित है। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का वैज्ञानिक काल-विभाजन प्रस्तुत करके अन्त मे अलोच्य-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण तथा अन्त प्रमाण के आधार पर [illegible] उपन्यास-राशि का सामाजिक, ऐतिहासिक एव घटनात्मक वर्गों मे वर्गीकरण है।

तृतीय अध्याय मे सामाजिक जीवन और उसका चित्रण करने वाले उपन्यासों का अध्ययन है। राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्मसमाज एव महर्षि दयानन्द द्वारा आर्य-समाज की स्थापना के प्रभाव से पूर्व हिन्दी मे समाज-नीति के कुछ उपन्यास लिखे गये जिनका उपक्रम 'परीक्षा गुरु' से तथा जितनी अवसिति 'सुन्दर सरोजिनी' पर है। तदनन्तर सामाजिक धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये जिनका प्रभाव किशोरीलाल गोस्वामी से लेकर मन्नन द्विवेदी तक की रचनाओ पर निरन्तर पाया जाता है। इस खेवे के मुख्य-मुख्य उपन्यासो का अध्ययन उस काल के समाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालता है, सामाजिक यथार्थ एव आदर्श दोनो की दृष्टि से यह सामग्री अमूल्य है। उपन्यासकारो ने 'नव्यसमाज' और 'सनातन समाज', 'अंग्रेजी कोर्टशिप' और 'भारतीय प्रेम', का सूक्ष्म अन्तर दिखलाया है। साथ ही बहु-विवाह, स्वच्छन्द प्रेम, विवाह-पूर्व प्रेम, दुर्ललित सन्तान, छुआछूत, तीर्थयात्रा, श्राद्ध, आदि समस्याओ का चित्रण एवं ईसाइयो के प्रचार तथा हिन्दुओ के संगठन का सूक्ष्म अंकन है।

चतुर्थ अध्याय में ऐतिहासिक उपन्यासो का अध्ययन है। आलोच्य-काल में समाज का चित्रण प्रमुख हो जाने के कारण उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यासो के प्रति न्याय नही कर पाये। लेखकों की संख्या भी कम है और रचनाओं की भी। फिर भी किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासो में ऐतिहासिक रहस्यो को प्रकट करने की अपूर्व क्षमता है। इतिहास के उद्घाटन द्वारा पाठक को मनोरंजन एवं उपदेश प्राप्त कराने में ये सफल हैं। समाज के प्रति दत्तदृष्टि होने के कारण इस काल के कलाकार सुदूर अतीत के इतिहास में नहीं झांक पाये। मुसलमानों के प्रति घृणा, अंग्रेजों के न्याय में विश्वास, पाप की पराजय एवं धर्म की विजय इन रचनाओं में सर्वत्र

चित्रित है। लेखक-गण पाठक के विश्वास के लिए यथासंभव प्रमाण भी जुटाते गये हैं।

पंचम अध्याय में घटनात्मक उपन्यासों का अध्ययन है। प्रेमचन्द-पूर्व काल में घटनात्मक उपन्यास सबसे अधिक लिखे गये और अधिकांश मे उन्ही के सहारे उपन्यास-पत्रिकाएं एवं उपन्यास-मालाए पनपती रही। इस सामग्री को स्वय उपन्यासकारों ने ही अधिक सम्मान की दृष्टि से नही देखा। सामान्यत: सामाजिक एव ऐतिहासिक उपन्यास शिक्षाप्रद समझे जाते थे और घटनात्मक अद्भुत उपन्यास चुहलबाजी, रगीनी एवं छलछिद्रो से युक्त होने के कारण हेय गिने जाते थे। प्रस्तुत अध्याय मे इस साहित्य-राशि का व्यवस्थित अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इनको 'अनर्गल' कहना उचित नही। सामयिक जीवन एव परम्परा के मिश्रण से तैयार हुआ यह पाक स्वस्थ मनमे अजीर्ण नही कर सकता।

अन्त मे उपसहार-स्वरूप आलोच्य काल का मूल्याकन है जिसमे प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-साहित्य का महत्व प्रतिपादित करते हुए उसको तत्कालीन जीवन का प्रतिनिधि प्रतिबिम्ब सिद्ध किया गया है। मुझे विश्वास है कि मेरा यह प्रयास आलोच्य-काल की उस अनन्त साहित्य-राशि के प्रति न्याय कर सका है जो अब तक उपेक्षित चली आ रही थी।

प्रस्तुत प्रबन्ध का निर्देशन दिल्ली विश्वविद्यालय मे हिन्दी-विभाग की रीडर डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा पी-एच० डी०, डी० लिट्०, ने किया है। श्रद्धेया सिन्हा जी के स्नेह को मै शब्दो मे व्यक्त नही कर सकती, स्वय व्यस्त रहते हुए भी वे अपनी छात्राओ की सहायता को सदा प्रस्तुत रहती है। कर्त्तव्य की कठोरता के साथ स्नेह की कोमलता, बौद्धिक विवेचन के साथ भावुक अनुशीलन उनके स्थिर व्यक्तित्व मे सहज ही हिल-मिल गये हैं। थीसिस को तैयार करते हुए समय-समय पर मुझे आदरणीय डॉ० विजयेन्द्र स्नातकजी से अमूल्य सहायता मिली है, मै उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। विभागाध्यक्ष पूज्य डा० नगेन्द्र जी को एक बार फिर साभार धन्यवाद देना मेरा पावन कर्त्तव्य है।

प्रस्तुत पुस्तक सन् १९५९ ई० मे दिल्ली विश्वविद्यालय मे पी-एच० डी० उपाधि के शोध-प्रबन्ध के रूप मे स्वीकृत हुई थी। प्रकाशित करते हुए इसमे कोई विशेष परिवर्त्तन नही हुआ। थीसिस मे प्रयुक्त अधिकतर सामग्री पुस्तके तथा प्राचीन पत्रिकाए इन्द्रप्रस्थ वैदिक पुस्तकालय चावडी बाजार दिल्ली से प्राप्त हुई थी; पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री फूलचन्द शर्मा से मुझे सामग्री-संकलन मे जो उदार सहायता मिली उसके लिए मैं उनको धन्यवाद देती हूँ। किशोरीलाल गोस्वामी-साहित्य वृन्दावन निवासी पं० दानविहारीलाल शर्मा से और बालकृष्ण भट्ट-साहित्य मुझे पं० जनार्दन भट्टजी से प्राप्त हुआ जिसके लिए मैं उक्त दोनो सज्जनो की आभारी हूँ। 'हिन्दी साहित्य ससार' के व्यवस्थापक श्री रामकृष्ण शर्मा ने मेरे थीसिस को पुस्तकाकार प्रकाशित करने मे बडी तत्परता तथा सुरुचि का परिचय दिया है; मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

३० मई १९६२ —कैलाश प्रकाश

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

'उपन्यास' या 'नावेल' १-४५

१. 'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति १
२. 'नावेल' शब्द का इतिहास ५
३ उपन्यास' या 'नावेल' की परिभाषा ७
४ उपन्यास और काव्य १०
उपन्यास और नाटक १३
उपन्यास और रोमान्स १६
उपन्यास और कहानी १८
उपन्यास और इतिहास १९
५ उपन्यास के तत्व २२-४०
कथावस्तु २२
चरित्र-चित्रण २५
कथोपकथन ३१
देशकाल (वातावरण) ३३
शैली ३४
उद्देश्य ३६
रस ४०
६ उपन्यास के प्रकार ४१-४५
घटना-प्रधान तथा चरित्र-प्रधान ४२
चरित्र-प्रधान तथा नाटकीय ४२
ऐतिहासिक ४३
मनोवैज्ञानिक ४४
वैज्ञानिक ४५
कलात्मक ४५

तृतीय अध्याय

हिन्दी-उपन्यास ४६-७८

१. हिन्दी-उपन्यास—उपक्रम ४६

२. प्राचीन कथा-साहित्य ४७
३. मध्ययुगीन कथा-साहित्य ५४
४. खडी बोली की उपन्यास-पूर्व कहानिया ५८
५. बगला के प्रारंभिक उपन्यास ६१
६. हिन्दी का प्रथम उपन्यास ६४
७. हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का काल-विभाजन ६८
८. प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास की सामान्य प्रवृत्ति ७१
९. प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-साहित्य का वर्गीकरण ७५

तीय अध्याय

सामाजिक उपन्यास ७९-१९८
१. सामाजिक जीवन की रेखाएं ७९
२. 'परीक्षागुरु' से पूर्व ८७
३. 'परीक्षागुरु' ८८
४. 'परीक्षागुरु' की परम्परा ९०१
(क) नूतन ब्रह्मचारी १०२
(ख) सौ अजान और एक सुजान १०९
(ग) सुन्दर सरोजिनी ११६
५. नव-आन्दोलन के उपन्यास १२०
६. किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास १२८-१४८
(क) त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी १२८
(ख) लीलावती वा आदर्शसती १३०
(ग) राजकुमारी १३२
(घ) चपला या नव्य समाज चित्र १३६
(ड) पुनर्जन्म वा सौतिया दाह १४०
(च) माधवी-माधव वा मदन-मोहिनी १४२
(छ) अगूठी का नगीना १४५
७. लज्जाराम शर्मा के उपन्यास १४८-१५४
(क) बिगड़े का सुधार वा सती सुखदेवी १४८
(ख) आदर्श हिन्दू १५०
८. गगाप्रसाद गुप्त के उपन्यास १५५
लक्ष्मी देवी
९. टीकाराम तिवारी के उपन्यास १५-
पुष्पकुमारी

१०. रुद्रदत्त शर्मा के उपन्यास १६०
स्वर्ग मे महासभा
११. श्यामकिशोर वर्मा के उपन्यास १६३
काशी यात्रा
१२. रामजीदास वैश्य के उपन्यास १६५
धोखे की टट्टी
१३. अयोध्यासिंह उपाध्याय के उपन्यास १६८
अधखिला फूल
१४. रामप्रसाद सत्याल के उपन्यास १७२
किरणशशि
१५. कृष्णलाल वर्मा के उपन्यास १७५
चम्पा
१६. अन्य सुधारवादी उपन्यास १७७
(क) राधा १७७
(ख) डबल बीबी १७९
१७. ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यास १८२
राधाकान्त
१८ मन्नन द्विवेदी के उपन्यास १८८
रामलाल

चतुर्थ अध्याय

ऐतिहासिक उपन्यास १९९-२६०
१. अतीत के उपन्यास १९९
२. किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास २०५-२४८
(क) तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी २०५
(ख) सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल मे हलाहल २१९
(ग) हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी २२६
(घ) लवंगलता वा आदर्शबाला २३०
(ङ) मल्लिकादेवी वा वंगसरोजिनी २३२
(च) सोना और मुगन्ध वा पन्नाबाई २३८
(छ) गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह २४१
(ज) लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा २४३
(झ) कनककुसुम वा मस्तानी २४९

३. मथुराप्रसाद शर्मा के उपन्यास २४८
नूरजहां बेगम
४. जयरामदास गुप्त के उपन्यास २५०
नवाबी परिस्तान
५. ब्रह्मनन्दन सहाय के उपन्यास २५२
लालचीन
६. मिश्रबन्धुओ के उपन्यास २५७
वीरमणि

पंचम अध्याय

घटनात्मक उपन्यास २६१-३११
१. नवयुग से पूर्व की परम्परा २६१
२. तिलस्मी उपन्यास २६४
तिलस्म २६७
ऐयार २२८
'चन्द्रकान्ता' उपन्यास २८२
'चन्द्रकान्ता' की परम्परा २९०
३. जासूसी उपन्यास २९३
जासूस २९३
गोपालराम गहमरी के उपन्यास २९६
रामप्रसाद लाल के उपन्यास २९९
जयरामदास गुप्त के उपन्यास ३००
रामलाल वर्मा के उपन्यास ३००
समीक्षात्मक दृष्टि ३०१
४. अद्भुत उपन्यास ३०३
'मिस्ट्री' अथवा 'रहस्य' ३०३
रोमाचकारी घटना का रहस्य ३०५
अद्भुत प्रेम का रहस्य ३०६
भाग्य या व्यक्ति का रहस्य ३०७
गल्प के आनन्द का रहस्य ३०८
नवीन सभ्यता का रहस्य ३०९
राष्ट्रोद्धार के प्रयत्नो का रहस्य ३१०
उपसंहार ३१२-३१४
परिशिष्ट ३१५-३२४
सहायक पुस्तक-सूची

: १ :

उपन्यास या नॉवेल

'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति

'उपन्यास' शब्द का जन्म 'उप' उपसर्ग एवं 'न्यास' पद के योग से हुआ है। 'न्यास' में 'नि' उपसर्ग के साथ 'क्षेपण'[1] (अर्थात् 'रखना' या 'फेकना') अर्थ वाली 'असु' धातु का योग है, इसलिए 'न्यास' पद का व्यवहार 'रखना' या 'स्थापित करना' और 'छोडना' या 'त्यागना' दो[2] असमान अर्थों मे होता है। प्रथम अर्थ 'खुरन्यास', 'रेखान्यास', 'पद-न्यास', 'बीजन्यास' आदि में और द्वितीय अर्थ 'शरीरन्यास', 'मन्यास' आदि[3] शब्दो मे देखा जा सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति[4] मे 'न्यास' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों ही अर्थो मे पाया जाता है।

'न्यास' शब्द के कतिपय और अर्थ भी हैं। कोष[5] तथा काव्यग्रन्थो[6] में 'न्यास' का सामान्य अर्थ 'धरोहर' है, जो धर्मशास्त्र[7] मे गृहीत हुआ प्रतीत होता है। प्रातिशाख्य[8] मे स्वरविशेष को और काशिका-वृत्ति को 'न्यास' कहते हैं।

इसी 'न्यास' पद का 'उप' के साथ योग होने से 'उपन्यास' शब्द निष्पन्न होता

---

१ असु क्षेपणे।

२ मोनियर विलियम्स : ए सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

३. वही।

४ अग्निवर्ण न्यसेत् पिण्ड हस्तयोरुभयोरपि।१०५।
—व्यवहार अध्याय, सप्तम प्रकरण)
अथवाप्यभ्यसन् वेद न्यस्तकर्मा वने वसन्। २०४।
—(प्रायश्चित अध्याय, चतुर्थ प्रकरण)

५ पुमानुपनिधिर्न्यास। (अमरकोष, द्वितीय काण्ड)

६ सुखमन्यद् भवेत् सर्व, दु:ख न्यासस्य रक्षणम्।१०।—(स्वप्नवासवदत्तम्, प्रथम अंक)
सान्निमन् न्यासो नियोक्तव्य:।—(वही, षष्ठ अक)
अथ पद्मावत्या हस्ते किं न्यासकारणम्?। (वही वही)
असंशय न्यस्तमुपान्तरक्षता यदेव रोदधु रमणीभिरञ्जनम।३८।
—(किरातार्जुनीयम, अष्टम सर्ग)
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योन्यस्य वस्तुन:।१६६।
—(काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद)
यथान्यासमेवास्तु। (महाभाष्य, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद, प्रथम आह्निक)

७. याचितान्वाहितन्यासनिक्षेपादिष्वय विधि:।६७।
—(याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहार अध्याय, चतुर्थ प्रकरण)
स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम्। ८३। (मनुस्मृति, अष्टम अध्याय)

८. मोनियर विलियम्स : ए सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

है। 'नाट्यशास्त्रम्' में 'उपन्यास' नाम पताकास्थानक के चतुर्थ भेद और प्रतिमुखसन्धि के एक अंग[1] का है। 'दशरूपकम्' में भी प्रतिमुखसन्धि का द्वादश[2] अंग 'उपन्यास' है, धनिक ने इस स्थल की व्याख्या करते हुए 'उपन्यास' शब्द का अर्थ 'नियोजन'[3] माना है। 'महाभाष्य'[4] मे 'कथन', भामह के 'काव्यालकार'[5] में 'विन्यास' एवं 'स्थापना', 'काव्यादर्श', और 'साहित्यदर्पण'[6] में 'स्थापना' एव 'ज्ञापन' अर्थों मे 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'[7] में 'उपन्यस्त' शब्द 'विन्यस्त' के अर्थ में, और 'उपन्यास' शब्द 'सन्दर्भ' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'अमरुशतक'[8] और 'याज्ञवल्क्यस्मृति'[9] मे 'उपन्यास' का अर्थ 'कथन' है, 'किरातार्जुनीयम्'[10] में' उदाहरण'। अमरकोषकार ने 'उपन्यास' का सामान्य अर्थ 'वाङ्मुख[11] माना है, जिसकी व्याख्या 'वागारम्भ'[12] या 'कथन' मात्र स्वीकार की जाती है।

अस्तु, 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे उपलब्ध है; इनमें से मुख्य[13]

---

१. उपन्यासः संयुतश्च तच्चतुर्थमुदाहृतम्। ३५। (अध्याय १९)
उपपत्तिकृतायोऽर्थ उपन्यासस्तु स स्मृतः।७९। (वही)

२. 'उपन्यासस्तु सोपायम्' अथवा 'प्रसादनमुपन्यासः'।३५। (प्रथम प्रकाश)

३. प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदात् उपन्यास इति।

४ विषम उपन्यास। (प्रथम अध्याय)

५. नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।२२। (प्रथम परिच्छेद)
उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितात्ते।७१। (द्वितीय परिच्छेद)

६. नायिक्य च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्येण हेतुतयोपन्यस्तम्।
—(काव्यादर्श, दशम परिच्छेद)
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः।
—(साहित्य-दर्पण, दशम परिच्छेद, संदेह अलंकार का उदाहरण)

७. किमिदमुपन्यस्तम्? (पञ्चम अंक में, षोडशतम श्लोक के उपरान्त)
तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय किमपि ललितपदबन्धनम्।
—(तृतीय अंक मे प्रियम्वदा की उक्ति की संस्कृत छाया)
पावकः खलु वचनोपन्यासः।
—(तृतीय अंक में शकुन्तला की उक्ति की संस्कृत छाया)

८. निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः।
—(काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास में उदधृत)

९. भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः।१९।
—(व्यवहार अध्याय, द्वितीय प्रकरण)

१०. स तु तत्र विशेषदुर्लभं सदुपन्यस्यति कृत्यवर्म यः।३। (द्वितीय सर्ग)

११. उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्। (प्रथम काण्ड, शब्दादि वर्ग)

१२. वाचो मुखमिव मुखम्—उपक्रमः।

१३. मोनियर विलियम्स : ए सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।
मैकडानल : ए प्रैक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी।

हैं—'कथन', 'नियोजन', 'निर्देश', 'संकेत', 'घोषणा', 'परिसंवाद', तथा 'सुझाव'। 'उपन्यास' शब्द के 'कथन', 'नियोजन', तथा 'निर्देश' अर्थ ही प्रस्तुत प्रकरण में प्रासंगिक हैं। कोष के 'वाङ्मुख', 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' तथा 'अमरु-शतकम्' के 'वचनोपन्यास' में ये ही मुख्य प्रासंगिक अर्थ लक्षित होते हैं। सामान्यतः वचन या 'कथन' के 'नियोजन' का नाम 'उपन्यास' है। कालान्तर में 'घटनाओं का नियोजन' भी 'उपन्यास'[1] कहा जाने लगा। प्रत्यक्ष रूप से नाट्य के 'प्रसादन', काव्य के 'नियोजन', धर्मशास्त्र के 'कथन', तथा कोष के 'वाङ्मुख' का 'उपन्यास' के आधुनिक अर्थ मे कोई योग प्रतीत नही होता।

सस्कृत से 'उपन्यास' शब्द आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी आया। तमिल और कन्नड़ मे 'उपन्यास' का अर्थ 'व्याख्यान' है, जिसे 'कथन' से दूर नही कह सकते। बंगला मे 'उपन्यास' शब्द के मुख्य अर्थ दो है—एक नवीन और दूसरा प्राचीन। प्राचीन अर्थ में 'उपन्यास' का व्यवहार 'वाक्यारम्भ', 'उल्लेख', 'उपस्थापन' तथा 'दान' के लिए होता है[2]; इन अर्थों की संगति संस्कृत-परम्परा से बैठ जाती है। नवीन अर्थ में 'उपन्यास' कथा-साहित्य का रूप-विशेष है। यह नवीन अर्थ अग्रेजी के सम्पर्क का प्रासगिक फल है। 'चमत्कार-जनक सासारिक घटनामूलक पद्य-ग्रन्थ'[3] 'अस्वाभाविक कल्पित उपाख्यान, उपकथा, गल्प'[4] अथवा 'श्रोता वा पाठकदिगेर चित्तविनोदार्थ कल्पित वृत्तान्त'[5] 'उपन्यास' शब्द के रूढ़ नवीन अर्थ हैं। हिन्दी मे भी 'उपन्यास' के अर्थ दो संस्कारों के द्योतक हैं। संस्कृत की परम्परा से इसका अर्थ 'वाक्य का उपक्रम', 'बधान', 'बात की लपेट', या 'बात का लच्छा' है, और अग्रेजी के सम्पर्क से 'कल्पित आख्यायिका', 'कथा', या 'नावेल'[6]।

'उपन्यास' शब्द का नवीन अर्थ मे प्रयोग बंगला और हिन्दी मे एक ही परिस्थिति मे हुआ। बगला मे यह पहिले है और हिन्दी में कुछ पीछे, और कदाचित् हिन्दी में इस का आगमन बग ा के स्नेह से ही हुआ था, इसलिए इस दिशा मे हिन्दी बंगला की ऋणी है। सन् १७७४ मे कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना के उपरान्त अंग्रेजी भाषा के ज्ञानार्जन का महत्त्व बढने लगा। रामराममित्र[7] नामक ब्राह्मण ने सर्वप्रथम अंग्रेजी में दक्षता प्राप्त करके अनेक बाबुओं को अग्रेजी सिखाई। कालान्तर मे कालेज की स्थापना

१. किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों के मुखपृष्ठ पर 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' छपा हुआ है, जो प्राचीन और नवीन अर्थों के मिश्रण की सूचना देता है।
२. सरल बांग्ला अभिधान।
नूतन बांग्ला अभिधान।
३. बंगीय शब्दकोष, प्रथम भाग, द्वितीय खण्ड।
४. वही।
५. नूतन बांग्ला अभिधान।
६. हिन्दी शब्द सागर।
७. रामकमल सेन : 'ए डिक्शनरी इन इंग्लिश एण्ड बैंगाली'।

—('आलालेर घरेर दुलाल' की भमिका में पृष्ठ ७ पर उद्धृत)

हुई और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग[1] तक बंगाल पर पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति का रंग छा गया। नवयुवकों में अंग्रेजी कथा-साहित्य का प्रचार हुआ और 'रोमान्स' तथा 'मिस्ट्री नॉवेल्स' के प्रति उत्तरोत्तर रुचि बढने लगी। साहित्यिकों ने बंगला भाषा मे भी कलकत्ता के जीवन पर व्यंग्य लिखे। 'बाबूर उपाख्यान' (सन् १८२१), 'नवबाबूविलास' (सन् १८२५) तथा 'अलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५८) इन मे उल्लेख योग्य हैं, इन की दो विशेषताएं हैं—'कलिकाता भाषाय कलिकातास्थदिगेर श्लेषलेखा'[2] तथा 'व्यंग्य-विद्रूप औ हास्यरसपूर्ण सामाजिक चित्र'[3]। इनके साथ-साथ 'कलिकातार नुकोचूरि'[4] (कलकतिया समाज की लुका-छिपी) भी कथासाहित्य के लिए लोकप्रिय विषय बनी। 'रोमांस', 'मिस्ट्री', 'उपाख्यान' इन रचनाओं के आदि-नाम थे, इन्ही के सयोग से 'उपन्यास'[5] नाम का प्रादुर्भाव हुआ। 'उपकथा' एवं 'उपाख्यान' का उपसर्ग 'उप' और रोमान्स (प्राचीन बंगला-'रमन्यास') का प्रत्यय 'न्यास'[6] 'उपन्यास' शब्द के अप्रयत्नज उद्भव के कारण बने। उपर्युक्त परिस्थितियो से होता हुआ 'उपायास' शब्द स्थिर होकर अंग्रेजी के नॉवेल या 'रोमान्स' का समानान्तर बना; इसमें 'नावेल' से 'यथार्थ जीवन का चित्रण' और 'रोमान्स' से 'अतिरंजना' का समावेश हो गया था। 'उपन्यास' के साथ-साथ बगला में 'उपकथा', और 'नभेल' (नॉवेल) शब्द भी चलते रहे। भारत की आधुनिक भाषाओं में अंग्रेजी का 'नॉवेल' शब्द और उसका समानान्तर एक देशी शब्द कुछ काल तक साथ-साथ प्रचलित रहे हैं। गुजराती मे 'नवल कथा' और 'वार्त्ता', मराठी मे 'नवलिका' और 'कादम्बरी', तथा उर्दू मे 'नावल' और 'अफसाना' इस के प्रमाण है। अस्तु, 'उपन्यास' शब्द का नवीन अर्थ मे परिस्थितिजन्य प्रयोग 'नॉवेल' एवं 'रोमान्स' की समवेत अभिव्यक्ति के लिए बगला और हिन्दी मे स्थिर हो गया।

---

१. 'आलालेर घरेर दुलाल', भमिका, पृ० ६

२. वही, वही।

३. वही, पृ० ५

४. टेकचंद जूनियर की रचना-विशेष का नाम।

५. 'उपन्यास' शब्द का पुराना प्रयोग 'विविधार्थ सग्रह' (शक सवत् १७७३ तथा १७७५) में दो कहानियों के लिए है: ये है—'सरलेर उपन्यास' तथा 'पादुकाकार गणकेर उपन्यास'।
—डा० जयन्तकुमार दास गुप्त : ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि लाइफ एण्ड नॉवेल्स आफ बंकिमचन्द्र, पृ० ५)

६. भुवनचन्द्र की एक रचना का नाम 'ऐतिहासिक नवन्यास' (१८७५ ई०) है, जो 'नॉवेल' के 'नव' तथा 'रोमान्स' (रमन्यास) के 'न्यास' के योग से बना है।
—(डा० सुकुमार सेन : बगला साहित्येर इतिहास, द्वितीय खण्ड, पञ्चम परिच्छेद, पृ० १७४)

नॉवेल शब्द का इतिहास

'उपन्यास', 'नॉवेल' का ही प्रतिरूप है, इसलिए नॉवेल का पूर्व-इतिहास उपन्यास के स्वरूप-ज्ञान में सहायक होगा। 'नॉवेल' शब्द अंग्रेजी का है, इसका जन्म बहुत प्राचीन नहीं है। अंग्रेजी मे कथा-साहित्य के लिए सामान्यत: व्यवहार्य शब्द 'फिक्शन' है, जो अपने भीतर 'नॉवेल', 'गद्य-रोमान्स', तथा 'वर्णनात्मक काव्य', का समावेश कर लेता है। व्युत्पत्ति-परक अर्थ का अनुसरण करें[1] तो 'नाटक' भी 'फिक्शन' के अन्तर्गत ही आवेगा। 'फिक्शन' में यथार्थ और कल्पना का संयोग होता है, और इसी गुण से वह 'नॉवेल' एवं 'रोमान्स' में विकसित हो जाती है। क्लारा रीव[2] के अनुसार समकालीन यथार्थ जीवन का चित्र नॉवेल का व्यवच्छेदक धर्म है, इसके विपरीत रोमान्स में अतिरंजित कल्पना का वर्ण्य वस्तु और वर्णन शैली मे प्राधान्य रहता है।

'नॉवेल' शब्द का प्रयोग साहित्य में सन् १४६०[3] से मिलता है। कहीं यह विशेषण है, और कही संज्ञा। इसके मूल फ्रेंच भाषा के Novelle एव Novus इटली भाषा के Novas एवं, Novella तथा लैटिन भाषा के Novella एवं Novellus शब्द हैं। इटली में ऐसी पद्य-कथा को जिस में यथार्थ जीवन का छल-छद्म, राग-द्वेष प्रतिभासित हो, आचलिक कवि Novas कहने लगे—Novas का व्यवहार बहुवचन में[4] होता था; उसी के समान परन्तु आकार में छोटी गद्य-कथा को बौकैशियो तथा उनके सममामयिको ने Novella कहना प्रारम्भ कर दिया। दो शताब्दियों तक इटली के लेखक बहु रूपा मे, बौकैशियो (रचना 'डी केमरान' सन् १३४८) के अनुकरण पर, Novelle की पुस्तके लिखते रहे। ऐलिजाबेथ के शासन-काल मे ये रचनाएं अंग्रेजी में आ गईं,

---

१. It includes not only the novel and the prose romance but also narrative poetry; in strict etymological sense it includes drama. (12)
Ernest A. Baker · The History of the English Novel, Volume 1.

२. The Novel is a picture of real life and manners, and of the times in which it is written. The Romance, in lofty and elevated language, describes what never happend nor is likely to happen. (Quoted on p. XIV. Introduction in 'The Development of the English Novel : by Wilbur L. Cross)

३. दि शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी।

४. For a verse-narrative approaching closer to the manners of real life...its intrigues and zealousies—The Provencal poets had employed the word Novas (always plural); for a like narrative in prose, always short, Boccaccio and his contemporaries were using the cognate word Novella. (XIII) (Introduction). 'Wilbur L. Cross : The Development of the English Novel.)

और उनके साथ उन अनूदित रचनाओं या उनकी अनुकृत रचनाओं के लिए[1] 'नावेल' शब्द का व्यवहार भी प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार सन् १५६६ से[2] अंग्रेज़ी में नावेल शब्द का व्यवहार बोकैशियो की यथार्थ-परक गद्य-कथाओं के अनुकरण पर लिखी गई रचनाओं के लिए पाया जाता है।

सन् १६०० के बाद नावेल शब्द का व्यवहार अंग्रेज़ी में विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। १६१२ ई० के आसपास इसका रोमन-विधि में विशेष अर्थ था—विधि-संहिता[3] का पूरक नियम या विधान, विशेषतः सम्राट् जस्टीनियन द्वारा निर्मित। कुछ काल पश्चात् एक पर्याप्त आकार की गद्य-कथा[4]—जिसमें पात्र और उनके कार्य-व्यापार यथार्थ जीवन के प्रतिनिधि होकर संश्लिष्ट कथानक मे चित्रित हो—'नावेल' शब्द से अभिहित होने लगी। अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ में 'नावेल' शब्द का अर्थ 'नवीन' था, और बहुवचन मे यह शब्द 'समाचार' या 'समाचाराश' का पर्याय बन गया। 'नावेल्टी' शब्द इसी 'नावेल' से भाववाचक संज्ञा बना है। अस्तु, 'नावेल' उस गद्य-कथा को कह सकते है जिसमे घटनाओ की नवीन ढग से योजना हो, जिसमें दृष्टिकोण की नूतनता हो, और जो समकालीन जीवन का मनोरंजक शैली से वर्णन प्रस्तुत करती हो।

इस प्रकार 'नॉवेल' फिक्शन' का गोत्रज एवं 'रोमान्स' का अनुज है। सामान्य 'फिक्शन' दो प्रकार की थी—'रोमान्स' तथा 'नावेल'; और 'रोमान्स' १४वी शताब्दी मे सामान्य व्यवहार मे आने लगी थी। १८वी शताब्दी तक 'रोमान्स' तथा नावेल' दोनों का क्षेत्र स्वतत्र तथा स्पष्ट था; 'दि प्रोग्रेस आफ रोमान्स' (रचना काल सन् १७८५) में क्लारा रीव ने 'रोमान्स' और 'नावेल' का क्षेत्र स्पष्ट करते हुए साहित्यिको की मान्यता को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

'नॉवेल यथार्थ जीवन और रीति-व्यवहारपूर्ण उस युग का चित्र है जिसमें इसकी रचना होती है। रोमान्स अतिरजित एव आकर्षक भाषा मे उसका वर्णन करता है जो न कभी घटित हुआ और न जिसकी सभावना है'। १९वी शताब्दी मे, विशेषतः वाल्टर स्काट (रचना काल सन् १८१४ से १८३१ तक) के कथा-साहित्य मे 'रोमान्स' और

---

१. During the two centuries following Boccaccio the Italians continued to compose books of Novella, and in very great number. In the age of Elizabeth they came into English in Shoals, and with them the word 'Novel' as applicable to either the translation or an immitation.

(XIV) (Ibid)

२. Oxford English Dictionary, Volume II

३. The Shorter Oxford English Dictionary.

४. 'A fiction prose narrative of considerable length, in which characters and actions representative of real life are portrayed in a plot of more or less complexity'.

'नावेल' दोनों के गुणों का मिश्रण[१] हो गया। तब से साहित्य में 'नावेल' का क्षेत्र व्यापक मान लिया गया, और 'रोमान्स' का संकीर्ण; 'नावेल' कथा-साहित्य के लिए सामान्य नाम बन गया[२]। लगभग तीन शताब्दियो के इस इतिहास में 'नावेल' शब्द समय-समय पर प्रभाव-वैशिष्टय के कारण, विभिन्न अर्थों का द्योतन करते हुए, अन्त में पर्याप्त आकार की यथार्थमयी गद्य-कथा की सामान्य संज्ञा स्वीकार कर लिया गया है। आधुनिक भारतीय भाषाए 'नॉवेल' के संसर्ग में आकर इसी नाम-रूप से प्रभावित हुई है।

उपन्यास या नॉवेल की परिभाषा

'दि न्यू इंग्लिश डिक्शनरी' के अनुसार 'नावेल' गद्य मे लिखी हुई पर्याप्त आकार की उस कल्पित कथा को कहते है जिसमे यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करते हुए से पात्र और कार्य-व्यापार कथानक के अन्तर्गत चित्रित हो[३]। बाबू गुलाबराय ने उपन्यास का स्वरूप लगभग इन्ही शब्दों मे बतलाया है कि 'उपन्यास' कार्यकारण शृंखला में बधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदिगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियो से संबधित वास्तविक अथवा काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्‌घाटन किया जाता है'[४]। यथार्थ जीवन के अनुरूप पात्र और कार्य-व्यापारो का सृजन जीवन के सत्य की रसात्मक अनुभूति कराता है। उपन्यास मे जीवन का यथार्थ और सत्य रूप नही होता, प्रत्युत उस सत्य का यथार्थ चित्रण रहता है। इसलिए उपन्यास की कथा ऐतिहासिक अर्थ में सत्य नही होती प्रत्युत सत्यानुरूप[५] होती है, क्योकि साहित्य का सत्य तो वही है जो स्पष्ट और यथावत् रूप से ग्रहण किया जा सके।[६]

मध्ययुगीन इंग्लैंड मे समाज के दो वर्ग थे—विशिष्ट वर्ग (अपर क्लास), तथा सामान्य वर्ग (लोअर क्लास)[७]। दोनों वर्गो की गायको के मुख से मार्मिक कथाओ को सुनने मे रुचि थी। विशिष्ट वर्ग के जीवन का आदर्श जिन साहसपूर्ण गीत-कथाओं

---

१. विल्बर एल० क्रौस : दि डिवेलपमेन्ट आफ दि इंगलिश नावेल, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १४

२. वही।

३. "A fictitious prose tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot."

४. काव्य के रूप, पृ० १६७

५. "The name given in literature to a sustained story which is not historically true, but might very easily be so." (Encyclopaedia Britanica, Vol. 16)

६. 'Whatever is clearly and distinctly apprehended is true.' (Cartesian) Quoted in 'Some Principles of Fiction' by Robert Liddell on page 117.

७. दि न्यू पिक्चर्ड एनसाइक्लोपीडिया, वाल्यूम ७

में अंकित रहता था उनसे 'रोमान्स' का उदय हुआ। सामान्य वर्ग की प्रिय-कथाएं 'नावेल' का आधार बनीं। इनमें या तो विशिष्ट वर्ग (योद्धाओं और पादरियों) पर व्यंग्य-परिहास रहता था, या दुष्ट और दुर्जनों के साहसिक कार्य, अथवा सामान्य वर्ग का अपना जीवन। इटली की नावेल या 'नवीन कहानिया', जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, जब इंग्लैंड में आई तो सामान्य वर्ग की इन कथाओ को भी इटली का वही नाम (कुछ देशी रूप के साथ) प्राप्त हो गया। आधुनिक साहित्य मे नावेल पर्याप्त आकार की उस गुम्फित कथावस्तुमयी रचना को कहते है जिसमे जीवन का वास्तविक[१] चित्र हो और जिसके पात्र एवं घटनाएं यथार्थ या यथार्थ के अनुरूप हों।

अंग्रेजी में स्वरूप के साथ-साथ नावेल की परिभाषा भी विकसित होती रही है। फ्रांसिस बैकन के अनुसार नावेल 'कल्पित इतिहास'[२] है, तो फील्डिग के अनुसार 'मनोरजक गद्य महाकाव्य'[३]। क्लारा रीव ने नावेल की विशेषता 'स्वकीय युग के यथार्थ जीवन और रीति-व्यवहार का चित्र'[४] मानी है, तो बेकर ने 'कल्पित गद्य-कथा के द्वारा मानव-जीवन की व्याख्या'[५]। वारेन 'कथावस्तुमयी कल्पित कथा'[६] मात्र को नावेल कहते है, तो फॉर्स्टर कालक्रम से नियोजित घटनाओ के वर्णन'[७] को। उक्त तथा इनके समान अन्य परिभाषाओ में सर्वमान्य अंग को ही महत्व देकर हडसन कहते है कि 'नावेल', भले ही अन्य कुछ हो या न हो, कहानी तो अवश्य है[८]। फ्रांसीसी आलोचक भी 'विशेष आकार की गद्य-कथा'[९] कहकर नावेल का सामान्य लक्षण करते है।

अस्तु, व्याख्याताओ में मतभेद न होते हुए भी 'नावेल' की सर्वमान्य परिभाषा सम्भव नही हो सकी है, क्योकि जितनी रचनाए 'नावेल' नाम से प्रसिद्ध है वे सब एक

---

१. दि न्यू पिक्चर्ड एनसाइक्लोपीडिया, वाल्यूम ७
'The term novel is now usually applied to a narrative of considerable length with a more or less intricate plot, which pictures life as it is, dealing with characters and events that have been or might be real.

२. Feigned History.

३. A comic epic in Prose.

४. Picture of real life and manners, and of the times in which it is written.

५. The interpretation of human life by means of fictitious narrative in prose.

६ "A novel is a fictitious narrative which contains a plot."

७ It is a narrative of events arranged in their time sequence.

८ A novel whatever else it is or it is not, is at any rate a story.

९. 'Une fiction en prose d'une certaine etendue' M. Abel.

ही प्रकार की नही हैं। भविष्य में भी उनमें स्वरूप-भेद संभावित रहेगा क्योंकि उनमें 'स्वकीय युग' का विशेष महत्व है। यदि परिभाषा का आग्रह न रखकर नावेल की विशेषताओ का, स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलते हुए, यथाक्रम वर्णन किया जाए तो अधिक समीचीन होगा। नावेल की सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(क) **माध्यम** गद्य हो, पद्य नही।

(ख) **विषय-वस्तु** जीवन का चित्रण हो—पूर्णतः अथवा मुख्यत कल्पित कथा के रूप मे।

(ग) **शैली** वर्ण्य वस्तु को विश्वसनीय बनाने वाली हो, अथवा कम-से-कम जीवन के तथ्यो के साथ निश्चित एवं व्यवस्थित रूप से सम्बद्ध हो।

(घ) रचयिता के **दृष्टिकोण** की स्पष्टता।

गद्य मे रचित किसी भी बडी कथा को 'नॉवेल' कहा जा सकता है। इसके नियम स्वाधीन है। अनिवार्य केवल इतना है कि लेखक और पाठक के बीच मौन ज्ञापन हो सके। 'नॉवेल' श्रोतागण की अपेक्षा नही रखता, परन्तु रचना के साथ ही समकालीन रीति-नीति मे रुचिमान पाठको की इसे अपेक्षा[1] है 'नावेल' उस युग मे फलता-फूलता है जब जनता की बुद्धि और तर्कशक्ति अत्यन्त सक्रिय हो; कल्पना-शक्ति तन्द्रित रहे, परन्तु विवेचना बहुत सचेत एव जागरूक हो[2]। वस्तुत 'नावेल' अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा अधिक बुद्धिवादी रचना है। सत्यानुरूप चित्रण के द्वारा नावेल पाठक को समकालीन जीवन के प्रति अधिक सावधान कर देता है, इसीलिए विश्व के इतिहास मे 'नॉवेल' बडी-बडी क्रान्तियो (फ्रास की राज्यक्रान्ति सन् १८७८ ई०, तथा रूस की लाल-क्रान्ति सन् १९०५ ई०) का कारण बना है। सामान्य जनता को, गद्य-कथा के माध्यम से समकालीन जीवन के प्रति स्वकीय दृष्टिकोण प्रस्तुत कर, सचेत एव सक्रिय बना देने मे ही उपन्यास का कृतित्व है।

नॉवेल या उपन्यास मे रोमान्स के समान रञ्जित आदर्श, महाकाव्य के समान जीवन की सर्वाङ्गीणता, और नाटक के समान मनोरमता विद्यमान रहती है। इसकी सामग्री मुख्यत. वर्तमान से आती है, अतीत से नही। इसमें आधिपत्य बुद्धि-तत्व का है,

---

१. A novel, admittedly obeys few laws, but it must be a story written to be read in silence, the silent communion of author and reader. It demands no audience, but by the very law of its being it demands the existence of a large reading public, attuned to its contemporary conventions. (7)
S. Diana Neill : A Short History Of the English Novel.

२. ···When the intellect and the reason are most active; the imaginative faculties may be dormant, but the critical are very much awake. (22)
Ernest A. Baker : The history of the English Novel, Volume 1.

हृदय-तत्व का उतना नहीं। नॉवेल का लक्ष्य नैतिक शिक्षा नहीं, फिर भी लेखक के दृष्टि-कोण द्वारा यह पाठको के व्यक्तित्व का निर्माण करता है। नावेल की इन विशेषताओं का स्पष्ट विवेचन करने के लिए अन्य साहित्य-रूपो से इसका साम्य और वैषम्य जानना अति आवश्यक है।

उपन्यास और काव्य

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किये हैं। आधुनिक आलोचक उपन्यास-कहानी के सन्निवेश के कारण साहित्य को दृश्य, श्रव्य, और वाच्य या पाठ्य तीन[1] प्रकार का मानते है। उपन्यास-कहानी साहित्य का ऐसा भेद है जो काव्य नाम से प्रसिद्ध अन्य दो भेदो (दृश्य एव श्रव्य) से अपृथक् होते हुए भी पृथक् है। उपन्यास के अधिकारी-पाठक वे है जिनकी सामायिक जीवन में रुचि हो, और जो लेखक से तद्विषयक मौन संलाप[2] कर सके।

'उपन्यास' को 'काव्य' का ही एक रूप[3] कहा जा सकता है। कथा-साहित्य और चरित्र-प्रधान प्रबन्ध काव्य मे तो विशेष[4] निकटता है। कथा-साहित्य का उद्गम ही एपिक या प्रबन्ध काव्य के स्थान[5] पर होता है। जिस प्रकार काव्य कवि के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है, उसी प्रकार उपन्यास-कुसुम[6] रचयिता के व्यक्तित्व-विटप से उद्भूत, पुष्ट और सुरभित होता है। दोनो ही सामाजिक जीवन के चित्र हैं, जो कलाकार के व्यक्तित्व की छाप से अकित होकर पाठक के समक्ष अपनी विविधता मे उपस्थित हो जाते हैं। व्यक्तित्व का प्रभाव, कल्पना का प्रसार, कला की रमणीयता, नियति की गति, मानव की दुर्बलता, और चरित्र का उज्ज्वल रूप काव्य एवं उपन्यास दोनो मे समान रूप से अंकित किये जाते हैं। कवि के समान उपन्यासकार वर्णन का विशेष प्रेमी हो सकता है; ये वर्णन उसकी सवेदना से अनुप्राणित होकर उसके स्वकीय दृष्टिकोण के विशेष परिचायक होगे। उपन्यास और काव्य दोनो मे जीवन के प्रति दृष्टिकोण, दोनों की सवेदनाए, दोनो के मूल्याकन मात्रा मे भिन्न हो सकते है, स्वरूप मे नही; क्योकि दोनों मूर्त्त बिम्बो द्वारा जीवन का कलापूर्ण चित्रण[7] करते है।

---

१. गुलाबराय : काव्य के रूप।

२. एस० डिआना नील : ए शार्ट हिस्ट्री आफ दि इगलिश नावेल, प० ७

३. रिचर्ड चर्च : दि ग्रोथ आफ दि इंगलिश नावेल।
"—the novel is the child of poetry—" (126)

४. ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १२

५. एरनैस्ट ए० बेकर : दि हिस्ट्री आफ दि इंगलिश नावेल, वाल्यूम १, पृ० २३

६. रिचर्ड चर्च : दि ग्रोथ आफ दि इंगलिश नावेल।
"The novel like the poem, is after all a flower of their individual personality—" (126)

७. रिचर्ड चर्च : दि ग्रोथ आफ दि इंगलिश नावेल।
"Their approach to life, their sensuous apprehensions, their inter-

काव्य और उपन्यास का मुख्य अन्तर कल्पना की मात्रा पर निर्भर है। काव्य की कथावस्तु और पात्र वास्तविक न होकर सकेत-मात्र भी हो सकते हैं। 'ऐसी भी कविता हो सकती है जिसमें व्यक्ति या वस्तु का नितान्त अभाव हो और केवल एक भावना, उच्छ्वास अथवा एक प्राकृतिक दृश्य मात्र अंकित कर दिया जाए'[1]। उपन्यास की घटनाएं और पात्र इतने वायवीय नही हो सकते, उनका अस्तित्व वास्तविकता के ठोस धरातल पर ही टिकता है, किसी भाव-विशेष का सहारा लेकर उपन्यास अनन्त में अपनी कल्पना का प्रसार नही कर सकता। तथ्यसकलन के कारण कई बार तो उपन्यास काव्य की अपेक्षा इतिहास के अधिक समीप दिखाई पड़ने लगता है।

उपन्यास और काव्य दोनो में कल्पना का तो आश्रय अनिवार्य है। परन्तु 'कवि-कल्पना के प्रति हमारा विश्वास आस्तिक-कोटि का होता है, उपन्यास के प्रति हमारे विश्वास मे संशय प्रबल रहता है, उसे नास्तिकता का द्योतक कह सकते हैं[2]। काव्य को पढते हुए हमारा तादात्म्य कवि की अनुभूति के साथ हो जाता है, हमारा बौद्धिक अस्तित्व अशत तिरोहित हो जाता है, और हम कवि के साथ ही काल्पनिक आदर्श मे तैरने लगते हैं। कविता मे यदि ऐसी शक्ति न हो तो उससे पाठक और श्रोता को आनन्द नहीं मिल सकता। दूसरी ओर उपन्यास का प्रारम्भ ही उत्सुकता, कुतूहल और संशय में होता है। उपन्यास पढकर हम यह नही स्वीकार कर लेते कि ऐसा हो सकता है। प्रत्येक बार हमारा प्रश्न यही होता है कि ऐसा कैसे हुआ[3]। कवि-कल्पना अपनी माया से पाठक के मन को मुग्ध कर उसे अपनी सृष्टि का अनुचर बना लेती है; परन्तु उपन्यासकार की सृष्टि मे पाठक निरीक्षण और परीक्षण करता हुआ ही आगे बढ सकता है।

कल्पना-जीवी और कल्पना-व्यवसायी होने के कारण काव्य भविष्यद्रष्टा है, परन्तु उपन्यास अतीत और वर्तमान को अधिक स्वीकार करता है। उपन्यास सामयिक जीवन की उपेक्षा करके भविष्य की कल्पना नही करता, इसीलिए वह 'जमाने से आगे बढ़ने का भी दावा नही करता'। काव्य वर्तमान को भूल कर अपनी कला से पाठक को अभिभूत करके उसे अनागत के सुनहरे सपने दिखा सकता है। यह अन्तर भी आनुपातिक है। सच्चा कवि भी अपने युग और परिवेश से सर्वथा अछूता नही रह पाता, इसलिए वर्तमान की उपेक्षा उसके लिए सभव नही। दूसरी ओर क्रान्तिदर्शी उपन्यास लेखक भी अपनी रचनाओ मे भावी समाज का चित्र अंकित करते है।

वस्तुतः काव्य मे रचनात्मक प्रवृत्ति अधिक होती है; उपन्यास में विश्लेषणात्मक

---

pretations in terms of significant symbols, may be different in degree; but they are the same in kind That kind is the presentation of life through images. (3)

१. श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन।
२. वही।
३. वही।

अधिक[1]। कवि-जगत् मनःकल्पित होता है, उपन्यासकार का जगत् अनुभवजन्य। कवि देशकालातीत नित्य और शाश्वत भावो के गीत लिखता है, उपन्यासकार अपेक्षाकृत स्थूल, भौतिक और परिवर्तनशील युगीन समस्याओ एवं चित्रों में उलझा रहता है। कवि जीवनानुभूति से प्रेरित होकर अपने व्यक्तित्व का प्रसार करता है परन्तु उपन्यासकार के मार्ग मे जीवन के उपकरण बिखरे हुए है जो उसे आकृष्ट कर उसके मन में उत्सुकता जगाते हैं; और वह उनके अर्थ को समझने का प्रयत्न करता है[2]। संक्षेप में, काव्य अनुभूति का विषय है और उपन्यास अपेक्षाकृत बुद्धि का; काव्य जीवन की प्रेरणा का परिणाम है, और उपन्यास जीवन के निरीक्षण का फल। उपन्यास बौद्धिक और तार्किक युग मे अधिक समृद्ध होता है।

काव्य, साहित्य का रम्यतम रूप है। कवि की आत्मा अन्तर्मुखी होकर अभिव्यक्ति का प्रयत्न करती है और सगीत उस अभिव्यक्ति को माधुर्य प्रदान कर देता है। इस के विपरीत उपन्यास की कला वर्णन-प्रधान होती है, और उपन्यासकार की वृत्ति बहिर्मुखी। उपन्यास में न उतनी सक्षिप्तता हो सकती है, और न उतनी सघनता। कला की दृष्टि से, काव्य और उपन्यास दो भिन्न किनारो पर स्थित है; काव्य-कला सबमे जटिल है, तो उपन्यास-कला सबसे सरल। कम से कम एक उपन्यास तो सब कोई लिख सकता है।

काव्य जीवन की आलोचना है, परन्तु उस अर्थ मे नही जिस मे कि उपन्यास[3]। काव्य भाव-जगत् की सृष्टि कर उसकी तुलना मे प्रत्यक्ष जीवन और जगत् की आलोचना करता है; उपन्यास नवीन सृष्टि नही करता, प्रत्यक्ष जीवन का निरीक्षण और परीक्षण करके उस पर अपना निर्णय दे देता है। कवि की अपेक्षा उपन्यासकार जीवन से अधिक

---

१. एरनेस्ट ए० बेकर : दि हिस्ट्री आफ दि इंगलिश नावेल वाल्यूम १।
Poetry is creative, the novel analytical—the kingdom of poetry—is not this world but of the spirit; it is not of temporal but of timeless things—the world of enduring ideas or as the poet may conceive it of absolute realities. (18)

२. वही।
Life is behind the poet, impelling and sustaining his imagination. It is infront of the prose artist, the object of his attention, curiosity, reflection; when he portrays it his motive is to bring out the meaning that it has for him. (18)

३. वही।
Poetry is only indirectly a criticism of life, in that the ideal world it shapes forth gives a standard and criterion by which we can not help judging and measuring life. The novel, on the other hand, is a direct interpretation (18)

निकट है[1]; उसके अनुभव सार्वजनिक होते हैं, उसकी दृष्टि अधिक तटस्थ होती है, कवि के समान वैयक्तिक और अद्‌भुत सृष्टि करके वह पाठक के मन को प्रत्यक्ष जीवन से पराङ्‌मुख नही बनाता।

कहानी और उपन्यास की तुलना करते हुए आलोचक कहानी को खण्डकाव्य और उपन्यास को महाकाव्य के समकक्ष स्थान देते हैं। महाकाव्य के समान उपन्यास में भी जीवन का व्यापक चित्र रहता है। परन्तु महाकाव्य व्यापक जीवन से केवल उन उपकरणो को लेता है जो या तो असामान्य होते है या असामान्य[2] बनाये जा सकते है। इसके विपरीत उपन्यास छोटी तथा सामान्य वस्तुओ को ध्यान से देखता चलता है।

इस प्रकार काव्य और उपन्यास का अन्तर इतना स्थूल नही, जितना कि सामान्यत. दिखलाई पड़ता है। **काव्य पद्य में लिखा जाता है और उपन्यास गद्य मे, इस माध्यम-भेद के अतिरिक्त शेष अन्तर सामयिक है।** आलोचको का मत है कि प्रत्येक गद्य कृति मे भी यत्किञ्चित् अश काव्यत्व[3] का भी रहता है, अत: उपन्यास मे काव्य के लिए स्थान है ही; परन्तु काव्य-जगत् उपन्यास को अपने भीतर समाविष्ट नही कर पाता। काव्य-कला उपन्यास-कला से दुरूह है, उसके असामान्य, अतिरंजित और काल्पनिक जगत् मे उपन्यास के सामान्य, यथार्थ और वास्तविक को आदर नही मिलता। उपन्यासकार कवि भी होते है, परन्तु कवि उपन्यास के धरातल पर उतर कर ह्रासोन्मुख हो सकता है।

उपन्यास और नाटक

गद्य के माध्यम से उपाख्यान तीन रूपो मे लिखे जा सकते है—कथा-ग्रन्थ (उपन्यास), आख्यायिका (कहानी) और नाटक। 'नाटक' में केवल वे व्यक्ति ही कथा का वहन करते है जिनका उसमे समावेश है, 'आख्यायिका' मे लेखक स्वयं सब विषयो का वर्णन करता है और 'उपन्यास' इन दोनो के बीच की वस्तु है, इसके भीतर पात्र भी कथोपकथन द्वारा कथा को आगे चलाते है और लेखक स्वय भी कहानी कहता चलता

---

१. एरनेस्ट ए० बेकर : दि हिस्ट्री आफ दि इंगलिश नावेल, वाल्यूम १।
The only truth demanded of the creators of poetry is imaginative integrity, truth to themselve. A narrower cannon is imposed on the novelist, he is expected to be true to life—that he is to be always consistent with other men's experience of the world. (18)

२. श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा।
'महाकाव्ये जीवनेर वीरत्वपूर्ण बृहत् विकाशगुलिकेइ फुटाइया तोलेन प्रात्यहिक जीवनेर क्षुद्र काहिनीगुलिके, घरे घरे छोटखाट हासिकान्ना सुख-दुखगुलिके साहित्येर अयोग्य बलिया अवज्ञाभरे उपेक्षा करिया जान। अथच एइ अतिपरिचित क्षुद्र वस्तुगुलिके लक्ष्य औ ताहादेर अंतर्निहित रसटि उपभोग करिबार प्रवृत्तितेइ उपन्यासेर बीज निहित आछे'। (१२)

३. आल प्रोज़ हैज़ ए पोइटिक साइड।

है।[1] अस्तु, नाटक और उपन्यास के मूल तत्व बहुत-कुछ एक ही हैं परन्तु साहित्य के उन दोनों रूपों का अन्तर भी स्पष्ट है। नाटककार को रंगमंच की सुविधा का सदा ध्यान रखना पडता है इसलिए नाटक का आकार छोटा होता है, उसमें रचयिता स्वयं कुछ नही कहता, और समस्त दृश्यों को पूर्णत. मनोरंजक बनाने की ओर प्रयत्नशील रहता है। उपन्यास में ऐसा कोई बन्धन नही, इसलिए न समय का शासन होता है और न लेखक अपने को पात्रो से अलग रखता है। हडसन ने इसीलिए नाटक की कला को एक दुरूह संयुक्त कला माना है जिस में रंगमंच की कला का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि साहित्य-कला का; नाटक की कला कठोर नियमो में आबद्ध रहती है और उपन्यास की अपेक्षाकृत स्वच्छन्द या नियमों के बन्धन से मुक्त[2]। 'उपन्यास ने उन सब झमेलो को हटा दिया है जो नाटक में रगमंच के लिए अनिवार्य हैं'।

उपन्यास और नाटक के कथानक में भी अन्तर है। कारण यह कि नाटक में प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई जाती है भले ही वह भूत में घटित हुई हो[3]; इसके विपरीत उपन्यास वर्तमान जीवन की घटनाओ को भी पूर्व घटित कथा के रूप मे उपस्थित करता है। इसलिए जहा उपन्यास का कथानक पाठक के मन में अतिरजित भावनाए जगा सकता है वहा नाटक अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय तथा सामान्य बना रहता है। भूत की वस्तु का एक विशेष संदेश है परन्तु वर्तमान की कथावस्तु रंगीन न होने के कारण व्यावहारिक एव उपयोगी अधिक है।

उपन्यास का कलेवर बडा होता है और नाटक का छोटा। उपन्यास मे वर्णन के लिए बहुत अवकाश है परन्तु नाटक रगसकेतो[4] से ही वर्णन का काम चलाना है। नाटककार के पास समय का बन्धन है वह निश्चित अवधि मे जितना दिखा सका अपनी कला में उतना ही सफल रहेगा; परन्तु उपन्यासकार पर समय और आकार का यह प्रतिबन्ध नही है।[5]

नाटक का एक मुख्य अंग कथोपकथन है, परन्तु उपन्यास में यह वैकल्पिक होता है। पुराने उपन्यास की प्रवृत्ति तो कथामात्र ही थी, आजकल अवश्य कथोपकथन की भी योजना की जाने लगी है। नाटककार के पास कथा कहने का एक ही साधन है कि वह पात्रों के मुख से कथावस्तु की अभिव्यक्ति कराये परन्तु उपन्यासकार तीन साधनों

१. श्री चंद्रनाथ वसु : समालोचना साहित्य।
"नभेल वा कथा ग्रंथेर उद्देश्य (पृ० १)

२. The drama is the most rigorous form of literary art, prose fiction is the loosest
(An Introduction to the Study of Literature, 130).

३. गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ० २६।

४. विल्बर एल० क्रौस : दि डिवलेपमेंट आफ दि इंगलिश नावेल।
The dramatist can only suggest scenery, the novelist may hang his interior with the landscapes. (60)

५. गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ० १६३।

का उपयोग कर सकता है—कथा, आत्मकथा (डायरी) तथा पत्र[1]। उपन्यासों में प्रायः तीनों ही साधनों का उपयोग रहता है।

नाटककार सामाजिकों को अपने पात्रों का परिचय केवल दो शब्दों से ही नहीं कराता प्रत्युत पात्रों की वेश-भूषा, भाव-भंगी आदि भी पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन में सहायक होते है। उपन्यास मे पाठक को पात्रो के प्रत्यक्ष दर्शन का प्रसंग नही उठता वह उनके व्यक्तित्व का अनुमान या तो वर्णित परिस्थितियों से लगायेगा या पात्र अथवा लेखक के साक्षात् कथन से।

नाटक मे नाटककार सामाजिको के सामने स्वय उपस्थित होकर न तो कुछ कार्य कर सकता है और न उद्बुद्ध समस्याओ पर अपना मत ही दे सकता है—वह, अधिक से अधिक, किसी पात्र को अपना प्रतिनिधि बना कर उसके द्वारा अपने विचार प्रकट करेगा। उपन्यास मे लेखक को किसी छद्म या ब्याज से पाठको के सामने आने की आवश्यकता नही। आजकल तो अधिकतर उपन्यास प्रचारात्मक दृष्टिकोण से ही लिखे जाते है और अधिकतर लेखक नायक के व्यक्तित्व मे किसी न किसी मात्रा में स्वय उपस्थित होने का प्रयत्न करते है।

गेटे के अनुसार उपन्यास मे मुख्यतः भावनाए और घटनाएं ही प्रदर्शित की जाती है परन्तु नाटक मे पात्र और उनका क्रियाकलाप[2]। वस्तुतः उपन्यास में पाठक का ध्यान उन घटनाओ की ओर आकृष्ट होता है जो उपन्यास का संचालन करती हैं। उपन्यास का नायक इतना सक्रिय नही होता जितना की नाटक का—नाटक में हम नायक को प्रत्यक्ष क्रियाशील देखते है परन्तु उपन्यास मे हम को केवल उस की कार्यावली का विवरण ही मिलता है।

उपन्यास और नाटक की कलाओं में अन्तर है। नाटक की शक्ति प्रत्यक्षता है और उपन्यास का साधन वर्णन; नाटक नेत्रो के द्वारा हृदय को प्रभावित करता है और उपन्यास कल्पना के द्वारा मन को; नाटक की आकस्मिकता कार्य में तीव्रता लाती है और उपन्यास की आकस्मिकता प्रायः कल्पना का विस्तार करती है; नाटक में पाठक पात्रो के अतिरिक्त और कुछ नही जानता, उपन्यास मे लेखक का दृष्टिकोण अथवा कथा-वस्तु पात्रो के ऊपर अपना आवरण भी डाल सकते है। नाटक एक मिश्र कला है, उस पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध हैं, देश के भी और काल के भी, परन्तु उपन्यास केवल रोचकता की कसौटी पर ही कसा जाता है—यदि वह रोचक है तो उससे पाठक को और कोई अपेक्षा नही रहती।

आजकल उपन्यास और नाटक अपनी-अपनी सीमाओ का अतिक्रमण करके एक दूसरे के क्षेत्र मे प्रवेश करने लगे है, पहले वे एक दूसरे के पूरक थे। आज उपन्यास

---

१. डब्ल्यू० एच० हडसन : एन इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ लिटरेचर, पृ० १४३।

२ In the novel it is chiefly sentiments and events that are exhibited; in the drama, it is character and deeds

(Carlyle's Translation of Goethe)

कथोपकथनों से भरा रहता है और नाटक अभिनेय नही भी होता। नाटककार पात्रमुख से अपने विचारों का प्रचार करता है और विचारो के प्रतिनिधि पात्रों का निर्माण करके तर्क-वितर्क एवं वाद-विवाद द्वारा स्वमत की प्रतिष्ठा में प्रयत्नशील होता है। जीवन-सघर्ष ने उपन्यास में वर्णन को कम से कम स्थान देना निश्चय किया है ।

उपन्यास और नाटक में परस्पर सामीप्य की वृद्धि होने पर भी उन को पृथक् करने वाली दो कसौटियाँ स्पष्ट है—कथोपकथन की मात्रा और आकार। नाटक का कलेवर कथोपकथन-मात्र से निर्मित होता है, परन्तु उपन्यास में कथोपकथन की केवल योजना हो सकती है। नाटक का आकार प्रायः छोटा है, और उपन्यास का वर्णन बाहुल्य के कारण प्रायः विस्तृत।

'उपन्यास' और 'रोमान्स'

सस्कृत भाषा मे 'आख्यान', 'दृष्टान्त', 'उपाख्यान', 'कथा', तथा 'आख्यायिका' शब्दों का व्यवहार कथात्मक साहित्य के लिए सामान्यतः प्रचलित है। अग्रेजी मे 'फिक्शन', 'स्टोरी', 'रोमान्स' 'नॉवेल' आदि शब्द उसी प्रकार व्यवहार्य हैं। हिन्दी मे 'कहानी' शब्द अपेक्षाकृत पुराना और 'उपन्यास' शब्द नया है। कुत्रचित् सस्कृत से और अधिकाशतः अग्रेजी से (बगीय माध्यम से) प्रभावित होने पर भी आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कथात्मक साहित्य के लिए 'कहानी' और 'उपन्यास' दो शब्दो का ही व्यवहार होता है, इसलिए 'उपन्यास' का सपिण्डज केवल 'कहानी' को ही माना जा सकता है। बगला में जिन दिनो 'उपन्यास' शब्द का जन्म हुआ था, उस काल मे अग्रेजी का 'नॉवेल' शब्द 'रोमान्स' (रोमान्टिक नॉवेल) तथा 'नॉवेल' (रियलिस्टिक नॉवेल) दोनो के लिए प्रयुक्त होता था—ऊपर बताया जा चुका है कि 'उपन्यास' शब्द में मूल प्रेरणा 'रोमान्स' की ही है। अस्तु, हिन्दी मे अप्रयुक्त होते हुए भी 'रोमान्स' का 'उपन्यास' से अन्तर जान लेना आवश्यक है।

मध्यकालीन इगलैण्ड में समाज के दो वर्ग—विशिष्ट और सामान्य—अपने आदर्शों का चित्र जिन दो प्रकार के कथा-साहित्यो में देखा करते थे उनसे क्रमश 'रोमान्स' और 'नॉवेल' का विकास हुआ। परन्तु नॉवल शब्द अपने व्यापक अर्थ मे रोमास को भी अपने अन्तर्गत समाविष्ट कर लेता है। नॉवेल के इतिहास को तीन अवस्थाओ मे विभाजित किया जाता है—मध्यकालीन रोमास, यथार्थवादी उपन्यास, और आधुनिक उपन्यास[1]। आधुनिक नॉवेल (यथार्थवादी और वर्तमान) का जन्म स्काट के बाद से मानना चाहिए। अंग्रेजी उपन्यास-साहित्य के वस्तुत दो ही रूप है—रोमांस नॉवेल तथा वास्तवधर्मी (रियलिस्टिक) नॉवेल।

रोमांस मे कल्पना का अत्यधिक प्रयोग, जीवन का असामान्य चित्र और उत्तेजना की प्रवृत्ति ही मुख्य है, चरित्र-चित्रण और वास्तविकता का महत्त्व नही[2]। अग्रेजी-

---

१. विल्वर एल० क्रौस : दि डिवेलपमेंट आफ दि इंगलिश नावेल, पृ. २९७।

२. The romance gives greater freedom to the imagination, deals with more unusual aspects of life and is usually more concerned with

साहित्य के प्रारम्भिक दिनो में रोमांस शब्द, रोमास भाषा (फ्रेंच) से अनूदित, साहस तथा प्रेम की आदर्शात्मक गद्य-कथाओ के लिए प्रयुक्त होता था,[1] तदनन्तर अंग्रेजी की क्लासिकल कहानियों के लिए भी इसका व्यवहार होने लगा और तीसरी अवस्था वह है जब स्वतत्र काल्पनिक अतिरजनापूर्ण प्रेमकथाओ और साहसिक कथाओं को रोमास कहने लगे।

इसके विपरीत नॉवेल का प्राग साधारण जीवन की अभिव्यक्ति और विश्वसनीय परिस्थितियो का चित्रण है[2]। कल्पना के स्थान पर वास्तविकता, असामान्य के स्थान पर सामान्यता, और उत्तेजना के स्थान पर पात्रों का क्रमिक विकास, और कथा की स्वाभाविक गति नॉवेल को रोमास से अलग करते है। "उपन्यास यथार्थ जीवन का चित्र है जिसमें अपने समय और गतिविधि का अंकन होता है; रोमास अतिरजित भाषा में उन बातो का वर्णन करता है जो न कभी हुई और न जिनके होने की सम्भावना है। उपन्यास मे नित्यप्रति के जीवन का सहज सुलभ चित्रण रहता है ऐसे जीवन का जो हमारे मित्रो के या स्वय हमारे साथ घटित होता है; और प्रत्येक दृश्य एव प्रत्येक चित्र की विश्वसनीय स्वाभाविकता इस की पूर्ण सफलता की द्योतक है"[3]।

इस प्रकार जो गद्य-कथा वास्तविक जीवन का स्वाभाविक चित्रण करती है उसे नॉवेल, और जो अतिरजना द्वारा जीवन का अद्भुत असम्भव या अविश्वसनीय काल्पनिक रूप, (साहसिक या इतर गुणो द्वारा) प्रस्तुत करती है उसे रोमास कहा

१. श्री विल्बर एल० क्रास : दि डिवेलपमेंट आफ दि इङ्गलिश नॉवेल।
Then romance meant a highly idealised verse narrative of adventure or love translated from the French, that is from a romance language. (Introduction)

२. वही।
"....a novel must possess an ordinary structure, but that it shall be a careful study of some phase of real life, or of conduct in a situation which however impossible in itself, the imagination is willing to accept for the time being as possible. (26)

३. श्रीमती क्लारा रीव : दि प्रोग्रैस आफ रोमान्स।
"The novel is a picture of real life and manners, and of the times in which it is written. The romance, in lofty and elevated language describes what never happened nor is likely to happen. The novel gives a familiar relation of such things as pass every day before our eyes, such as may happen to our friends or to ourselves; and the perfection of it is to represent every scene in so easy and natural manners and to make them appear so probable as to deceive us..."

जायेगा[1]।

एबेल चेवेली[2] के अनुसार रोमांस और नॉवेल का अन्तर इन शब्दों में स्पष्ट किया जाता है कि 'रोमास शब्द का व्यवहार उन रचनाओं के लिए होता है जिनमें प्रेक्षण के ऊपर कल्पना का शासन पाया जाय; और उपन्यास के क्षेत्र में सर्व-सामान्य का, प्रतिदिन का जीवन रहता है।'

उपन्यास और कहानी

स्टोरी और नॉवेल दोनो का फिक्शन के अन्तर्गत समावेश होता है। प्रारम्भिक दिनों में कथा-तत्व-संयुक्त समस्त साहित्य को कथा या स्टोरी कहा जाता था; इसीलिए आलोचकों ने कथा-तत्व को उपन्यास का सबसे मुख्य तत्व माना है[3]। आजकल की कहानी उपन्यास की ही स्वतंत्र रूप से विकसित प्रशाखा है परन्तु उसका इतना स्वतंत्र विकास हो चुका है कि वह उपन्यास के कुल की होती हुई भी उससे भिन्न हो गई है। 'यह बालिका जो गल्प कहलाती है, उपन्यास की ही औरस जात है किन्तु कुछ समय से वह अपने पितृगृह में निवास नही करती, इसने[4] नवीन कुल की मर्यादा ग्रहण कर ली है'।

उपन्यास मे जीवन का पूरा चित्र होता है और कहानी मे जीवन के एक पक्ष की झाकी मात्र; परन्तु यह आकार का स्थूल भेद मात्र ही दोनो का व्यवच्छेदक नही माना जा सकता। उपन्यास और कहानी के रूप-रग भी अलग-अलग हो गए हैं। आकार मात्र के आधार पर छोटी गद्य कथा को कहानी और बडी गद्य कथा को उपन्यास नही कह सकते। कहानी को छोटा उपन्यास और उपन्यास को बडी कहानी कहना ऐसा ही हास्यापद है जैसा कि चौपाए होने की समानता के आधार पर मेंढक को छोटा बैल और

---

१. श्री विल्बर एल० क्रास : दि डिवेलपमेंट आफ दि इङ्गलिश नॉवेल।
That prose fiction which deals realistically with actual life is called in criticism and conversation prominently the novel. That prose fiction which deals with life in a false or fantastic manner, or represents it in the setting of strange, improbable or impossible adventures, or idealises the virtues and the vices of human nature is called romance. (Introduction)

२. वही, The one—"romance"—is applied to books in which imagination predominates over observation. The other—'novel' designates the more recent genre which has for its domain the life of every day and of all men.

३. "The fundamental aspect of the novel is its story-telling aspect". (Forester)
"A novel, whatever else it is or it is not, is at any rate a story." (Hudson)

४. साहित्यालोचन पृ० १७८

बैल को बडा मेंढक कहना'[1]। कहानी और उपन्यास एक ही वर्ग के हैं परन्तु कहानी उपन्यास से पूर्णतया स्वतंत्र हो चुकी है; यद्यपि उपन्यास मे कथा-तत्व रहता है फिर भी आज की कहानी उपन्यास से अलग एक स्वतंत्र कथा-रूप है।

कहानी जीवन की केवल एक स्थिति अथवा एक अंग का ही चित्रण करती है; उसमें जीवन की केवल एक झलक या झांकी ही रहती है। इसके विपरीत उपन्यास में जीवन का बहुमुखी और व्यापक चित्र पाया जाता है। कहानी-लेखक के सामने केवल एक ही लक्ष्य है और उसी के निर्वाह में उसकी सफलता निर्भर है, उपन्यासकार जिस जीवन को लेता है उसका व्यापक तथा विवरणपूर्ण चित्र उपस्थित करता है। यदि कहानी गद्यात्मक खंडकाव्य है तो उस सम्बन्ध से उपन्यास को गद्य का महाकाव्य कह सकते हैं।

कहानी की शैली का मुख्य गुण एकाग्रता है, उपन्यास की शैली का मुख्य गुण व्यापकता। एक मे कार्य-व्यापार की क्षिप्रता रहती है तो दूसरे में विवरणात्मकता। कहानी का शिल्प-विधान सयत होता है, उपन्यास का शिथिल। कहानी मे अन्य विषयों की आलोचना-प्रत्यालोचना के लिए स्थान नही होता परन्तु उपन्यास के विन्यास में देशकाल का विवेचनात्मक चित्रण रहता ही है।

'कहानी मे चरित्र-विकास के लिए अधिक गुजाइश नही रहती। उसमे गढेगढाए चरित्र की एक झलक दिखाई जाती है जिससे पूरे चरित्र का भी कुछ आभास मिल जाता है[2]।' इसके विपरीत उपन्यास की सफलता चरित्र-विकास पर निर्भर है। कहानी पृष्ठभूमि का चित्रण न करके अभीष्ट दृश्य या पात्र की झाकी मात्र दिखाती है परन्तु उपन्यास जिस तथ्य को हृदयंगम कराता है उसका विस्तृत वर्णन करके उसे सुबोधग्राह्य बना देता है। अतः यह कहना सर्वथा असगत है कि कहानी उपन्यास का संक्षिप्त सस्करण है। उपन्यास का संक्षेपण करने पर उसकी विविधता भी आ जायेगी जो कि कहानी के लिए असह्य है। कहानी उपन्यास के एक अंग का कलात्मक रूप है, उसकी एक-तथ्यता उसे वैविध्यपूर्ण उपन्यास से पृथक् कर देती है।

कहानी यदि भावना और कल्पना से जीवन को गति देती है तो उपन्यास उसे चिन्तन की चेतना से चलाता है। कहानी जीवन के एक भाव की उद्भावना है तो उपन्यास उसकी भाव-समष्टि की व्याख्या। दोनों का पथ एक है, ध्येय एक है, क्योकि दोनो जीवन ही के पथ पर चलते हैं; किन्तु कहानी जीवन की एक मनोरम झाकी है और उपन्यास जीवन की पूर्ण प्रतिष्ठा—उपन्यास मे जीवन की समस्त भावनाएं, विचार-धाराए और अवस्थाएं अपने स्वच्छन्द रूप मे चित्रित होती हैं।

उपन्यास और इतिहास

गल्प कहने और सुनने की प्रवृत्ति मनुष्य का एक स्वाभाविक धर्म है और इस

---

१. डा० गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ० २१६

२. डा० गलाबराय : काव्य के रूप, पृ० २१७

सर्वदेश-साधारण गल्प में ही उपन्यास का बीज निहित था। कथा की इस उत्सुकता से ही इतिहास का जन्म होता है, अतएव पाठक की दृष्टि से उपन्यास और इतिहास एक दूसरे के बहुत समीप हैं—दोनो ही उत्सुकता को शान्त करते है। इतना ही नहीं पूर्णतः कल्पित उपन्यास की अपेक्षा इतिहास-मिश्रित उपन्यास अधिक आकर्षक होता है। कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दो मे 'उपन्यास में इतिहास के मिल जाने से एक विशेष रस का संचार होता जाता है'। अस्तु इतिहास उपन्यास का सजातीय ही नहीं, उसका अनन्य सहायक भी है। रोमानी उपन्यास मे इतिहास का बहुत मिश्रण रहा करता था, आज भी इतिहास की कान्ति उपन्यास को अधिक सजीव बना देती है और उपन्यासकला से इतिहास अधिक ग्राह्य बन जाता है।

उपन्यास और इतिहास मे पर्याप्त भेद भी है। इसका मुख्य आधार है उपन्यास की कला—इतिहास में उस सौन्दर्य-सृष्टि की आवश्यकता नही होती। कलाकार की दृष्टि वैज्ञानिक की दृष्टि से भिन्न है; वैज्ञानिक (इतिहासकार) मानो कैमरा[1] के द्वारा अपनी उत्सुकता को शान्त करने के लिए समाज पर दृष्टि-निक्षेप करता है, उस दृष्टि में अपना रंग नहीं होता; परन्तु कलाकार अपनी भावना का आरोप करके वस्तुओ को अपने रंग से प्रस्तुत करता है—इस सौन्दर्य-सृष्टि के हेतु उसे सभी प्रकार की काट-छांट का अधिकार है। इतिहासकार का सत्य उपन्यासकार के सत्य से भिन्न है। इतिहास का शुष्क सत्य उपन्यास का सरस सत्य बन जाता है—कलाकार भूत या वर्तमान की नीरस घटनाओं में से सरस स्थलो को चुनकर उन पर अपनी कथावस्तु को आश्रित करता है। आचार्यों ने इसीलिए यह सम्मति दी है कि इतिहास में जो वस्तु अनुचित हो उसे या तो छोड देना चाहिए या बदल देना चाहिए[2]। स्टीवेन्सेन के मत मे उपन्यास जीवन की ठीक-ठीक प्रतिलिपि नही है प्रत्युत जीवन के किसी पक्ष का सहज चित्र है जिसकी सफलता इस सहजता पर निर्भर है[3]। वास्तव में उपन्यास इतिहास के समान निरपेक्ष और वस्तुपरक नही रह सकता, उसमे लेखक का व्यक्तित्व न केवल सौन्दर्य-चयन मे विशेष सक्रिय रहता है प्रत्युत उस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर भी लेखक के

---

१. As art creations are emotinal representations of facts and ideas, they can never be like the product of a photographic camera Our scientific mind is unbiassed, like the camera eye, it accepts facts with a cold blooded curiosity that has no preference, the artistic mind is strongly biased. (The Meaning of Art)

२. "यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥"

३. The novel "is not a transcript of life, to be judged by its exactitude; but a simplification of some side or point of life, to stand or fall by its significant simplicity.

(Memoirs and Portraits, page 297)

व्यक्तित्व की छाप रहती है। इस दृष्टि से उपन्यास इतिहास और काव्य के बीच की वस्तु है।

इतिहास व्यक्तियो के व्याज से सम्पूर्ण समाज की कथा कहता चलता है, उस व्यक्तित्व के चित्रण का कोई अवकाश नही आता परन्तु उपन्यासकार के लिए व्यक्ति मुख्य है और समाज गौण। उपन्यास मे अतीत की घटनाओ का चित्रण व्यक्तित्व के विकास के अध्ययन के निमित्त ही होता है इसलिए उपन्यास मे उस काल की बहुत सी राजनीतिक घटनाए छोडी भी जा सकती है। दूसरी ओर इतिहास क्योकि समाज की स्थूल परिस्थतियो का चित्रण है इसलिये व्यक्तियो के मन पर प्रभाव डालने वाली बहुत सूक्ष्म रेखाए उसके चित्रपट पर अंकित नही भी हो सकती। इतिहास समष्टि का चित्र है तो उपन्यास सूक्ष्म भावनाओ का अकन, इतिहास अव्यवस्थित सकलन है तो उपन्यास एक क्रमबद्ध योजना।

उपन्यास अपनी सामग्री इतिहास से लेता है, परन्तु लिखित इतिहास का सर्वांश उसे स्वीकार्य नही, अतीत के उपकरणो मे से वह केवल उन कणो को चुन लेता है जो विस्तृत कडियो के सयोजन तथा उपलब्ध तथ्यो की व्यवस्था मे सहायक होते है। अतः इतिहास से उपेक्षित बहुत से सत्य उपन्यास मे आकलित हो जाते है, साथ ही इतिहास के कुछ सघन स्थलो का उपन्यास मे परित्याग हो जाता है। इसीलिए आलोचको का मत है कि 'इतिहासकार घटनाओ का वर्णन करता है, उपन्यासकार उनका निर्माण करता है। वह संसार के रहस्य और उनके सगीत मे रुचि रखकर जन्म मरण और विवाह जैसी सामान्य घटनाओ का लेखाजोखा करने वालो से बहुत ऊचा उठ जाता है'[1]।

इतिहास और उपन्यास के पात्रो मे भी भेद है। इतिहास में पात्र अपने विकसित रूप मे पाठक के समक्ष आते है, इसके विपरीत उपन्यास मे सभी प्रमुख पात्र विकासोन्मुख रूप मे दृष्टिगोचर होते है। फलत उपन्यास के पात्र अधिक पूर्ण, अधिक निश्चित, अधिक वास्तविक और अधिक समीप दिखाई पडते है[2]। इसीलिए उपन्यास मे सजीवता होती है और इतिहास मे शुष्कता। उपन्यास जीवन का चित्र है और इतिहास तथ्यो का। उपन्यास के पात्र सक्रिय होने के कारण पाठक की प्रेरणा के सम्बल बनते हैं, इतिहास के पात्र केवल भय और विस्मय के ही आधार बने रहते हैं।

---

१. ...The novelist is more, and of a nobler heredity, than the mere recorder of birth, deaths and marriages, that he is concerned with the mystery of worlds and their music, and with events as representing something larger than one social comprehension can envisage. (Church p. 2)

२. People in a novel can be understood completely by the reader, if the novelist wishes: their inner as well as the outer life can be exposed And this is why they often seem more definite than characters in History. (Forster, p. 62)

उपन्यास और इतिहास में गति का भी भेद है। घटनाओं और पात्रों के उत्थान-पतन में बाह्य कारण ही शक्तिशाली बनकर अपना चमत्कार दिखाते है[1], भाग्य का खेल और असम्भावित आकस्मिकता इतिहास के नियमन का प्राण[2] है। उपन्यास में कल्पना के आश्रय द्वारा पात्रों की स्वाभाविक गति अभिव्यंजित होती है, उनकी गति पर पाठक को सन्तोष और विश्वास होता चलता है। इसीलिए उपन्यास जितना स्वाभाविक है उतना इतिहास नही।

उपन्यास के तत्व

उपन्यास का सब से महत्वपूर्ण अंग 'कथा' है, जिसके अन्तराल में स्थित 'पात्र' अपने क्रियाकलाप द्वारा घटनाओं की सृष्टि करते हैं; और कलाकार स्वकीय दृष्टि-कोण से उनका 'शैली' विशेष द्वारा चित्रण करता है। इस प्रकार उपन्यास के मुख्य तत्व 'कथा', और 'शैली' ही हैं। परन्तु आलोचको ने 'नॉवेल' के ये तत्व माने हैं; 'कथावस्तु',' चरित्रचित्रण', 'कथोपकथन' 'देशकाल' (वातावरण), 'शैली' तथा उद्देश्य'। भारतीय परम्परा के अनुसार रस काव्य-मात्र की आत्मा है, हिन्दी के कुछ[3] आलोचक उसको अधिक व्यापक क्षेत्र से सम्बद्ध कर साहित्य-मात्र (उपन्यास सहित) का प्राण मान लेते हैं; उनके अनुसार उपन्यास के तत्व 'सात' हैं—छह नॉवेल वाले और सातवां रस।

कथावस्तु

यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि कथावस्तु उपन्यास का प्रधान तत्व है। कथा को हम उपन्यास का प्राण कह सकते हैं। डबल्यू० एच० हडसन[4] ने इसीलिए कहा है कि उपन्यास और कुछ भी हो या न हो, एक कथा अवश्य है। परन्तु स्मरण रहे कि कथा-मात्र उपन्यास नहीं है। उपन्यास का अग 'कथा' है, उसका मुख्य तत्व 'कथा-वस्तु' है।

'कथा' और 'कथावस्तु' मे अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। 'कथावस्तु' कलाकलित 'कथा' को कहते हैं। जीवन के व्यापक क्षेत्र, सृष्टि के समग्र विस्तार, और भाव-जगत् के अखिल सौन्दर्य में से आवश्यक का संग्रह और अनावश्यक का त्याग करता

---

१. History with its emphasis on external causes, is dominated by the notion of fatality, whereas there is no fatality in the novel; there every thing is founded on human nature.. . (Forster, p. 66)

२. What is fictitious in a novel is not so much the story as the method by which thought develops into action, a method which never occurs in daily life. (Ibid p. 67)

३. डॉ० गुलाबराय : काव्य के रूप

४. दि स्टडी आफ प्रोज फ़िक्शन (एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ लिट्रेचर)

हुआ उपन्यासकार जिस कथानक का निर्माण करता है, वही उपन्यास की 'कथावस्तु' है। कथावस्तु से अभिप्राय घटनाओं के उस कलात्मक क्रमबन्धन से है जिसमें एक विशेष प्रकार का नियोजन अभिलक्षित हो। एडविन म्यूर[1] अनुसार कथा के अन्तर्गत घटनाओं की शृङ्खला और उनके नियोजन-सिद्धान्त का नाम कथावस्तु है। ई० एम० फोर्स्टर[2] के मत मे संयोगाश्रित घटनावली का शृङ्खलाबद्ध नियोजन कथावस्तु कहलाता है।

कथा का प्राण उत्सुकता है और कथावस्तु का जिज्ञासा। कथा में तल्लीन पाठक 'ततःकिम्' पर अपना मन केन्द्रित करता है, परन्तु कथावस्तु में उसका ध्यान 'कथमित्र' पर[3] रहता है। ऐसी कथा कला की दृष्टि से सफल न मानी जाएगी जो पाठक की उत्सुकता-मात्र को शान्त करती रहे, उससे पाठक के मन मे यह प्रश्न उठना चाहिए कि 'ऐसा क्यों हुआ' और 'क्या ऐसा ही होता है, इससे भिन्न नही हो सकता'। मध्ययुगीन कहानी मे कथा-तत्व मुख्य था, जिससे पाठक का कुतूहल शान्त होता था, परन्तु आज का उपन्यास बुद्धि-सवलित कथावस्तु की सुशृंखल नियोजना द्वारा जिज्ञासा की तृप्ति करता है।

उत्सुकता और जिज्ञासा दोनो कथा को रोचक बनाते हैं; उत्सुकता-प्रधान मध्य-युगीन कहानिया और जिज्ञासापरक आधुनिक उपन्यास दोनो की कसौटी रोचकता ही है। एक आलोचक[4] ने रोचकता को उपन्यास-कला की प्रमुख विशेषता माना है। स्वभाव से ही मानव का हृदय अपने समान ही दूसरे स्त्री-पुरुषों, उनकी भावना-आकाक्षाओं, उनके सुख-दुःख, अर्थात् उनके सासारिक जीवन के प्रति सदाशय होता है; उनके उत्थान-पतन मे अपने उत्थान-पतन और उनके क्रियाकलाप में अपने क्रियाकलाप की छाया देखने के लिए ही तो पाठक कथा-साहित्य का आश्रय लेता है।

काव्य और उपन्यास का भेद करते हुए काव्य को कल्पना का और उपन्यास को वास्तविक जीवन का विषय माना जाता है। परन्तु यह मत एकपक्षीय है। अन्य कला-कृतियो के समान कल्पना-सम्भूत कवित्व या सौन्दर्य उपन्यास का भी अनिवार्य उपकरण है। उपन्याम 'मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा'[5] है; उपन्यास

---

१. The chain of events in a story and the principle which knits it together.

२. A plot is narrative of events, the emphasis falling on causality. (116) (Aspects of the Novel)

३. In a story we say "and then", and in a plot we ask "why". (वही)

४. The only condition James was prepared to attach to the composition of the novel was that it should be interesting. (A Short History of English Novel).

५. डा० श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन।

जीवन नहीं है, प्रत्युत जीवन का सारस्वत प्रकाश है।" (वास्तविक जीवन की कोई भी मनोरम घटना इसीलिए रोचक लगती है कि हम उसके घटित होने से अवगत रहते हैं; कथा की घटना के विषय मे हम जानते हैं कि वह घटित नहीं हुई, फिर भी वह विश्वासोत्पादक चित्रण के कारण हमको रोचक लगती है[1]।" यदि उपन्यास की कथावस्तु पाठक के मन में जीवन की स्वाभाविक गतिविधि और विकास के प्रति विश्वास जगा सकी तो वह कला की दृष्टि से सफल मानी जाएगी।)

(कथावस्तु में जीवन की अनुरूपता का प्रयत्न हमको यथार्थवाद के निकट ले आता है। कला मे यथाथ चित्रण भी होता है और अनुकरणीय आदर्श भी)। नानारूपात्मक जीवन में से कला सुन्दर का चयन करती है, असुन्दर उपेक्षित हो जाता है। जीवन और सुरुचि साथ-साथ चलते हैं, उपन्यास में जितनी रक्षा सुरुचि की होगी उतना ही वह जीवन का पोषक होगा। अतः वास्तविकता के नाम पर अप्रियथार्थ कुत्सित का चित्रण कथावस्तु को क्षति पहुँचाता है। उपन्यास की यथार्थता घटनाओं के यथार्थ में नही, प्रत्युत शैली की यथार्थता पर निर्भर है। पाठक के मन में यह धारणा दृढ करना कि वे गल्प नही सुन रहे,[2] वास्तविक जीवन का अनुभव कर रहे है, उपन्यास का यथार्थ है। कोई भी उपन्यास उस समय तक महान् नही हो सकता जब तक उसका लक्ष्य महान् न हो।[3]

वास्तविक या यथार्थ से अनुप्राणित होते हुए भी उपन्यास और इतिहास मे अन्तर है। ऐतिहासिक उपन्यास इसी कारण इतिहास नही है, दोनो का अन्तर बहुत मात्रा में कथावस्तुगत है। इतिहास घटनाओं का अक्षरश वर्णन करता है, उपन्यास घटना के घटाटोप मे छिपे हुए सत्य के शुभ्रकण को पहिचान कर उनके आलोक मे कथावस्तु की सृष्टि करता है। कला सत्य का नाम नही, सत्य के सुन्दर अनुकरण का नाम है। उपन्यास मे सत्य अन्विष्ट नही, अन्वेष्य है। इतिहास सत्य को जान कर उसका वर्णन करता है, उपन्यास सत्य को जानने के लिए घटनाओं की योजना करता है। इतिहास घटना-जाल पर 'इदम्' की छाप लगा देता है, उपन्यास घटनाओं को 'इत्थम्' से अलकृत करता हुआ 'कथावस्तु' का निर्माण करता है। सत्य के चार रूप संभूत, सम्भव, असम्भव, तथा संभाव्य है। 'सम्भूत' सत्य इतिहास का और 'सम्भाव्य'

---

१. रौबर्ट लिडेल : ए ट्रीटाइज ऑन दि नॉवेल
A marvellous event is interesting in real life simply beeause we know that it happened. In a fiction we know that it did not happen and therefore it is interesting only as far as it is explained. (108)

२. कथा-साहित्ये रवीन्द्रनाथ, पृ०८६

३. In the long run the quality of a work of fiction depends on the quality of thought of the times in which it is written. (40)
P. H. Newby : The Novel

सत्य काव्य का विषय है, प्रथम घटित सत्य और द्वितीय मे काल्पनिक-रमणीय सत्य समाविष्ट है। उपन्यास सम्भव' और 'असम्भव' सत्य को अपना क्षेत्र बनाता है; 'सम्भव सत्य' घटित सत्य के अनुरूप होता है। उपर्युक्त तीनो सत्यो के अतिरिक्त जिस सत्य का वर्णन हो वह 'असम्भव सत्य' है, आजकल का उपन्यास 'सम्भव सत्य' को स्थान देता है; तिलिस्मी उपन्यास, रोमान्स आदि 'असभव सत्य' के उदाहरण हैं।

उपन्यास की कथावस्तु स्वाभाविक होनी चाहिए अर्थात् उसका विकास स्वय-सिद्ध हो, प्रयत्नसाध्य नही। घटनाओ का नियोजन ऐसा हो कि उत्तरोत्तर घटनाएँ पूर्व-घटनाओं का स्वाभाविक परिणाम दिखाई पड़े। यदि भावी घटनाएँ भूत और वर्तमान घटनाओ से स्वतः आविर्भूत[1] न होगी तो वे ऊपर से थोपी हुई लगेगी और पाठक उन पर विश्वास न कर सकेगा। कथावस्तु मे स्वाभाविकता का निर्वाह उपन्यासकार की जीवन के प्रति सचाई का द्योतक है।

सफल कथावस्तु मे जीवन का सम्यक् निरीक्षण होता है। यह कहा जा चुका है कि स्वकीय दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए उपन्यासकार अनन्त जगत् मे से सामग्री का चयन करता हुआ उसके वर्णन द्वारा पाठक के मन मे सौन्दर्य और सुरुचि को स्थिर करता है। साहित्य के दूसरे रूपो की अपेक्षा उपन्यास मे इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योकि उपन्यास मे अप्रासगिक के लिए पर्याप्त अवकाश है। सफल उपन्यास-कार कथावस्तु मे महत्व के अनुसार घटनाओ का विस्तार और स्वाभाविकता का ध्यान रख कर उनका क्रम-नियोजन करते है। व्यवस्था एव अन्विति कथा-वस्तु के मुख्य गुण है; घटनाओ का उपयोगी चयन, सहज विकास, स्वाभाविक गति, अकृत्रिम क्रम-बन्धन, और निश्चेष्ट परिणति कथावस्तु को सफल बनाते है। अपनी विशेष प्रवृत्ति के अनुसार उपन्यासकार एक ही घटनावली मे से विशेष कथावस्तु का निर्माण कर लेता है और पाठक के मन पर विशेष प्रभाव अकित कर पाता है।

कथावस्तु के विभिन्न मार्गों से आने के कारण उपन्यास ऐतिहासिक, सामाजिक, काल्पनिक (घटनात्मक) आदि वर्गों मे विभक्त किये जाते हैं। आजकल शास्त्रविशेष के ज्ञान को सर्वसुलभ बनाने के लिए वैज्ञानिक, सामरिक, राजनीतिक आदि प्रकार के उपन्यास भी लिखे जाते हैं। कथावस्तु का तीन-चौथाई जीवन है, इसकी सफलता उपन्यास की सफलता है। स्वाभाविकता और रोचकता उपन्यास-शरीर की रक्तवाहिनी शिराएँ है; जीवन की माप भी इन्ही से होती है। कथावस्तु पाठक के मन मे जितना विश्वास उत्पन्न कर सकेगी, उतनी ही वह सफल मानी जायेगी।

चरित्र-चित्रण

पाश्चात्य दृष्टिकोण से चरित्रचित्रण ही उपन्यास का प्राण है। समाज में व्यक्ति-चेतना का उन्मेष होने से साहित्य में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्व मिलने लगा और

१. दि प्लाट शुड रिज़ल्ट फ्राम ग्रोथ, नाट मैनीपुलेशन—(८५) रौबर्ट लिडेल : ए ट्रीटाइज आन दि नावेल।

पश्चिम के आलोचक व्यक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य का प्रधान अंग मानने लगे। भारतीय आलोचक काव्य मे जो स्थान रस को देता है, उपन्यास मे वही स्थान पाश्चात्य आलोचक चरित्र-चित्रण को देता है, क्योकि उपन्यास व्यक्ति-चेतना-प्रधान समाज का साहित्य-रूप है। अस्तु, आदि उपन्यासकार अपनी दृष्टि मानव-चरित्र के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर केन्द्रित करता है तो वह इस कर्म के लिए पाठक के समक्ष उत्तरदायी है; यदि उसकी रचना में रोचकता के कार्य काल्पनिक साहसिक कार्य मात्र हैं तो हम उसके औपन्यासिक कर्तव्य-कर्म को सन्देह की दृष्टि से देखने के लिए स्वतन्त्र हैं।[1] उपन्यास 'मानव चरित्र का चित्र मात्र' है; 'मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है'।[2]

चरित्रचित्रण की प्रथम विशेषता सजीव पात्रोकी सृष्टि है। जो कलाकार विचित्र एवं अद्‌भुत नर-नारियो का निर्माण करता है उसकी कथावस्तु बोझिल बन जाती है। परन्तु जिस उपन्यास में सर्वसामान्य के अनुभव मे जाने वाले सजीव प्राणी आद्यन्त बिखरे रहते हैं उसका शेष विवरण तो काल के करो से पोछ दिया जाता है केवल वे अमर पात्र पाठक के हृदय-पटल पर अकित रह जाते है। अस्तु पात्र अमर तभी हो सकते हैं जब उनकी शिराओं मे वही रक्त हो जिससे हमारी हृद्‌गति संचालित होती है। चरित्र-चित्रण की कुशलता इस व्यापार में निहित है कि पाठक पात्रो को कलाकार का निर्माण न समझ कर अपनी जानी-पहचानी सृष्टि समझे उनके प्रत्येक अनावरण मे पाठक का मन सन्तुष्ट होता चले।

उपन्यासकार अपने पात्रो का भावन करता है; कथावस्तु के विकास के साथ-साथ पात्र अपना स्वरूप शनैः शनैः अनावृत करते है—मानो कलाकार ने पात्रो को कथा की परिखा के बीच स्वतन्त्र छोड दिया हो, और वे अपने क्रिया-कलाप द्वारा घटनावली की सृष्टि स्वयं कर रहे हो। थैकरे ने इसीलिए कहा है कि वे पात्रो के शासक नहीं, प्रत्युत उनसे शासित[3] हैं। पात्रों की सजीवता इसी गुण में निहित है, क्योकि ऐसे पात्र बाह्य बन्धनों से शासित न हो कर आभ्यन्तर गुणो से परिचालित होते है। आलोचको का मत है कि लेखक को अपने नियमन मे रखने वाला पात्र स्वय पाठक का आज्ञाकारी

---

१. एस. स्टीफन स्मिथ : दि क्रैफ्ट आफ दि क्रिटिक

"If a novel throws emphasis upon anything except human character in action, it is summoned before the bar. If the centre of interest is in external adventure...the author is suspected of mistaking the real business of the novelist. (121)

२. प्रेमचंद : कुछ विचार

३. "I do not control my characters, I am in their hands and they take me where they please."

है[1]; यदि उसने पाठक के इच्छानुकूल आचरण न किया हो तो उसके प्रति पाठक की सहानुभूति नही हो सकती —भय या विस्मय से भले ही पाठक उसे घूरता रहे। 'उपन्यासकार की सबसे बडी विभूति ऐसे चरित्रो की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।"

पात्रो का स्वरूप अपने पाठकों के समक्ष उपन्यासकार दो प्रकार से उपस्थित कर सकता है। पाठक के समक्ष उपस्थित होकर पात्रो के गुण-दोष का बाहर से सपक्ष या निष्पक्ष विवेचन करता हुआ यह कहता चले कि अमुक व्यक्ति का स्वभाव अमुक प्रकार का है इसमे अमुक गुण है या अमुक दोष हैं। अथवा उपन्यासकार उदासीन भाव से पात्र-सृष्टि का एक अग बन जाए और पाठक को उस चित्रण से स्वयं निष्कर्ष निकालने दे[2]। सामान्य पात्रो के चित्रण मे प्रथम विधि अधिक उपयुक्त है, क्योकि इन पात्रो का पूर्ण अनावरण नही होता इसलिए पाठक इनके विषय मे अपने निष्कर्ष स्वयं नही निकाल सकता। इसके विपरीत विशेष या मुख्य पात्रों के लिए चित्रण की दूसरी प्रणाली अधिक समीचीन है, इन्ही पात्रों का वर्णन उपन्यास का विषय है, यदि उपन्यासकार कुशल है तो पाठक के मन पर पात्रो का वही चित्र अंकित होगा जो उसकी अपनी भावना में अंकित है। प्राय कलाकार दोनों प्रणालियो को मिश्रित कर दिया करते हैं। मुख्य पात्रो के विषय में सामान्य और इतर मुख्य पात्रो की धारणा का वर्णन करता हुआ उपन्यासकार ऐसी परिस्थिति चित्रित कर देता है जो एक-से अधिक पात्रो के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाल सकती है। पुराने उपन्यासकार पाठक के मार्ग-निदेश के लिए अपने सकेत छोड दिया करते थे परन्तु आजकल तटस्थ रह कर चित्रण कर देने मे ही उपन्यास-कला की सफलता मानी जाती है।

जब उपन्यासकार मुख्य पात्रो मे से किसी एक के साथ एकात्म्य स्थापित कर लेता है अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि अपने व्यक्तित्व का किसी विशेष पात्र पर आरोप करके उसके माध्यम से स्वय उपस्थित होता है, तो वह कलाकार के उच्च पद से गिर जाता है। 'उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य ने कल्पना को पराजित कर उपन्यास को उन घटनाओं और परिस्थितियो मे बाध दिया है जो उपन्यासकार की

---

१. "A character is the creation of the reader, not of the writer." Apparently all a novelist needs do is to provide bold outlines, and the reader will cooperate to persuade himself that he is in contact with a 'real people'.

२. पर्सी लुब्बक : The novelist can either prescribe the character from outside, as an impartial or partial onlooker, as he can assume omnisciene and describe them from within; or he can place himself in the position of one of them and affect to be in the dark as to the motives of the rest.....

अपनी प्रवृत्तियो से मिलती-जुलती है[1]। ऐसी परिस्थिति प्रतिभा का कुण्ठन और कला का ह्रास सूचित करती है। स्वकीय व्यक्तित्व के प्रसारण की यह प्रवृत्ति आजकल के कतिपय अन्तर्मुखी कलाकारों मे दिखाई पडती है। कुछ लेखक प्रचार को दृष्टि मे रख कर ऐसे उपन्यास लिखते है; कदाचित् वे सोचते होगे कि जितनी रुचि अपनी कहानी मे हो सकती है उतनी काल्पनिक कथा मे नही। अस्तु, ऐसी रचनाए अपने पात्रो के प्रति नित्य सहानुभूति उत्पन्न न कर सकने के कारण अमर नही बन पाती।

पात्र-सृष्टि के प्रसग मे उपन्यासकार का मुख्य कर्त्तव्य "अभिन्नत्व मे भिन्नत्व, और विभिन्नत्व मे अभिन्नत्व"[2] का चित्रण है। जिस प्रकार समान प्रतीत होने वाले मानवों में कोई न कोई ऐसी विशेषता अवश्य होती है जिसके कारण देखते ही हम उन को अलग-अलग पहिचान लेते है, उसी प्रकार उनके चरित्रो मे भी उनके स्वकीय व्यक्तित्व की एक विशेष छाप होती है, एक ही परिस्थिति में सब व्यक्तियो की प्रतिक्रियाएं एक नहीं होती। उपन्यासकार इसी व्यक्ति-वैचित्र्य को अपनी रचना मे अकित करता है। परन्तु वैचित्र्य-मात्र पर्याप्त नही; वैचित्र्य के मूल मे रहने वाला साम्य, वैचित्र्य के समान ही या उस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज का उपन्यास साम्यजीवी वैचित्र्य का चित्रण करता है। और यह साम्य है पात्रो का मानवत्व, जिस के कारण पाठक की इन पात्रो के प्रति सहानुभूति होती है और उपन्यास उस को रोचक लगने लगता है। केवल वैचित्र्यनिष्ठ कल्पनामयी सृष्टि करने वाला घटनात्मक उपन्यास आज कला की दृष्टि से विगत युग की वस्तु समझा जाता है।

प्राचीन साहित्य मे पात्र दो प्रकार के थे—देव और दानव, एक गुणनिधि था और दूसरा दोषागार। परन्तु आज मनोविज्ञान अधिक व्यापकता से मानव-मन का विश्लेषण करता है। उसके अनुसार व्यक्तित्व मे इतना अतिवाद नही होता। मानव दैवी और आसुरी दोनो प्रवृत्तियो मे बना है, परिस्थितिया एक समय उसका दैवी रूप व्यक्त करा सकती हैं तो दूसरे समय आसुरी रूप। 'मानव-चरित्र न नितान्त उज्ज्वल है और न एकान्त श्यामल' रग-बिरगे ताने बानो से ही जीवन-पट का विस्तार हुआ है'। विरोधी गुणो का यह समन्वय अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देता है, विपरीत चित्तवृत्तियाँ अन्तःसघर्ष को जन्म देती है। जिस चरित्र मे विपरीत चितवृत्तियो से समुत्पन्न अन्तःसंघर्ष नही है उसको हम पूर्ण और स्वाभाविक नही कह सकते[3]। जिस जीवन में दुर्बलताएँ नही है वह इस लोक का नही है, काल्पनिक है—उपन्यास का विषय न हो कर काव्य के लिए उपयोगी है। अस्तु, उपन्यासकार विपरीत-वृत्ति का परिस्थिति-विशेष में चित्रण करता हुआ चरित्र को अधिक सजीव बना देता है।

---

१. सीताराम चतुर्वेदी : साहित्य-समीक्षा

२. प्रेमचन्द : कुछ विचार, पृ० ३८

३. जे सकल चरित्रेर मध्ये एक अन्तर्द्वन्द्व नाइ, विरीतचितवृत्तिर एइ सघात नाइ, ताहादिगके आमरा ठिक स्वाभाविक जीवन्त मनुष्य बलिया ग्रहण करते पारि ना।

उपन्यास की कथावस्तु आकस्मिक परिवर्तनों से रमणीय लगती है, परन्तु पात्रो की स्वाभाविकता मन्थर गति में है[1]। पात्र जिस रूप मे पाठक के सामने पहिली बार आये वह रूप उसके व्यक्तित्व का आधार बने और फिर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो में उसका शनैः शनैः विकास होता रहे। व्यक्तित्व का अनावरण न तो एक साथ हो और न अकस्मात् ही, उपन्यास की कला पात्रो के मन्द विकास में है[2]। स्वर्गीय शरच्चन्द्र ने लिखा है कि 'चरित्र-चित्रण ही उपन्यास का प्रधान अंग माना जाता है, चरित्रों के क्रमिक विकास के लिए मैं बहुत अधिक सावधान रहता हूँ।"

चरित्रचित्रण मे स्वाभाविकता से अभिप्राय जीवनानुरूपता से है। यद्यपि अनेक उपन्यासकार (अंग्रेजी मे डेफो तथा हिन्दी में किशोरीलाल गोस्वामी आदि) यह लिख-कर कि उपन्यास का आधार एक सच्ची घटना है उसको अधिक रोचक बना दिया करते थे, परन्तु जीवन से जैसे-के-तैसे गृहीत पात्र एकरसता (मोनोटनी) का ही संचार करते है। अतः उपन्यासकार कथा के समान पात्रो मे भी जीवन का अनुकरण करता है, आवृत्ति नही, पात्रो मे जीवन का रग भरता है उनको जीवन से खीच कर उपन्यास मे नही प्रतिष्ठित करता। दुगलस ने स्वीकार किया है कि उसने जीवन से कभी कोई पात्र लिया ही नही,[3] प्रकृत पात्र नवीकरण के बिना आकर्षक नही लगता। हिन्दी के कुछ आधुनिक उपन्यासकार भी अपनी रचना पर लिख देते है कि इसके सभी पात्र कल्पित हैं।[4] पात्रो की स्वाभाविकता उनकी विश्वासोत्पन्न-शक्ति मे है, इतिवृत्तात्मकता में नही; क्योकि कला की रेखा उपन्यासगत पात्रो को सामान्य प्राणियो से अलग कर देती है।[5] आलोचक सजीव चित्रण के लिए जीवन का यथार्थ प्रतिफलन अनिवार्य नहीं मानते।[6]

ई० एम० फोर्स्टर ने उपन्यासगत पात्रो के दो वर्ग बनाये है—फ्लैट तथा राउण्ड।

---

१. ई० एम० फोर्स्टर : एसपेक्टस ऑफ नावेल

Characters to be real ought to run smoothly but a plot ought to cause surprise (122)

२. The slow shaping of character is the problem of the novel.

३. I have never tried to draw a figure from life. My creed is that a human character, however engrossing, however convincing, and true to itself, must be modelled anew before it can become material for fiction

४. दे० श्री भगवतीचरण वर्मा रचित 'तीन वर्ष' का आदि पृष्ठ।

५. ई० एम० फोर्स्टर : एसपेक्टस ऑफ नावेल

The barrier of art divides them from us. They are real not because they are like ourselves (though they may be like us) but because they are convincing (87)

६. ई० एम० फोर्स्टर : एसपेक्टस ऑफ नावेल

A living character is not necessarily true to life. (106)

फ्लैट या गुण-प्रतिनिधि पात्र अपनी विशेषता के कारण पाठक के चित्त को एक बार ही ग्रहण कर लेते हैं, इनका समुचित एवं सर्वांगीण विकास उपन्यास में चित्रित नहीं किया जाता; इन्हीं को **'टाइप' या वर्ग-प्रतिनिधि'** भी माना जा सकता हे। दूसरे वर्ग के पात्र 'राउण्ड' **'व्यक्ति-प्रतिनिधि'** है, उपन्यास में इनका व्यक्तित्व शनैः शनैः प्रकट और परिवर्तित होता रहता है। उपन्यासकार की सिद्धहस्तता राउण्ड पात्रों के सफल चित्रण में है। कुछ आलोचक पात्रों को 'वर्ग-प्रतिनिधि' और 'व्यक्ति-प्रतिनिधि' वर्गों में विभक्त करते हैं। वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र रस की दृष्टि से अधिक सफल होते हैं, वे प्रचार के लिए भी अधिक उपयुक्त हैं, परन्तु उन में कलाकार की सूक्ष्म प्रतिभा के दर्शन कम ही हो पाते हैं। उपन्यासकार की कुशलता वर्गगत विशेषताओ को अक्षुण्ण रखते हुए व्यक्तिगत विशेषताओं के सूक्ष्म अकन मे है। व्यक्ति स्वकीय सस्कार तथा परिस्थितियो का प्रतिबिम्ब है, इसलिए वह दूसरे समान व्यक्ति से स्पष्टतः अलग है। उपन्यासकार का आज यह प्रयत्न होता है कि इस विलक्षणता का, इसके कारण और प्रभाव के साथ, चित्रण करे।

उपन्यासकार पात्रो का चित्रण उनके आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व को अंकित करने के लिए करता है।[1] इसलिए उपन्यास के पात्र ऐतिहासिक पात्रो की अपेक्षा अधिक सजीव और अधिक पूर्ण होते है। उपन्यास के पात्र अपूर्ण हो सकते है परन्तु उनका उतना रूप पाठक से छिपा नही रहता जितने का अनावरण कलाकार को अभीष्ट है। यही चरित्रचित्रण की विशेषता है—वह अपने आपमे पूर्ण और स्वतत्र हो, पात्रों को समझने के लिए समस्त आवश्यक सामग्री वहाँ उपलब्ध हो। अतः उपन्यासकार व्यक्तित्व की सूक्ष्म विशेषताओ[2] पर भी ध्यान देता है, बाह्य वेशभूषा, आकृति[3], उच्चारण-शैली, बात करने का ढग, आदि व्यक्तित्व के मूल होने के कारण उपन्यास में वर्ण्य विषय हैं।

जिस प्रकार 'कथा' और कथावस्तु' में कला की दृष्टि से अन्तर है, उसी प्रकार उपन्यास के पात्रों को 'चरित्र' कहना अधिक उपयुक्त हैं। उपन्यास की 'कथा' मे जितने

---

१. ई० एम० फोर्स्टर : एसपेक्टस ऑफ नावेल
People in a novel can be understood completely by the reader if the novelist wishes; their inner as well as their outer, life can be exposed. (68)

२. हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ लिटरेचर।
Whatever is individual and characteristic in their physical aspect in general, whatever is of importance in their expression or demeanous, at any critical moment, must be so indicated as to stand out the readers mind. (146)

३. पी० एच० न्यूबी : दि नॉवेल।
.....more personal qualities of observation, intelligence, imagination, command of language and so on..... (11)

व्यक्ति आ जाते हैं वे सभी इस कथा के 'पात्र' हैं, परन्तु 'चरित्र' केवल वे ही व्यक्ति हैं जिनके सहारे 'कथावस्तु' का निर्माण होता है। उपन्यासकार को जिन पात्रो का वातावरण अभीष्ट है वे ही उसके 'चरित्र' है। अंग्रेजी का 'करैक्टर' शब्द एक ओर पात्रों की अभिव्यक्ति करता है, दूसरी ओर यह भी बताता है कि व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण ही पात्रो को "करैक्टर' संज्ञा प्राप्त हुई है। व्यक्ति ने जो कुछ फुटकल काम किया वह उसका 'कडक्ट' या 'कर्म' है, परन्तु जो कुछ वह स्वभावतः इच्छापूर्वक करता है वह उसका 'करेक्टर' या 'चरित्र' है; उपन्यासकार अपनी कला से इसी 'चरित्र' का चित्रण कर पात्र का व्यक्तित्व अंकित किया करता है। जिन व्यक्तियो का चित्रण वह नहीं करता ऐसे अनेक सामान्य या अतिसामान्य पात्र कला की दृष्टि में 'चरित्र' नाम के अधिकारी नही है।

स्थूल रूप से उपन्यास का आधार उसकी कथावस्तु है, परन्तु कथावस्तु का आभ्यन्तरिक अग तो चरित्र-चित्रण है। कथावस्तु मे चरित्रो का विकास होता है, और चरित्र-विकास से कथावस्तु परिणति की ओर जाती है। अतः कथावस्तु और चरित्र-चित्रण—उपन्यास के दो प्रधान तत्व—उद्‌गम, विकास, तथा परिणति की दृष्टि से अन्योन्याश्रित है। उपन्यास का अध्ययन मुख्यत इन्ही दो सम्बद्ध अगो का अध्ययन है।

कथोपकथन

उपन्यास के उपर्युक्त दो तत्वो मे से एक (चरित्रचित्रण) का निकट-सम्बन्धी तत्व कथोपकथन है। यदि कलाकार अपने उपन्यास मे समयोचित, समुचित, एवं उपयुक्त कथोपकथनों की योजना कर सके तो उसकी कृति मे सजीवता एव सरसता के साथ साथ स्पष्टता एवं स्वाभाविकता की भी वृद्धि होती है। नाटक का यह अनिवार्य उपकरण उपन्यास मे प्रयुज्यमान होकर पाठक के हृदय को अधिक अभिभूत कर सकता है। अतएव अधुनातन उपन्यास में कथोपकथन का महत्व बढ़ता जा रहा है। 'इस तत्व के द्वारा हम उसके पात्रों से विशेष परिचित होते और दृश्य-काव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कुछ अनुभव करते हैं'[1]। 'उपन्यास की वास्तवता चरित्रावली के कथोपकथन की स्वाभाविकता पर बहुत कुछ निर्भर है; केवल इतना ही नही, कथोपकथन की भाषा और भंगी की विभिन्नता के भीतर उपन्यास-वर्णित चरित्रावली के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता प्रस्फुटित होती है और वे 'टाइप' न रहकर 'इन्डीविजुअल' हो जाते हैं'[2]।

कथोपकथन का मूल उपयोग पात्रो के मनोवेग, उनकी प्रवृत्तिया, उनकी इच्छा-अभिलाषा तथा राग-द्वेष का पात्रों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति द्वारा प्रस्फुटन है। पात्रो के अन्तःकरण की मौलिक प्रवृत्तियां, घटनाओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप अथवा अन्य पात्रों के परिणामस्वरूप, प्रकट होने के लिए शब्द का माध्यम ग्रहण कर लेती हैं और परस्पर-वार्तालाप में पात्रों के आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व का अनायास ही दिग्दर्शन हो जाता

१. डॉ० श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन : पृ० २०५
२. कथा साहित्ये रवीन्द्रनाथ : पृ० १०१

है। इस प्रकार कथोपकथन विश्लेषण एवं व्याख्या की संयुक्त प्रक्रिया का विकल्प है परन्तु कथोपकथन विश्लेषण एवं व्याख्या का निरादर नहीं करता, प्रत्युत उनकी शक्ति को अधिक बलवती बनाता है[1]—इस प्रकार यह पात्रों के विश्लेषण का साधन भी है।

कथोपकथन का दूसरा उपयोग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष भाव से कथावस्तु का विकास करना है। उपन्यास के शिथिल कलेवर में भी सभी घटनाएं समाविष्ट नही हो सकतीं, कुछ का वर्णन होता है, कुछ का परिचय दिया जाता है तथा कुछ घटनाओं का संकेत पात्रों के परस्पर वार्तालाप से ही जान लिया जाता है। कथोपकथन का यह कथोपकथन रूप इतने महत्व का है कि कुछ आलोचकों ने उस कथोपकथन को निरर्थक एव भार-स्वरूप माना है जो कथा के रूप या गुण मे उत्कर्ष की सिद्धि न करे, भले ही वह आकर्षक तथा मनोहर हो;[2] अनावश्यक एव अनुपयुक्त कथोपकथन की योजना रचना के आकार में वृद्धि करती है पात्रो के व्यक्तित्व का अनावरण नही करती। उपन्यास मे यह तत्व जितना आकर्षक है उतना ही अपने अतिवाद मे विकर्षक भी, क्योकि पाठक का ध्येय कथा है, संवाद नही। जो कथोपकथन न तो कथा को गति प्रदान करे और न पात्रो के रूप को ही अधिक स्पष्ट करे वह निष्प्रयोजन होने के कारण त्याज्य है।

कथोपकथन में स्वाभाविकता से अभिप्राय उसमे व्यक्तित्व की छाप से है। शब्दावली, स्वरसन्धान, एव वाक्य-विन्यास व्यक्तिभेद पर निर्भर है इनका व्यवहार कथोपकथन में होता है। सफल कथोपकथन का मुख्य गुण तद्तद् व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक है। इसी गुण को दृष्टि मे रखकर कुछ उपन्यास एक ही कृति मे भाषा के अनेक रूप प्रयोग में लाते है और कुछ पात्रो को तकिया कलाम का आदी बना देते हैं; वाक्यों का विस्तार एव सकोच, भाषा मे सम्बद्धता तथा शिथिलता आदि कथोपकथन में प्रयुक्त व्यक्तित्व-स्पष्टीकरण के साधन हैं। पात्रों के सामाजिक स्तर, शिक्षा-संस्कृति, प्रकृति एव सस्कार का सर्वोत्तम परिचायक कथोपकथन ही है। कथोपकथन के द्वारा पात्रो की विचारधारा का परिचय प्राप्त होता है; कलाकार का जीवन-दर्शन भी बोध-गम्य बन जाता है। जो उपन्यासकार स्वकीय विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही उपन्यास लिखते है वे मुख्य पात्रो मे से किसी एक के रूप मे उपस्थित हो जाते है और कथोपकथन द्वारा अपने मत की प्रतिष्ठा करते हुए दृष्टिगत होते है।

कथोपकथन को उपन्यस्त करते समय यह नही भूलना चाहिए कि सभाषण या वार्तालाप का ही यह परिवर्तित रूप है। जिस प्रकार सभाषण और मचीय-भाषण में बडा अन्तर है उसी प्रकार कथोपकथन और विचार-वर्णन में भी होता है। एक ही पात्र अपने

---

१. श्री हडसन : Even where the analytical method is freely used, dialogue will prove of constant service as a vivifying supplement to it (154)

२. श्री हडसन : Conversation extended beyond the actual needs of the plot is to be justified only when it has a distinct significance in the exposition of character.

मन्तव्य या विचार के प्रतिपादन के लिए यदि संभाषण से हटकर भाषण के स्तर पर पहुँच जाय तो निश्चय ही वह कथोपकथन की सीमा-मर्यादा का अतिक्रमण समझा जायगा। तीन-चार पृष्ठों के लम्बे भाषण को कथोपकथन की श्रेणी मे कदापि नही रखा जा सकता। कथोपकथन दो या तीन पात्रो के सभाषण (वार्तालाप की शैली में अभिव्यक्ति) शैली-विशेष का नाम है जिसका प्रयोजन व्यक्तित्व का प्रस्फुटन एव कथा-प्रसग का सरसता पूर्वक बोध कराना है।

देशकाल (वातावरण)

वातावरण से अभिप्राय देश और काल की उन उपाधियो से है जिनके अन्तराल से उपन्यासकार अपनी कथा और उसके अगभूत पात्रों का निर्विशिष्ट रूप चित्रित करता है। इसके अन्तर्गत उस युग और उस देश की वेशभूषा, रीति-रिवाज आदि के साथ-साथ घटनाओ और व्यक्तियो की स्थूल परिस्थितिया भी सम्मिलित है। इस प्रकार वातावरण के दो रूप हुए—सामाजिक जीवन तथा भौतिक परिस्थितिया[1]। उपन्यास में सामाजिक वातावरण का उपयोग कथावस्तु का रग गहरा करने के लिए होता है और भौतिक वातावरण पात्रो के मानसिक परिवर्तन के लिए सयोज्य है। एक दृष्टि से सामाजिक वातावरण अधिक सामान्य अत कम प्रभाव वाला है, और भौतिक परिस्थितिया विशिष्ट अत. अधिक प्रभावोत्पादक।

वातावरण की दृष्टि से सामाजिक उपन्यास के दो भेद हो सकते हैं—ऐतिहासिक और सामयिक। ऐतिहासिक उपन्यास न इतिहास है और न काव्य, प्रत्युत उन दोनो का विचित्र अतएव मनोरम मिश्रण है, यद्यपि उसमे घटनाएं कल्पना-प्रसूत हो सकती हैं तथापि सम्पूर्ण परिवेश असन्दिग्ध एव विश्वसनीय होता है। ऐतिहासिक उपन्यास की रचना अपेक्षाकृत कष्टसाध्य है क्योकि जब तक कलाकार तद्युगीन वातावरण से संलिप्त नहीं होता तब तक उसकी लेखनी से उस युग का प्रत्यकन उतना सहज, सटीक एव सजीव नही बन सकता। इतिहासकार जिन तथ्यो का आकलन करता है ऐतिहासिक उपन्यासकार उन्ही का अकन करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के मन में अतीत और वर्तमान का संघर्ष चलता रहता है और यह असम्भव नही कि वर्तमान के प्रबल आकर्षण से खिच कर वह ऐतिहासिक वातावरण की उपेक्षा कर बैठे। कलाकार के समक्ष देश-काल का जो परिवेश रहता है सामयिक उपन्यासकार उसी का चित्रण करता है अत: उसको ऐतिहासिक उपन्यासकार के सामान सघर्ष से उलझना नही पडता। परन्तु उसको परिस्थितियो के अथाह सागर में से केवल उपयोगी कणो का ही सचय करना होता है। कुछ कलाकार सस्ते रगो मे फंसकर बहुमूल्य की अवहेलना कर बैठते हैं; और ऐसा प्राय: अतियथार्थ के प्रलोभन के कारण होता है। कलाकार पर्यटक की निर्दोष दृष्टि लेकर अभीष्ट प्रदेश मे विचरण करे तभी उसे ग्राह्य-अग्राह्य का सूक्ष्म अन्तर विदित होगा और

१. We may, therefore, distinguish two kinds of settings—the social and the material. (Hudson, P. 158)

तदनुसार आचरण करके ही वह अपनी कला से पाठक को मोह सकेगा । प्रेमचन्द के उपन्यास इसी कला से परिपूर्ण हैं, उनमें ग्रामीण जीवन का ऐसा मार्मिक रूप है कि अपरिचित पाठक भी स्निन्ध भाव से उस प्रवाह में निमज्जित हो जाता है और सुरम्य वातावरण की सृष्टि में आत्मविभोर हो अपने को भूल जाता है ।

वातावरण की सफलता जितनी कला पर निर्भर है उससे अधिक कलाकार के व्यक्तित्व पर । उपन्यासकार देश-काल की जिन परिस्थितियो, समस्याओं, आन्दोलनो से प्रभावित होता हैं उन्ही का चित्रण अपनी रचना मे करता है । जिस तत्परता से वह परिस्थितियों का चित्रण करता है, यदि वही रुचि बनकर पाठक के मन मे जग गई तो उसकी कला सफल मानी जायगी अन्यथा नही । प्रेमचन्द ग्रामीण किसान जीवन से प्रभावित थे, उनकी सूक्ष्म दिनचर्या, सामान्य से सामान्य समस्या, द्वन्दसघर्षमयी परिस्थितिया प्रेमचन्द के मन पर अंकित थी । उनके उपन्यासो को पढकर पाठक भी उनका सहचिन्तक बन जाता हैं और किसानो के प्रति सहानुभूति ही नही श्रद्धा-सी रखने लगता है । यही उपन्यासकार का कौशल है । वातावरण का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द ने जो भविष्य का भावन किया है (जैसे 'प्रेमाश्रम' मे जमीदारी का उन्मूलन) वह इसीलिए ऐतिहासिक दृष्टि से भी सत्य घटित हो गया है । जयशंकरप्रसाद की हिन्दू-काल के इतिहास मे विशेष रुचि थी, उनका चित्रण भी पाठक पर उतना ही गहरा प्रभाव डालता है । वातावरण का सफल चित्रण उपन्यासकार की प्रतिभा का द्योतक है । वह किस-किसको छोड़े, अभितः व्याप्त जीवन में से किस-किस का चयन करे, यह प्रातिभ ज्ञान का विषय है । चयन के उपरान्त सफल चित्रण तो और भी कठिन कर्म है । अस्तु, देश-काल का अध्ययन उपन्यासकार और उसके उपन्यास दोनों को समझने के लिए अनिवार्य है ।

शैली

साहित्य के अन्य रूपो के समान उपन्यास का एक तत्व शैली है । एक दृष्टि से साहित्य के विभिन्न रूप भी भिन्न-भिन्न शैलियों के प्रकार-मात्र ही है । एक कलाकार जब नाटक न लिख कर उपन्यास की रचना में प्रवृत्त होता है तब इस बात का अनुभव कर के ही होता है कि उपन्यास मे उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सफल हो सकती है । वस्तुतः शैली व्यक्तित्व की ही अभिराम छाया है—व्यक्तित्व की शाब्दिक अभिव्यक्ति है । एक आलोचक का मत है कि पाठक शैली मे ही रस का अनुभव करता है, विचार भी शैली ही है[१] । शैली कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ पाठक को मुग्ध करने का साधन भी है[२]; इसीलिए आलोचना करते समय शैली के लिए रोचक, आकर्षक आदि विशेषणों का प्रयोग प्रायः किया जाता है ।

---

१. What does the mind enjoy in books ? Elther the style or nothing. But, someone says what about the thought ? The thought that is the style too (An Essay on Criticism)

२. All styles are only means of subduing the reader. (T E. Hulme)

'शैली' का सामान्य अर्थ विचार-क्रम एवं गति है[1] अर्थात् लेखक जिस गति से विवेच्य वस्तु का परिचय देता है और जिस क्रम से योजना करता है उसे शैली कहते कहते है; यह सारी व्यवस्था उसकी प्रकृति की द्योतक है। साहित्यशास्त्र में इसको शाब्दिक अभिव्यक्ति या शैली कहते है। इसके अन्तर्गत शब्द-भाडार, वाक्य-रचना, वर्णन, भाव-योजना, वस्तु-विभाजन, पात्रो का परिचय इत्यादि सन्निविष्ट हैं। शैली का यह रूप साहित्य मे सर्वत्र उपलब्ध है। उपन्यास के संदर्भ मे शैली से कथा कहने का प्रकार ही प्राय. समझा जाता है।

उपन्यास की कथा उत्तम, मध्यम और अन्य, तीन पुरुषो मे कही जा सकती है। इन विभिन्न पुरुषो में कथा कहने का तात्पर्य है एक विशेष दृष्टिकोण की[2] स्थापना जिसका मनोवैज्ञानिक महत्व है। प्राचीन उपन्यासो मे पात्रो को अन्य पुरुष मे रख कर लेखक उनके क्रियाकलाप सयोग तथा परिस्थितियो का चित्रण करता जाता था और कभी तो यह भी कहना चलता था कि पाठक इस प्रकार सोच रहे होगे, जो कि उपयुक्त है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यास इसी शैली पर लिखे गए थे। उपन्यास लेखक, पाठक तथा पात्र तीनो के तीन व्यक्तित्व क्रमश उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुष मे रहा करते थे और लेखक पाठक के सामीप्य का इतना अधिक अनुभव करता था कि बीच-बीच मे उनसे वार्तालाप करता जाता था और उस वार्तालाप मे सामयिक प्रसगो की आलोचना भी होती चलती थी।

कथा कहने की दूसरी शैली उत्तम पुरुष की है। कथाकार एक पात्र का स्वरूप धारण करके कथा को अग्रसर करता है यह शैली अन्तर्भावात्मक है। चार्ल्स डिकेन्स का 'ग्रेट एक्सपैक्टेशन्स' अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' और अश्क का 'गिरती दीवारें' इस शैली के उदाहरण हैं। इस शैली की सबसे मुख्य विशेषता है उत्तम पुरुष में होने के कारण पाठकों के मन को वशीभूत कर लेना और राबिन्सन क्रूसो के समान अविश्वसनीय घटनाओ में भी पाठक का विश्वास जम जाना। डायरी-शैली के उपन्यास इसी शैली मे आते हैं। ऐसे उपन्यासो मे सबसे बडा दोष यह है कि लेखक और पाठक मे से कोई भी अपने निर्णय मे स्वतत्र नही है और जो पात्र कथा कह रहा है उसका निर्णय मान्य-सा बन जाता है। यदि कथा सामान्य पात्र के मुख से कहलाई जाय तो वह और भी कम ग्राह्य है, क्योकि ऐसा पात्र लेखक का प्रतिनिधित्व नही कर सकता। अत: मुख्य पात्र के माध्यम से ही ऐसा उपन्यास लिखा जाना चाहिए। अनेक पात्र यदि अपनी-अपनी कथा कहते चले तो कृति अधिक रोचक हो सकती है और पाठक के समक्ष अनेक दृष्टिकोण आ सकते हैं। किन्तु इसका निर्वाह कठिन है क्योकि परस्पर दृष्टिकोणों का अनुपात स्थिर करना दु साध्य है।

---

१. Style consists in the order and the movement which we introduce in our thoughts. (Buffon)

२. सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ६८२

कथा कहने की तीसरी शैली मध्यम पुरुष की है। समस्त उपन्यास तो मध्यम पुरुष में लिखा भी नही जा सकता, अतः इस शैली से अभिप्राय यह है कि उपन्यास में पाठक का भी सक्रिय सहयोग हो। परन्तु जब उपन्यास का कोई पात्र कथा को इस प्रकार बढावे कि दूसरे पात्र (या पात्रो) से प्रत्यक्ष या परोक्ष बात कर रहा हो, तो उपन्यास मध्यम पुरुष में लिखा जायगा। पत्र-शैली पर लिखी गई कथाएं इसी वर्ग में आती हैं।

शैली का दूसरा तत्व जो काव्य, नाटक, उपन्यास सभी में समान रूप से व्याप्त रहता है, अभिव्यंजना-कौशल है। अभिव्यजना के समस्त उपादान—शब्द, वाक्य, अप्रस्तुत-विधान, प्रतीक-विधान आदि उपन्यास मे भी ग्राह्य होते है और उनकी विवेचना उपन्यास के रस और वस्तु के आधार पर की जानी चाहिए। वीररस के उपन्यास की शैली शृङ्गार रस के उपन्यास की शैली से भिन्न होगी ही। भाषा के परुष और मृदु होने के अतिरिक्त प्रतीको, उपमानो और अलंकारो के प्रयोग मे भी सापेक्षिक भेद होगा। वातावरण और देश-काल का भी शैली-विन्यास पर प्रभाव पडना स्वाभाविक है। नागरिक वातावरण के उपन्यास के पात्रो की अभिव्यक्ति सामान्यत ग्रामीण वातावरण के अपढ किसानो की अभिव्यक्ति की अपेक्षा किसी मात्रा मे प्राजल होगी। प्रान्त-विशेष की किसी आंचलिक पृष्ठभूमि पर विकसित उपन्यास की शैली मे भा दूसरे उपन्यासो से शैली-पार्थक्य होना स्वाभाविक है। शैली केवल परिधान मात्र नही है वरन् अभिव्यग्य को रूप और आकार देने का मनोरम साधन भी है।

उद्देश्य

भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार साहित्य का एकमात्र फल रस या आनन्द है इससे पृथक् उद्देश्य की कल्पना गौण रूप से यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान आदि के रूप में की गई है। रस या आनन्द सूक्ष्म उद्देश्य है, और यश, अर्थादि स्थूल एव भौतिक, रस या आनन्द कलाकार तथा श्रोता (या पाठक) के लिए है, परन्तु स्थूल उद्देश्य दोनो के के लिये पृथक्-पृथक् हैं। आज के बुद्धिवादी साहित्यिक के समक्ष भी प्राय वे ही उद्देश्य हैं; रस या आनन्द को अवश्यम्भावी एवं सर्वगत जान कर वह विचार के लिए आवश्यक नही समझता, इसलिए आजकल स्थूल उद्देश्य अर्थात् व्यवहार-ज्ञान और उपदेश तक ही उपन्यास का उद्देश्य सीमित समझा जाता है। आलोचक के लिए विचारणीय यह है कि उपन्यासकार अपनी कृति द्वारा पाठक के सामने कौन-सा सन्देश भेजना चाहता है, उपन्यास की मुख्य समस्याएँ कौन-कौन सी हैं और लेखक ने उनका विवेचन एव समाधान किस ढग से किया है। सक्षेप मे उपन्यास का मूल प्रतिपाद्य रचयिता का कृतिगत जीवन-दर्शन ही है, वही उपन्यास का उद्देश्य माना जाता है।

उपन्यास का प्रथम उद्देश्य जगत् और जीवन का चित्रण है। लेखक अपनी अनुभूतियो को पात्रो के माध्यम से कथा मे अकित करता है। इस कार्य मे वह जितना सधा होगा उतना ही अपने उद्देश्य मे सफल कहलायगा। प्रत्येक कृति मे कोई न कोई दृष्टिकोण अनिवार्यत: स्थित रहता है, यह आवश्यक नहीं कि कलाकार कृति मे इसके लिए प्रयत्नशील हो। जीवन-चित्रण-मात्र जीवन-दर्शन है क्योकि निरीक्षण और चित्रण

दोनो ही वैयक्तिक सस्कारो से सश्लिष्ट रहते है, अतएव जो कलाकार प्रयत्नत अपने दृष्टिकोण को उपस्थित नही कर उनके उपन्यासो मे भी एक-न-एक विचार- दृष्टि सयोजित रहती है।

आधुनातन उपन्यास मे जीवनाभिव्यक्ति के स्थान पर जीवन-दर्शन की स्थापना होने लगी है। कलाकार प्रत्यक्षत सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हैं और ऐसे पात्रो का सृजन करते है जो उस दर्शन के मूर्त रूप मात्र है। यह एक दोष है। जीवन-दर्शन इतना प्रत्यक्ष न हो कि वह पग-पग पर अवरोधक बन जाय और कला मे विकृति आने लगे[1]। फिर भी यह स्वीकार करना पडता है कि अमरत्व की अभिलाषा रखने वाला उपन्यास-कार अपने ध्येय मे तब तक सफल नही हो सकता जब तक कि वह अपने युग की ऊंची-से-ऊची विचारधारा को अकित न करे। कोई भी उपन्यास उस समय तक महान् नहीं हो सकता जब तक कि उसका उद्देश्य महान् न हो[2]।

आलोचको का मत है कि नैतिक उपदेश का साग्रह सन्निवेश उपन्यास एवं उपन्यासकार दोनो को ही गिरा देता है।[3] परन्तु यह कथन अशत ही सत्य है क्योंकि नैतिकता और कला मे अन्योन्याश्रयिता भी है।[4] अत उपन्यासकार नैतिकता के प्रतिकूल न चले। प्राचीन साहित्य में सत् की जय और असत् की पराजय होती थी, आज के युग में जीवन का सघर्ष और मूल्य का महत्त्व कलाकार के पूर्वाग्रह को चुनौती देते रहते है। वह किसी एक निश्चित धारणा पर अटल नही रह सकता। फिर भी कला-कार नैतिक चित्रण द्वारा पाठक की अन्तश्चेतना मे नैतिकता को प्रोत्साहित तो कर ही सकता है। यदि कलाकार प्रचार का विरोधी है तो भी उसका अपना निजी दृष्टिकोण तो होगा ही जिसमे प्रचार की भावना छिपी रहेगी।[5] कलाकार को अपने अनुभव में जितना विश्वास होगा उतनी ही उस की स्थापना दृढ होगी। वह पग-पग पर पाठक से

---

१. ...it should be implicit, not palpable, any attempt to preach in fiction must inevitably destroy the integrity of a work of art. (Neill p. 230)

२. . in the long run, the quality of a work of fiction depends on the quality of thought of the times in which it is written. (P H Newby The Novel p. 40)

३. ...the studied presence of a moral intention spoils the novel as well as the novelist ... (p. 390-391 History of English literature Vol. VII)

४. ...The moral sense and the artistic sense lie very near together... (Neill)

५. It is probably near the truth to say that art cannot exist without propaganda, that the lack of formulated belief will lead to sterlity or at the best a literature of mindless sensation. (The Novel p. 11).

यह कहता है कि मेरे निष्कर्षों को मत स्वीकार करो अपनी आँखों से देखो और पहचानो[१]। कलाकार दो प्रकार से अपना दृष्टिकोण पाठक से स्वीकृत करा सकता है। एक तो यह कि वह पाठक को जहां ले जाना चाहे उसी प्रकार का साक्ष्य जुटावे और दूसरा यह कि अपनी मोहक कला के आलोक मे उसकी दृष्टि को स्तम्भित करके उस को मन्त्रमुग्ध कर ले। अस्तु नैतिकता, उपदेश या प्रचार या दृष्टिकोण के बिना कला का प्रसार सम्भव नहीं।

जीवन में सत् और असत् दोनो ही पक्ष है और कदाचित् असत् सत् से भी अधिक है परन्तु इसीलिए तो उपन्यासकार को असत से दूर रह कर सत् का प्रतिपादन करना चाहिए—यथार्थ जीवन में दु:ख और वेदना का अस्तित्व वैसे ही क्या कम है जो काल्पनिक दु:ख चित्रित किया जाए[२] और जीवन को असह्य घोषित किया जाए, अनेक दृश्य ऐसे है जो जीवन मे प्रत्यक्ष दिखाई पडने पर भी उपन्यास में वर्ज्य रहे[३]। जो कुत्सा से बचकर नहीं निकल सकता, उसे उन सब विशेषताओं को पचा लेना चाहिए, परन्तु इस कथन में केवल इतना ही सार है कि जीवन का समग्र चित्र ही उपन्यास का विषय है, केवल माया और इन्द्रजाल मे उलझ कर पाठक को वह वास्तविक का विस्मरण न करा दे[४]।

केवल न्याय की भावना या सत्-असत् का ही प्रश्न नहीं, उपन्यास के द्वारा राजनीतिक और सामाजिक मतवादो का भी प्रचार किया जाता है। सिद्धान्तवादियो और व्यंग्यकारो ने उपन्यास को प्रचार का साधन एव सामाजिक आलोचना के लिए सफल माध्यम जानकर इसको अपना लिया है और वे कथावस्तु मे यथार्थ चित्रो का संयोजन करके समसामयिक समाज पर कटु प्रहार करने लगे है।[५] परन्तु आन्दोलनो मे कला अपने उच्च उद्देश्य से पतित हो जाती है, राजनीतिक प्रभाव साहित्य को विकृत कर

---

१. 'Don't take my valuation', he seems to say 'See for yourself,. (Ibid)

२. Why write imaginary unhappiness when there is so much real unhappiness in the world (Robert Liddell, p. 60)

३. There are scenes in life that cannot be written even if they can be proved to have happened" —George Moore (Quoted by Liddell)

४. ...the truely comic novel does not succeed by making us forget the ugliness of reality but by assimilating it... (Newby. p. 7)

५. Theory-mongers and Satirists siezed upon the novel as a means of propagating ideas, and realizing the almost limitless possibilities of using it as a vehicle for social criticism, combined story and realistie characterisation with attacks on the foundations of contemporary society. (Neill p. 205)

देना है और उसको पतन के गर्त में डुबो देता है[1]। इसलिए अमरत्व के अभिलाषी उपन्यास को प्रचार के छिछले दलदल में नही फंसना चाहिए; वह केवल जीवन के अथाह सागर में बार-बार डुबकी लगाकर कुछ अमूल्य रत्न निकाले जो अपनी आभा में मनोमोहक तथा अपने मूल्य में अतुलनीय हों।

नैतिक उपदेश तथा राजनीतिक प्रचार के अतिरिक्त दार्शनिक व्याख्या, मनोवैज्ञानिक सत्य एव वैज्ञानिक और भौगोलिक अनुसन्धान भी उपन्यास के वर्ण्य हो सकते हैं। ऐसे उपन्यास बुद्धिवाद से इतने आक्रान्त हो जाते हैं कि उन का मुख्य तत्व, कथातत्व, उपेक्षित रह जाता है। फलत ऐसा उपन्यास पाठ्य-पुस्तक का रूप धारण कर बैठता है।

जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण उपन्यासकार दो प्रकार से अभिव्यक्त कर सकता है—व्यापक जीवन से रुचि के अनुकूल चित्रो का अंकन करके और नैतिक मूल्यों का प्रत्यक्ष प्रतिपादन करके। जीवन अनन्त तथा अपार है और यह दृश्यमान जगत् भी उसी के सदृश अथाह है। सभी लोग उसी मे से अपनी रुचि और क्षमता के अनुकूल दृश्य, चित्र और व्यक्तियो को छाट लेते है। उपन्यासकार भी जीवन के जिस अंग और अश को लेता है उसका कारण उसकी अपनी प्रकृति या स्वभाव ही है। कथावस्तु की रूपरेखा मे ही उपन्यासकार की अभिरुचि का पूर्ण परिचय मिल जाता है। दृष्टिकोण का दूसरा रूप कथावस्तु के सचालन मे नैतिक मूल्यो का प्रत्यकन है, वह उत्थान-पतन विकास-ह्रास तथा विस्तार-सकोच में जिन विशेषताओ को महत्व देता है वे उद्देश्य की प्रतिपादिका है।

जीवन का चित्र होने के कारण उपन्यास मे विभिन्न प्रतिक्रियाए भी अवश्यम्भावी हैं। उपन्यासकार प्रतिपादन मे सावधान रह सकता है परन्तु प्रतिक्रियाओ से उदासीन नही, क्योकि परिस्थिति-विशेष की प्रतिक्रिया को छिपाने का प्रयत्न प्रवाह मे बाधा तथा गति मे अनैसर्गिकता का वपन कर सकता है। जीवन-दृष्टि को आग्रहपूर्वक प्रच्छन्न करने की प्रथा स्वयमेव एक प्रचार है। उपन्यास जीवन-दृष्टि से बच नही सकता, परन्तु साम्प्रदायिक मतवादो की दल-दल में फसकर यह अपना कलेवर कलुषित न करे, उपन्यासकार की सफलता इसी मे है।

फलत: यह कहा जा सकता है कि उपन्यास उद्देश्य-विहीन रचना नही हो सकती। किसी उदात्त एव अवदात उद्देश्य की पृष्ठभूमि मे ही उपन्यास की कला सार्थक बनती है। सफल लेखक वही है जो उद्देश्य का चयन जगत् और जीवन के शाश्वत मूल्यो के आधार पर करता है। चिरस्थायी मूल्यो का प्रत्यंकन और प्रतिपादन उपन्यास मे स्वस्थ एव ग्राह्य जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा करने वाला होता है। अत: ससार की गतिविधि से अभिज्ञ और मानव मन के गुह्य को समझने वाले कलाकार अपने उद्देश्य को

---

१. "Politics is a stone tied to the neck of literature which sinks it in less than six months. (Liddell, p. 108)

व्यंग्य रखते हुए भी उपन्यास को महत् उद्देश्य की ओर उसी प्रकार ले जाते हैं जैसे महाकाव्यकार युग द्रष्टा कवि ले जाते हैं। उद्देश्य के इस चरमविन्दु पर महाकाव्य और उपन्यास मे बहुत अधिक साम्य लक्षित होने का यही कारण है।

रस

भारतीय काव्य-शास्त्र रस को काव्य का प्रमुख अग स्वीकार करता है। उपन्यास काव्य नही है परन्तु काव्य के सहवर्गी साहित्य का ही एक रूप है। अत काव्य के समान उपन्यास मे भी रस का विशेष महत्व है—उपन्यास की सार्थकता रस की पूर्णता मे ही है।[1] पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र मे रस-शब्दवाच्य किसी काव्यत्व का प्रतिपादन नही किया गया अत किसी भी कलाकृति मे भारतीय काव्य-शास्त्रियो की भाति रस का संधान वहा नही किया जाता। उपन्यास का तो उद्भव एव विकास पश्चिम मे ही हुआ था इसलिए उपन्यास की आलोचना मे रस की चर्चा नही की गई। भारतीय आलोचक अवश्य ही उपन्यास की आलोचना करते हुए रस को एक अनिवार्य अग के रूप में स्वीकार करने लगे है।

यदि रस शब्द का सामान्य अर्थ स्वीकार किया जाए तो साहित्य मे ही नही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे रस ही मुख्य है, परन्तु उपन्यास मे रस से अभिप्राय उस लोकोत्तर आनन्द का है जो काव्य की आत्मा माना जाता है। उपन्यास मे लोकोत्तर आनन्द के स्थान पर विचार-विमर्श ही मुख्य उद्देश्य मान लिया गया है। यदि यही सत्य है तो भी यह स्वीकार करना पडेगा कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विचारो के आधार भी तो भाव ही हैं—'हमारे विचार भी हमारे जीवन के प्रति रागात्मक या विरागात्मक दृष्टिकोण के ही फल-फूल होते है, विचारो के मूल मे भी भाव ही रहते हैं अर्थात् वे प्राय भाव-प्रेरित होते ह।'[2] अत यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो प्रत्येक घटना के मूल मे मानव-मन का राग-द्वेष ही आधार बना रहता है इसलिए बुद्धिवादी युग के प्रमुख साहित्य-रूप उपन्यास मे भी भाव और रस को अनिवार्य उपकरण के रूप मे स्वीकार करना चाहिए। प्रवृत्ति मे शृगार, उत्साह मे वीर, करुणा मे शोक, भय मे भयानक और घृणा मे वीभत्स रस का सचरण मानना चाहिए। अधुनातन उपन्यासो मे करुणा, घृणा और उत्साह आधार-शिला के समान सर्वत्र ही उपलब्ध है; ऐसी कृतियो मे सचार ही क्यो, पारिपाक तक सम्भव है। 'गोदान' मे समाज-शोषको के प्रति सत्य और अहिंसा के बल पर आजन्म युद्ध का उत्साह दिखाई पडता है इसलिए उस उपन्यास मे वीर रस अगी है, मुल्कराज आनन्द के 'कुली' उपन्यास में मुन्नू प्रतिपद ठोकरें खाता है और अन्त में अस्पताल मे शरीर छोडता है, उसका

---

१. उपन्यासउ काव्येर मत रस-रचना। सेइ उपन्यासइ सार्थक याते रस एकटो परिपूर्ण मूर्ति ग्रहण करियाछे।

—उपन्यासे रवीन्द्रनाथ, पृ० २६
श्री नरेशचन्द्र सेनगुप्त (जयन्ती उत्सर्ग)

२. काव्य के रूप, पृ० १६०

सारा जीवन करुणा की कहानी है। तिलस्मी उपन्यास अद्भुत रस के उदाहरण हैं। अतः 'संस्कृत के आलकारिक जिस रस को काव्य की आत्मा कहते है, जो अगी है वही कथा और आख्यायिका का भी प्राण है।'[1]

यह निश्चय हो जाने पर कि उपन्यास मे रस-दृष्टि अनुपयुक्त नही है, यह विचारणीय है कि साहित्य के इस रूप मे रस को कितना महत्व देना चाहिए। यह पाठक-मात्र का अनुभव है कि उपन्यास का समवेत प्रभाव सहृदय-सवेद्य नही होता, बुद्धिवादी होता है—अधुनातन उपन्यासो मे यह सत्य विशेष रूप से अभिलक्षित होने लगा है, रस-विभोर करने वाले मार्मिक उपन्यास को पदच्युत समझा जाता है। सस्कृत आख्यायिकाओं मे रस-विभोर करने की शक्ति थी, पश्चात् तदनुगामी हिन्दी आख्यायिकाओं मे भी वही मन्त्र-बल कार्य करता रहा। आज उपन्यासकार स्वकीय दृष्टिकोण के लक्ष्य से ही उपन्यास की रचना करता है, दृष्टिकोण ही मुख्य है भाव नही। यदि आधुनिक उपन्यास मे भावो का यत्र-तत्र सचरण भी मिलता रहे तो भी स्थायी भाव जैसी वस्तु तो होती ही नही। अत रस आधुनिक उपन्यास का अलकार है, प्राण नही।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यासो का वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है। तत्वो के सापेक्षिक महत्व को ध्यान मे रख कर उपन्यास 'घटना-प्रधान', 'चरित्र-प्रधान' तथा 'उद्देश्य-प्रधान' हैं। कथावस्तु मे तथ्यो की सत्यता को दृष्टि मे रख कर उपन्यास 'कल्पना-प्रधान' तथा 'वास्तविकता-प्रधान' कहे जा सकते है। काल की दृष्टि से वे 'ऐतिहासिक' तथा 'सामाजिक' है। कथावस्तु के विशेष गुण को ध्यान मे रख कर 'सामाजिक', 'मनोवैज्ञानिक', 'नैतिक' तथा 'तिलस्मी', 'जासूसी' आदि उपन्यासो के भेद है। शैली की दृष्टि से उपन्यास 'नाटकीय' और 'विवरणात्मक' हो सकते हैं। अन्तर्जगत के सम्बन्ध मे 'भाव-प्रधान', और केवल बहिर्जगत के सम्बन्ध से उनको 'देशकाल-सापेक्ष' वर्ग मे रखा जाता है। उपन्यास के इतने अधिक प्रकार है कि एक सामान्य आधार को लेकर सभी उपन्यासों का वर्गीकरण नही हो सकता; अनेक ऐसे उपन्यास ह जिनको किसी एक ही वर्ग मे रखना सम्भव नही।[2] वस्तुत जितने प्रसिद्ध उपन्यास हैं उतने ही उपन्यास के प्रकार भी माने जा सकते है।

उपन्यास-कला के विकास को दृष्टि मे रख कर कुछ आलोचको ने उपन्यास के

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार, पृ० ९३

२. There are so many varities of novel that it is hard to find for them all a common critical denominator And there are other kinds of narrative which shade into the novel so artfully that it is difficult to know where to draw the line. (The Craft of the Critic p. 120)

तीन मुख्य भेद किए हैं—चरित्र-प्रधान, नाटकीय तथा घटना-प्रधान।[1] हम इन भेदों पर विचार करते हैं।

घटना प्रधान तथा चरित्र-प्रधान

सामान्यतः उपन्यासों के दो भेद किए जा सकते हैं। एक तो वह जिस में कथा-वस्तु का व्यवस्थित विकास हो और पात्र उसी विकास की दृष्टि से जड़ दिए गये हों। दूसरा वह जिस में पात्रों का सुनिश्चित विकास दिखाया गया हो और घटनावली उसी उद्देश्य की पूर्ति करती हो—प्रथम को घटना-प्रधान और द्वितीय को चरित्र-प्रधान कह सकते हैं। प्राय चरित्र-प्रधान उपन्यास की कथावस्तु शिथिल एव सरल होती है और घटना-प्रधान उपन्यास की सुगठित[2]। ये दोनों भेद सिद्धान्त रूप से जितने स्पष्ट हैं व्यवहार में उतने नहीं, क्योंकि सामान्यतः उपन्यासो में ये दोनो ही प्रवृत्तिया मिलती हैं। घटना-प्रधान उपन्यासों में भाग्य या संयोग का बडा महत्त्व है और पाठक उस मे आँख मूँद कर विश्वास कर लेता है।

चरित्र-प्रधान तथा नाटकीय

चरित्र-प्रधान उपन्यास की एक मुख्य विशेषता है यथार्थ और आदर्श मे विरोध —जैसे लोग दिखाई पडते हैं और जैसे वे वस्तुतः है, उनके इन दोनो रूपो का अन्तर[3]। इसके विपरीत नाटकीय उपन्यास भासमान (appearance) तथा वास्तविक (Reality) की एकता दिखलाता है और इस बात पर बल देता है कि पात्र और उनकी क्रियाएं अभिन्न हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यास का कार्य पहले एक पात्र से प्रारम्भ होता है और फिर धीरे-धीरे विस्तृत होता चला जाता है। इसके विपरीत नाटकीय उपन्यास का कार्य कम से कम दो या अधिक पात्रों से प्रारम्भ होता है और सघन होता रहता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास में जो पात्र लिए जाते हैं उन पर परिवर्तित दृश्यो का प्रभाव विशेष परिवर्तन नही लाता, परन्तु नाटकीय उपन्यास में विविधता की प्रवृत्ति पाई जाती है क्योंकि नाटकीय उपन्यास भिन्न-भिन्न अनुभवो का चित्र है और चरित्र-प्रधान उपन्यास जीवन के भिन्न-भिन्न रूपो का[4]।

---

१. "...prose fiction into three main divisions —the character novel, the dramatic novel and the chronicle..." (Edwin Muir p. 146)

२. ...it has been a convention that the plot of a novel of character should be loose and easy As in the novel of action the characters are designed to fit the plot... (Edwin Muir p 27)

३. The novel of character brings out the contrast between appearance and reality, between people as they present themselves to the society and as they are (Ibid p. 47)

४. The dramatic novel is an image of modes of experience, the character novel is a picture of modes of existence. (Ibid p. 59)

नाटकीय उपन्यास में न तो पात्र कथावस्तु के साधन होते हैं और न कथावस्तु पात्रों के चारो ओर बुना हुआ ढांचा। प्रत्युत दोनों एक दूसरे से अपृथक् भाव से मिले होते हैं। इस तरह नाटकीय उपन्यास दुःखान्तकी (Tragedy) के अधिक उपयुक्त हैं और चरित्र-प्रधान उपन्यास सुखान्तकी के। कथावस्तु और पात्रो का यह विशेष सम्बन्ध नाटकीय उपन्यास को घटनाप्रधान और चरित्र-प्रधान उपन्यासो से पृथक् करता है। नाटकीय उपन्यास में आकस्मिकता अधिक रहती है इसीलिए उसमें जीवन का एक ही खण्ड दिखाया जा सकता है[1]। नाटकीय उपन्यास का अन्त उस समस्या का सुझाव होता है जो कार्य में गति लाती है[2], या मृत्यु होती है। प्रायः यही दो सम्भव अन्त नाटकीय उपन्यास के हुआ करते है।

घटना-प्रधान उपन्यास की सबसे बडी शक्ति है पाठक के मन पर ऐसा प्रभाव डालना कि वह अपने कथा के पात्रो से एकीकरण करके उनके साहसिक कार्यों मे स्वयं आनन्द लेने लगे। ऐसे उपन्यास प्रायः जासूसी हुआ करते हैं, इनका प्राण कुतूहल एवं विचित्रता है। पश्चिम में ऐलेन पो ने सर्वप्रथम सन् १८४१ मे जासूसी उपन्यास लिखा था।

ऐतिहासिक उपन्यास

उपन्यास में इतिहास के योग से एक विशेष सौन्दर्य की सृष्ट हो जाती है। कथा-वस्तु की परीक्षा के दृष्टिकोण से ऐतिहासिक उपन्यास तीन प्रकार के हो सकते हैं, एक, युग-प्रतिनिधि, दो, व्यक्ति-प्रतिनिधि, और तीन, अतिरंजनकारी। युग-प्रतिनिधि उपन्यास इतिहास के विस्मृत युग का चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। उस में लेखक का व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही मुख्य है क्योंकि अधिकाश सामग्री कल्पित हुआ करती है; हिन्दी मे 'राहुल' जी के उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। व्यक्ति-प्रतिनिधि ऐतिहासिक उपन्यास विस्मृत ऐतिहासिक व्यक्तियो का कल्पनात्मक वर्णन करता है, हिन्दी मे 'इरावती' इसी वर्ग का है। अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास अतिरजनकारी या शुद्ध ऐतिहासिक होते है; इनमे विस्मृत युग या व्यक्ति आधार नहीं बनाये जाते परन्तु इतिहास में उल्लिखित चित्रो को ही साहित्यिक अतिरजना से चित्रित किया जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास इसी कोटि के हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में आलोचकों का दूसरा मत भी हैं, वे इस को निरादर की दृष्टि से देखते हैं और उपन्यास के इस वर्ग को असफल इतिहास और असफल उपन्यास दोनो का कृत्रिम मिश्रण कह देते है।[3] वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यास

---

१. सीताराम चतुर्वेदी—पृ०

१. The end of any dramatic novel will be a solution of the problem which sets the events moving. (Edwing Muir p. 58)

३. ...the historical novel is bad history and worse fiction; that it falls between the two modes, and succeeds in being neither one nor the other. (Craft of the Critic p. 121)

की रचना मननसाध्य है, विस्तृत अध्ययन के उपरान्त उस युग की चिरकालीन भावना करके ही लेखक उस युग का प्रभावपूर्ण चित्र उपस्थित कर सकता है। यदि लेखक में उतनी सामर्थ्य नहीं है तो वह ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का दुस्साहस क्यों करे—ऐसे असफल लेखक अपने ही युग की बात लिखे तो अच्छा है[1]। परन्तु आलोचकों का यह सोचना अधिक सारगर्भित नहीं, जो समकालीन परिस्थितियो का सफल भावन कर सकता है वह पूर्वकालीन का भी; प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट अपनी कल्पना के द्वारा दूसरे स्थानो का इतना यथातथ्य एवं आकर्षक वर्णन करता था कि प्रत्यक्ष द्रष्टा को भी अपने निरीक्षण के कच्चेपन का अनुभव होने लगता था। जो बात विगत इतिहास के विषय में कही गई है वही भावी इतिहास पर भी लागू होती है, 'राहुल' जी का 'बाईसवीं सदी' इसी श्रेणी का उपन्यास है जिसमे व्यक्तिगत भावनाओं के आधार पर भविष्य की मनोरम कल्पना की गई है। भावी इतिहास के उपन्यास निरीक्षण पर निर्भर नही प्रत्युत अभिव्यक्ति और वर्णन की अनुभूत सचाई पर निर्वाह करते है।

मनोवैज्ञानिक

बहिर्जगत के उपन्यास घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान आदि वर्गो मे विभक्त किये जा चुके हैं, अन्तर्जगत के उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कहा जाता है क्योकि इनमे मन और हृदय के रहस्यों का ही उद्‌घाटन होता हैं। इस वर्ग के उपन्यास बाह्य घटनाओं और कथोपकथन आदि को मनोजगत् के प्रत्यक्षीकरण का साधन बनाते है। कृतिकार स्त्री और पुरुष के अन्तस्थल में झाक कर अनेक निगूढ तथ्यो का विश्लेषण कर सकता है और हृद्‌गति में कारण-स्वरूप बने हुए तथ्यो को चित्रित कर देता है। सामान्यत: मनोवैज्ञानिक कलाकार उपन्यास की अपेक्षा मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व मानकर समस्याओं के मूलभूत मानसिक कारणो का वर्णन और समस्याओं के फल-स्वरूप होने वाले मानसिक परिवर्तनो के चित्रण मे रुचि रखता है।

पश्चिम के प्रभाव से हिन्दी में भी मनोविज्ञान के प्रति एक विशेष आकर्षण बढ़ रहा है और साहित्य के दूसरे रूपो की अपेक्षा कथा-साहित्य में इसका अधिक आग्रह है। या तो असामान्य मन की गति-विधि और उसका व्यावहारिक जीवन पर प्रभाव उपन्यास का विषय है या विशेष परिस्थितियो की मनोवैज्ञानिक छाया में व्याख्या कलाकार का अभीष्ट है।

यहाँ तक ध्यान रखना आवश्यक-सा है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास अत्यन्त संकीर्ण बन जाता है क्योकि उसमें मनोजगत् के अखिल रहस्यो का नही प्रत्युत कुछ नये सिद्धान्तों का ही सारस्वत वर्णन होता है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों मे हीनता-ग्रन्थि को किसी न किसी रूप मे आधार माना गया है या सेक्स को, बालमनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान आदि शाखाएँ तो नितान्त ही अछूती पडी हुई हैं। 'सेक्स'

---

१. Why can't these men write about their own time, about sometime they have seen and felt..... (Ibid)

और 'अहं' इन दो मूल प्रवृत्तियों को मानवीय अन्तःकरण का संचालक मानकर कलाकारो ने उपन्यासों की रचना की है और समाज के निरीक्षण की अपेक्षा अपवादो की व्याख्या इन उपन्यासकारों की विशेषता रही है।[1]

वैज्ञानिक उपन्यास

आजकल भावना के स्थान पर बुद्धि और ज्ञान के स्थान पर विज्ञान का प्रचार साहित्य के क्षेत्र मे बढ रहा है और उपन्यास ने इत परिवर्तन मे सबसे अधिक सहयोग दिया है। घटना, चरित्र, इतिहास, मनोविज्ञान आदि मानवीय जगत् से सम्बन्ध रखने वाले विषयों के स्थान पर ज्ञान-विज्ञानात्मक रहस्य उपन्यास का विषय बनने लगे हैं और वैज्ञानिको की अनुसन्धानपूर्ण कल्पना का साहित्यिक विस्तार करके कलाकार उपन्यासो की रचना करता है। ये उपन्यास जासूसी उपन्यासो के समान घटना-वैचित्र्य से आक्रान्त तो नहीं होते परन्तु वर्णन-वैचित्र्य इनकी मुख्य विशेषता है और इनको विज्ञान का ऐसा सबल अवलम्बन मिल जाता है कि वे किसी भी सीमा तक बढ सकते हैं। हिन्दी में 'चन्द्रलोक की यात्रा', 'मंगल ग्रह का मानव' 'यन्त्र मानव' आदि उपन्यास इसी वर्ग के हैं। वैज्ञानिक उपन्यास का उद्देश्य विज्ञान के ज्ञान को साहित्यिक माध्यम से पाठक तक पहुँचाना है, ज्ञान और साहित्य इन दोनो का संतुलन ही वैज्ञानिक उपन्यास का चरम लक्ष्य है।

कलात्मक उपन्यास

पश्चिम मे फ्लाबर्ट तुर्गनेव जेम्स, और कानरेड आदि उपन्यासकारों ने जो उपन्यास लिखे हैं उनका विषय निश्चित और सीमित होता है। उन लेखको के विचार में उपन्यास मे कला की ही विशेषता होती है और उसकी कथावस्तु कलात्मक रीति से निर्मित की जाती है, एकमात्र प्रभाव को चित्रित करने के लिए ऐसे उपन्यासों की रचना होती है। इन उपन्यासो को आर्ट नावल (Sago) कहते हैं। प्रश्न यह है कि क्या उपन्यासकार व्यापक जीवन मे से जिस अंश को चुनता है उसके भी केवल एक पक्ष का अकन करे और जीवन की अखण्डता को छिन्न-भिन्न कर दे, अथवा अखिल जीवन का व्यापक चित्र प्रस्तुत करे ? कथावस्तु की व्यवस्था पर ही इस प्रश्न का उत्तर निर्भर है। कलात्मक उपन्यास जीवन से उतनी घनिष्ठता नही मानता जितनी कि कला से। इसलिए यह विशेषज्ञो का ही विषय बन गया है।

●

---

१. What a psychologist would call a case study, is to the novelist a final end in itself. (S. Stephen Smith p. 166)

२. सीताराम चतुर्वेदी : पृ० ६७८

: २ :

हिन्दी-उपन्यास

हिन्दी उपन्यास—उपक्रम

'उपन्यास' या 'नॉवेल' के स्वरूप का अध्ययन करने के उपरान्त यह आवश्यक है कि भारतीय कथा-साहित्य से उसकी सगति पर विचार किया जाय। हिन्दी-उपन्यास को भारतीय कथा-परम्परा का विकास-मात्र स्वीकार करना एक भ्रान्त धारणा का समर्थन करना है क्योंकि वह निश्चय ही यूरोप से बगाल होकर हिन्दी-क्षेत्र में आया है। फिर भी हिन्दी-उपन्यास के अध्ययन मे उस कथा-साहित्य का महत्व निर्विवाद है जिसने उन प्रवृत्तियो का रक्षण और पोषण किया जो १९वी शती में उपन्यास के लेखक को सुलभ हो सकीं। यदि हिन्दी-उपन्यास के सभी तत्कालीन लेखक अग्रेजी और बगला के अच्छे विद्वान् होते तो उनके विषय मे यह सम्भावना की जा सकती थी कि उन्होने उन भाषाओं की समृद्धि से प्रभावित होकर हिन्दी में भी उसी प्रकार की राशि एकत्र करनी प्रारम्भ कर दी। परन्तु स्थिति वैसी नहीं है। इसलिए ऐसा लगता है कि लेखकों की प्रेरणा का उत्स जिस मात्रा में नवीनता है, उससे अधिक मात्रा में पाठको की रुचि है। लेखकगण देश की साहित्यिक प्रगति से अपरिचित नही थे। परन्तु उस परिचय का प्रभाव कथा-रूप (उपन्यास नाम) पर ही है; यथार्थ में तो जनता की कथा-विषयक-वासना इन दिनों इतनी प्रबुद्धि थी कि जो तनिक भी सहयोग दे सकता था वह उपन्यास के क्षेत्र में आ गया और उसका स्वागत किया गया। राजनीतिक प्रगति से उदासीन हिन्दी-प्रदेश के केन्द्रीय नगरों में प्रकाशन-केन्द्र खुल गये, उपन्यास-पत्रिकाएं निकलने लगीं; और बांकेलाल चतुर्वेदी[1] तथा विट्ठलदास नागर[2] जैसे व्यक्ति उपन्यासकार बन गये। अस्तु, आधुनिक युग तक का संक्षिप्त अध्ययन करने के लिए कथा-साहित्य के आधुनिक युग से पूर्व तीन काल हो सकते हैं :—

(क) प्राचीन कथा-साहित्य
(ख) मध्ययुगीन कथा-साहित्य
(ग) खड़ी बोली की उपन्यास-पूर्व कहानियां

---

१. दे० पञ्चम अध्याय
२. दे० वही

प्राचीन कथा-साहित्य

मनुष्य का विकास उसकी सामाजिकता में निहित है। इसलिए वह स्वभाव से ही दूसरे की सुनने और अपनी सुनाने को प्रस्तुत रहता है। यही कथा का बीज है, जिस का प्रथम निदर्शन संस्कृत के प्राचीन धार्मिक-साहित्य में उपलब्ध होता है। वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद् और पुराण सबमें संवाद और आख्यान भरे पड़े हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' भी कथा-काव्य ही हैं। परन्तु उक्त साहित्य कथा-तत्व के लिए महत्त्वपूर्ण है, क साहित्य नाम के लिए नही।

संस्कृत-साहित्य

कथा-साहित्य के संस्कृत में दो रूप हैं—नीतिकथा एवं रंजनकथा। पाठकों को सामान्य नीति का उपदेश देने के लिए बीच-बीच में श्लोकों से युक्त गद्य-कथा नीति-कथा थी, इसके उदाहरण 'पचतन्त्र' और 'हितोपदेश' हैं। इनमें पद्य-भाग प्रायः उद्धृत है, गद्य-भाग रचित; मूल-कथा के भीतर अनेक उपकथाएं प्रायः किसी पद्य के टांके से जुडी हुई हैं; पशु-पक्षियो में भी मानव-गुणों और मानव-व्यवहार की कल्पना कर मानव को उनके माध्यम से उपदेश दिया गया है। रजन-कथाओ के दो रूप हैं—साहित्यिक और लौकिक। साहित्यिक रजनकथाओं की 'आख्यायिका' और 'कथा' दो संज्ञाएं हैं (जिन पर अन्यत्र विचार किया जाएगा); इनके उदाहरण हैं, 'दशकुमारचरित', 'अवन्तिसुन्दरी कथा', 'वासवदत्ता', 'हर्ष चरित', 'कादम्बरी', आदि। ये रचनाएं कला-पूर्ण है, इनमें कथा-तत्व और सौन्दर्य-तत्व का समान संयोग है। लोक-रंजन-कथाओं में 'बृहत्कथामंजरी, 'कथा-सरित्सागर', 'शुक सप्तति', 'वेतालपंशविंशति', और सिंहासन द्वात्रिंशिका' आदि हैं। इनकी मूल प्रेरणा गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' है। इनका उद्देश्य कौतूहल और मनोरजन है। इनका न साहित्यिक स्तर बहुत अच्छा है न सामाजिक स्तर; तथ्य न इस लोक के है और न विश्वसनीय हैं, समस्त कथानक अतिरंजित यथार्थता से भरा हुआ है। इस साहित्य का विदेशी भाषाओ मे भी अनुवाद हुआ और विदेश में 'अलिफलैला' जैसी अमरकथाओ को इसने जन्म दिया।

प्राकृत साहित्य

वास्तव में लोक-रजन-साहित्य का उद्गम संस्कृत में न मिलकर पैशाची भाषा में पाया जाता है। किम्वदन्ती है कि राजा शातवाहन के शासन-काल में गुणाढ्य पण्डित ने बृहत्कथा' को पैशाची भाषा में सूखे चर्म पर रक्त की स्याही से लिखा था, इसके सात भागो में ७ लाख श्लोक थे, जब पुस्तक का उचित स्वागत[1] न हुआ तो कवि

---

१. अवमानावधूतां तां कृत्वा मौनी बृहत्कथाम्।
व्याख्याय शिष्यसहितो गुणाढ्यो वाचयत् स्वयम्।८९।
(बृहत्कथामञ्जरी, प्रथम लम्बक, कथापीठ)

ने इसको जलाना प्रारम्भ कर दिया, छः भाग जल चुके थे तब राजा को पता लगा और वह कवि महाराज को मना कर ले आया। आज अपने मूल रूप में 'बृहत्कथा' उपलब्ध नहीं है; आठवी-नवीं शताब्दी[1] तक यह प्राप्य थी, इस के सप्तम अंश को संस्कृत में बुद्धस्वामी ने 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्कथामंजरी', और सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' नामसे सुरक्षित रखा है। क्षेमेन्द्र के प्रमाण से सिद्ध है कि उस समय अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का साहित्य तो था पैशाची का[2] नही। गुणाढ्य पण्डित पिशाच-संस्कृति के बीच गये और उनकी कथाओ को उनकी भाषा में गुणाढ्य ने निबद्ध कर लिया, गुणाढ्य की मृत्यु के बाद वह कथा खण्डित ही मिल सकी। गुणाढ्य की कृति के विषय में कोई भी अनुमान सदोष होगा, परन्तु क्षेमेन्द्र की कृति से ऐसा लगता है कि जीवन के अभद्र, यथार्थ, कौतुकपूर्ण और अतिमानवीय चित्रण का सूत्रपात पैशाची भाषा से ही हुआ था। 'कथा' रूप पहिले भी प्रचलित रहा होगा, जिससे गुणाढ्य की कृति 'बृहत्कथा' कहलाई। यह कृति सामान्यत: कथात्मक (नेरेटिव) है, इसमें किसी भी प्रकार की कृत्रिम कला नही है। आज की दृष्टि से 'बृहत्कथा' का कथानक बड़ा शिथिल है, चरित्र-चित्रण मानवेतर लोक का है, वातावरण काल्पनिक, और शैली कलाहीन है। पशुपक्षिओ की कथाएं भी इसी के परिवार की है।

पालि साहित्य

पालि-साहित्य में भी कथा का रूप पाया जाता है। 'सुत्तपिटक' के 'खुद्दकनिकाय' में कथा-साहित्य के तीन ग्रन्थ 'थेरागाथा', 'थेरीरागाथा', और 'जातक' है। 'जातक' में धर्म-दृष्टि ही मुख्य है, परन्तु उसकी कला मे पर्याप्त साहित्यिकता है जो उसे 'गाथा' आदि से पृथक् कर देती है। भगवान् बुद्ध को जब सम्यक्ज्ञान हो गया, तो उनको अपने पूर्व जन्म भी उपस्थित हो गये; यथाप्रसंग उन पूर्व-जन्म-वृत्तान्तो को वे भिक्षुओ के प्रति कहा करते थे। ये कथाएं 'जातक' नाम से प्रसिद्ध हो गई। जातक-कथाए वस्तुत: लोक-प्रचलित कथाओं का ही परिवर्तित रूप हैं, जिनके अन्त में गौतम बुद्ध स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। ये कथाएँ गद्य में हैं, परन्तु बीच-बीच में पद्य (गाथा) भी आ जाता है; इनमें भूतकाल का वर्णन है; इनका प्रकाशन स्वयं गौतम के मुख से हुआ होगा, आगे शिष्यो ने संग्रह कर लिया। मानव के अतिरिक्त इनके पात्र पशु-पक्षी भी हैं। इन कथाओ की सबसे बड़ी विशेषता सामयिक जीवन का यथार्थ चित्रण है। जातक-कथाओं का प्रचार देश-देशान्तरो में हुआ, और सर्वत्र इनके अनुकरण पर कहानियाँ लिखी गईं। इसमे सन्देह नही कि गद्य का माध्यम और सामयिक जीवन का चित्र—ये दो विशेषताएं जातको मे ऐसी हैं जो आज भी कहानी-उपन्यास में मुख्य मानी जाती है। परन्तु कथ-

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५६

२. श्रुत्वा देवीप्रसादेन त्यक्तभाषात्रयोऽप्यहम्।
पैशाचिमनपभ्रंश-संस्कृत-प्राकृतमा श्रित:।५१।

(बृहत्कथामञ्जरी, प्रथम लम्बक, कथापीठ)

नात्मक (नेरेटिव) शैली एवं पशु-पक्षी-पात्र इनको आज के कथा-साहित्य से दूर कर देते हैं। पालि-साहित्य ने जनता की कथा-विषयक रुचि को तो तीव्र बनाया परन्तु कथा-रूप को साहित्यांग के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व सा प्रदान न किया। जो आलोचक उपन्यास-कहानी का उद्गम स्थल 'जातकों' को ठहराते हैं उनका अभिप्राय यही मानना चाहिए कि समकालीन जीवन का वास्तविक चित्र भारतीय साहित्य में 'नॉवेल' से ही नहीं आया, हमारे प्राचीन साहित्य में भी बहुमात्रा में विद्यमान है। किन्तु जातकों का सम्बन्ध उपन्यास से रंचक मात्र भी नही है।

अपभ्रंश साहित्य

पातजल महाभाष्य में उल्लिखित होने के कारण 'अपभ्रंश' शब्द तो ईसा से पूर्व का है, और भाषा-विशेष के अर्थ में आचार्य भामह से इसकी गणना है, परन्तु अपभ्रंश का उपलब्ध साहित्य ८वी शती से पाया गया है। इस साहित्य के एक अग—पूर्वी अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्यमे तो कथा-साहित्य का प्रश्न नही आता परन्तु पश्चिमी अपभ्रंश जिन प्रबन्धकाव्यो से भरा हुआ है, उसके तीन भेद 'चरित', 'कथा', और 'पुराण' है। अपभ्रंश के पुराण, शैली मे, सस्कृत-पुराणो के समान ही है, और 'चरित' एव 'कथा' को सस्कृत की 'आख्यायिका' एव 'कथा' के समान समझना चाहिए। 'आख्यायिका' और 'कथा' के अन्तर पर आगे विचार किया जायेगा।[1] यहां इतना ही अभीष्ट है कि पश्चिमी अपभ्रंश के 'चरित' और 'कथा' साहित्य-रूप सस्कृत के ही अनुकरण जान पड़ते है, परन्तु इन 'चरित' और 'कथा' का पारस्परिक अन्तर बहुत स्पष्ट नही है—कदाचित् व्यक्तियो के आश्रय से जो कथा लिखी जाती थी उसे 'चरित' ('चरिउ') कहते थे, जैसे 'पउम चरिउ', 'जसहर चरिउ', 'करकण्डु चरिउ' आदि। इसके विपरीत दृष्टान्त-रूप मे लिखी गई कथा 'कथा' ('कहा') कहलाती थी, जैसे 'भविसयत्त कहा' जो ज्ञानपचमी के व्रत का दृष्टान्त बनाकर लिखी गई है।

अपभ्रंश-काल के अन्तिम चरण मे विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' नाम की एक पुस्तक लिखी जिसकी अपभ्रंश भाषा मे संस्कृत और प्राकृत भाषाओ का भी मिश्रण है। कवि ने इस रचना को 'काहाणी' कहा है, यह पुस्तक उस युग के गुणानुवादमूलक[2] चरितकाव्यो मे सबसे अधिक प्रामाणिक है। 'कीर्त्तिलता' से तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम, कि 'कहा' और 'चरिउ' दोनों के गुणो का मिश्रण 'काहाणी' में हो गया था; द्वितीय, कि लोक भाषाओ में 'कहा' और 'काहाणी' के लिए पद्य ही माध्यम था; और तीसरा, कि 'काहाणी'[3] से हिन्दी के 'कहानी' और बगला के 'काहिनी' शब्दो का विकास है—मध्ययुगीन 'कहानी' मे तो इस 'काहाणी' की प्रवृत्तियाँ भी प्रतिबिम्बित हुई हैं। अस्तु, अपभ्रंश के तीन कथा-रूपों 'चरित', 'कथा', और 'कहानी' में से प्रथम दो, संस्कृत-

१. दे० पृ० ५०
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ५९
३. कथा-कहा, कथनी-(कथनिका)-कहनी-कहणी-काहाणी-काहिनी-कहानी एक ही विकास की भिन्न-भिन्न स्थितियां हैं।

कथा रूपों के अनुकरण हैं (जिस पर आगे विचार किया जाएगा[1]), केवल 'कहानी' मौलिक है जिसकी परम्परा मध्ययुग में दृष्टिगत होती है परन्तु जिसका सम्बन्ध आधुनिक युग से नही जोड़ा जा सकता।

शास्त्रीय अभिमत

प्राचीन भाषाओ के इस कथा-साहित्य पर काव्यशास्त्रियो ने भी विचार किया है और इनको 'कथा', 'आख्यायिका', तथा 'आख्यान' (या 'आख्यानक') नाम दिये हैं। शैली की दृष्टि से आचार्य भामह के मत मे काव्य के ५ भेद हैं—'सर्गबन्ध', 'अभिनेयार्थ', 'आख्यायिका', 'कथा' एव 'अनिबद्ध'। 'आख्यायिका' की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(क) गद्य के उच्छ्वासो[2] में विभक्त
(ख) नायक द्वारा स्वचेष्टित का वर्णन
(ग) वृत्तान्त भावी समृद्धि का सूचक

इसके विपरीत 'कथा' की विशेषताएं हैं :—

(क) कवि-कल्पित कथानक[3]
(ख) संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा
(ग) उच्छ्वासों में विभाजन नहीं
(घ) नायक अपना वर्णन स्वयं नही करता

'आख्यायिका' का माध्यम गद्य होता है, 'कथा' के लिए यह आवश्यक नही[4]। 'आख्यायिका' का विभाजन 'उच्छ्वासों' में होता है, 'कथा' का नहीं। 'आख्यायिका' में नायक स्वयं स्वचेष्टित का वर्णन करता है, 'कथा' का कथानक कवि कल्पित होता है।

---

१. दे० पृ० ५२

२. गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता। २५।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं च परवक्त्रं काले भाव्यर्थशंसि च ॥२६॥
(काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद)

३. कवेरभिप्रायकृतैः कथानैः केश्चिदङ्किता ।२७।
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता, नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृतं सस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा ॥२८॥
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते। (वही, वही)

४. भामह ने स्पष्ट रूप से 'कथा' के माध्यम का निर्देश नहीं किया, परन्तु 'आख्यायिका' के लिए गद्य का आग्रह करने से, 'कथा' का माध्यम गद्येतर हो सकता है—यह संकेत है। आगे चलकर विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के षष्ठ परिच्छेद में 'कथा' के लिए भी गद्य पर जोर दिया है—'कथायां सरसं वस्तु, गद्यैरेव विनिर्मितम्'। विश्वनाथ की दृष्टि में कदाचित संस्कृत की कथाए (वासवदत्ता, कादम्बरी) ही थीं। हेमचंद्र ने 'काव्यानुशासन' के अष्टम अध्याय मे गद्य-युक्ताख्यायिका', और 'गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा' लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि 'कथा गद्य और पद्य दोनों मे हो सकती है'—गद्यमयी कथा का उदाहरण 'कादम्बरी' और पद्यमयी का 'लीलावती' है—उनके सामने संस्कृतेतर भाषाओं की कथाए भी थीं।

'आख्यायिका' संस्कृत में लिखी जाती है, 'कथा' सभी भाषाओं में। हेमचन्द्र ने इन सभी विशेषताओं का सूत्ररूप[1] में संकलन करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है (जो भामह में साकेतित था) कि 'आख्यायिका' का नायक धीरोद्धत और 'कथा' का धीरप्रशान्त होता है। 'आख्यायिका' का सर्वमान्य उदाहरण 'हर्षचरित' है।

आचार्य दण्डी ने भामह के मत का खण्डन किया और इस मत की स्थापना की कि 'कथा' और 'आख्यायिका' एक ही जाति के दो अलग-अलग नाम हैं :—

'एक को स्वयं नायक कहता है, दूसरी (कथा) को कहीं नायक और कहीं कोई और; जब नायक भूतार्थ का कथन करेगा तो उसमें अपने गुणों का कथन भी करेगा; कहीं-कहीं आख्यायिका को भी नायिकेतर कहते हैं; इससे अन्तर क्या आता है कि वक्ता नायक है या अन्य कोई; इसलिए 'कथा' और 'आख्यायिका' इनकी संज्ञाएं दो हैं जाति एक ही है[2]।

दण्डी का यह खण्डन चल न सका, और उनके बाद भी संस्कृत में 'कथा' एवं 'आख्यायिका' नाम दो भिन्न जातियों के बोधक बने रहे। इतना ही नहीं शेष 'आख्यान'[3] जातियां भी, कम से कम साहित्य-शास्त्रियों के लिए विवेच्य बनीं रहीं। द्वादश शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने 'आख्यान' (प्रबन्ध के मध्य में पर-प्रबोधनार्थ रचित), 'निदर्शन' (पशु-पक्षी वा इतर की चेष्टाओं से जहां कार्य और अकार्य का निदर्शन हो), 'प्रवाह्लिका' (अर्धप्राकृत में रचित दो के विवाद का वर्णन), 'मतल्लिका' (प्रेत महाराष्ट्रभाषाओं में रचित क्षुद्रकथा), 'मणिकुल्या' (पूर्व-वस्तु का जहा पश्चात् प्रकाशन हो), 'परिकथा' (बहुत से प्रतियोगियों की बारी-बारी से कथा), 'खण्डकथा' (ग्रन्थान्तर प्रसिद्ध इतिवृत), 'सकलकथा' (चरित), 'उपकथा' (एक चरित के आश्रय से प्रसिद्ध कथा का कथन)[4] भेदों का वर्णन किया है। सम्भवत: इनमें से अधिकतर भेद सस्कृतेतर भाषाओं में देखे जाते थे। अस्तु, संस्कृत-कोषकार की दृष्टि में 'आख्यायिका' और 'कथा' दो मोटे भेद ही थे; इनका स्थूल अन्तर यह है कि आख्यायिका' सत्यार्थविषयिणी[5] कथा को कहते है,

१. नायक-ख्यात-स्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादिः सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ता-ख्यायिका।
धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।
(काव्यानुशासनम्, अष्टम अध्याय)

२. नायिकेनैव वाच्या, नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥२४॥
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्येरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति की दृग्वा भेदकारणम् ॥२५॥
तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ॥२८॥
(काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद)

३. अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।२८। (वही, वही)

४. काव्यानुशासनम्, अष्टम अध्याय।

५. आख्यायिकोपलब्धार्था। (अमरकोष)

और कल्पित प्रबन्धवाली[1] का नाम 'कथा' है।

संस्कृत में साहित्यिक गद्य के सब से श्रेष्ठ रचयिता बाणभट्ट हैं। उन्होंने 'हर्ष-चरित' और 'कादम्बरी' दो गद्य काव्य लिखे हैं; प्रथम को 'आख्यायिका'[2] और द्वितीय को 'कथा'[3] संज्ञा दी है—जो सभी आचार्यों ने स्वीकार भी की हैं। 'हर्षचरित' संस्कृत-गद्य में है, इसका विभाजन उच्छ्वासों में है, नायक ने स्वय अपने जीवन की सच्ची घटना का वर्णन किया है जो भावी समृद्धि का संकेत भी देती है। 'कादम्बरी' भी संस्कृत गद्य में है, परन्तु उसका विभाजन उच्छ्वासों में नहीं है; कथानक कवि-कल्पित है। 'कादम्बरी' में जहां काव्य-नाटक की चर्चा आती है, वहा साथ में 'आख्यायिकाख्यानक'[4] का कथन है, 'कथा का नहीं। 'कथा' का प्रयोग दो बार प्रारम्भिक छन्दों में अपनी कृति की जाति बताने के लिए है, और आगे पुराणेतिहास[5] की घटनाओ के लिए या सामान्य घटनात्मक[6] बातचीत के लिए आया है। इन उल्लेखो से ऐसा सकेत मिलता है कि बाणभट्ट के समय में 'आख्यायिका' नामक साहित्य अधिक साहित्यिक और कलात्मक[7] समझा जाता था, उसकी गणना 'काव्य' और 'नाटक' के बाद होती थी; परन्तु 'कथा' साहित्य की अपेक्षा लोक और धर्म से अधिक घनिष्ठ थी, घटनाओ के कौतुक[8] और रमणीयता में कला का उत्कर्ष उतना सभव न था।

संस्कृत, प्राकृत, पाली, और अपभ्रंश के कथा-साहित्य पर दृष्टिपात करके हम ने देखा कि किसी भी धारा या कृति से आज के उपन्यास का सम्बन्ध नही जोडा जा सकता। इस स्त्रोतस्विनी में कथानात्मक साहित्य के लिए तीन नाम अधिक प्रसिद्ध थे—'कथा', 'आख्यायिका', और 'कहानी'। 'कथा' नाम इतना शिथिल है कि प्रत्येक कथनात्मक रचना को कथा' कहा जा सकता है। "पुराने साहित्य मे कथा शब्द का व्यवहार स्पष्ट रूप से दो अर्थो में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ मे और दूसरा अलंकृत काव्य रूप के अर्थ मे। साधारण कहानी के अर्थ मे तो पचतंत्र की कथाए

---

१. प्रबन्धकल्पना कथा। (वही)

२. करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वा-प्लवन-चापलम्।१९।

३. अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया, धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा।२०।

४. काव्य-नाटका-ख्याना-ख्यायिका-लेख्य-व्याख्यानादि-क्रिया-निपुणैः।
कदाचिदाख्यानक-ख्यायिके-तिहास-पुराणाकर्णनेन ।
काव्य-नाटका-ख्यायिका-ख्यानका-प्रभृतीनामपरिमितानां।

५. पुराणेतिहासकथालापनिपुणः।

६. मित्रैश्च सह तास्ताः कथाः कुर्वन् मुहूर्तमिवासांचक्रे।

७. सुखप्रबोधललिता सुवर्णघटनोज्वलैः।
शब्दैराख्यायिका भाति शय्येव प्रतिपादकैः।२०। (हर्षचरितम्)

८. करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।८।
यदि कौतुकमाकर्ण्यतां।
श्रूयतां यदि कौतूहलम्। (कादम्बरी)

भी कथा हैं, महाभारत और पुराण के आख्यान भी कथा है और सुबाहु (सुबन्धु) की वासवदत्ता, बाण की कादम्बरी, गुणाढ्य की बृहत्कथा आदि भी कथा हैं। परन्तु विशिष्ट अर्थ में यह शब्द अलंकृत गद्यकाव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।"[1] शेष दो नामों में से 'आख्यायिका' अत्यन्त कलापूर्ण होने के कारण बहुत आगे तक न चल सका, क्वचित् इस के स्थान पर 'चरित' शब्द का भी प्रयोग हुआ। केवल 'कहानी' शब्द ही मध्ययुग और आधुनिक युग तक चल रहा है, यद्यपि उसका रूप बदल गया है। 'उपन्यास' नाम से पूर्व कथा और कहानी नाम चलते थे, परन्तु दोनो के अभीष्टार्थ मे अधिक अन्तर न था; 'आख्यायिका' नाम आजकल कई बार छोटी कहानी के लिए आया है, परन्तु वह न तो शास्त्र के अनुकूल है और न आख्यायिका की परम्परा मे ही ठीक बैठता है।

'कहानी' और 'उपन्यास' आधुनिक युग की उपज हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में ही क्यो, विश्व के किसी भी प्राचीन साहित्य में उपन्यास जैसी कोई वस्तु नही मिलती।[2] अत: यह कहना उचित नहीं कि 'इन्ही के क्रमिक विकास तथा अन्य-देशीय प्रभाव को लेते हुए वर्तमानकाल के उपन्यास-साहित्य ने उत्कर्ष प्राप्त किया है[3]; 'यह धारणा गलत है कि उपन्यास और कहानिया संस्कृत की कथा और आख्यायिका की सीधी सन्तान हैं'[4]। इतना अवश्यक है कि इस नवीन रूप के आ जाने पर जब नामकरण की समस्या आई तो हमारे साहित्यिक सर्वप्रथम संस्कृत के पास पहुँचे और उसके आधार पर 'कथा', 'उपाख्यान', 'उपकथा', 'कादम्बरी', 'आख्यायिका' आदि नामों का व्यवहार करने का प्रयत्न किया गया। अस्तु, 'आख्यायिका' और 'कथा' दोनो की कुछ विशेषताएं 'उपन्यास' में अवश्य मिलती हैं। 'आख्यायिका' के समान 'उपन्यास' गद्य में लिखा जाता है और इसका विभाजन अध्यायो में होता है, परन्तु न तो नायक स्वयं वर्णन करता है और न भावी समृद्धि की सूचना ही मिलती हैं। 'उपन्यास' में 'कथा' के समान कथानक तो कवि-कल्पित होता है, परन्तु 'कथा' के विपरीत पद्य को स्थान नहीं मिलता। आज के उपन्यास की प्रथम विशेषता मध्ययुगीन सामाजिक शृङ्खला से मुक्ति दिलाकर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का उद्‌बोधन है[5], यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य यन्त्र-युग की विशेष देन है; इसका एक प्रभाव चरित्र-चित्रण में व्यक्ति के वैचित्र्य[6] का चित्रण है। दूसरी विशेषता निम्न-तम श्रेणी के मनुष्य के मन में भी एक प्रकार की आत्ममर्यादा[7] का जग जाना है, जिस के फलस्वरूप एक ओर तो जीवन में असन्तोष और संघर्ष उत्पन्न हो गया है, दूसरी ओर विद्यमान मूल्यो के प्रति अश्रद्धा की भावना जग गई है। यथार्थवाद, वास्तववाद,

१. डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५२
२. श्री श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा, पृ० १
३. श्री ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० ७३
४. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर विचार, पृ० १०३
५. श्री श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा, पृ० १
६. श्री मोहितलाल मजुमदार : बंगला साहित्ये उपन्यास (साहित्य-विचार, पृ० १०३)
७. श्री श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा, पृ० २

आदि के सिद्धान्त इसी लिए उपन्यास के क्षेत्र में आ गये है, जो प्राचीन लोक-साहित्य की पशु-पक्षीमयी कथाओं में इस रूप में प्राप्य नहीं होते। आज का उपन्यास भावना और कल्पना के क्षेत्र को पीछे छोड़कर चिन्तन के क्षेत्र में आ गया है जहां जीवन का वास्तविक चित्र ही अंकित किया जाता है; समस्याओं और चरित्रों का विश्लेषण सत्-असत् के रूप में न करके उनका मनोवैज्ञाकि विश्लेषण उपन्यास-कला की विशेषता है। कथा-साहित्य के इस रूप में आज कथा गौण है और व्यक्तित्व का चित्रण मुख्य। संक्षेपतः आधुनिक उपन्यास नये युग के ज्ञान-विज्ञान से सुसज्जित होकर जीवन की गहराइयो में जीवन के लिए ही प्रवेश करता है। प्राचीन साहित्य में, कम से कम 'कथा' के लिए, इतने बन्धन न थे।

मध्ययुगीन कथा-साहित्य

अपभ्रंश के अस्त होते होते आधुनिक भाषाओं का युग प्रारम्भ हो गया। अपभ्रंश और खड़ी बोली के बीच के युग को साहित्य का मध्ययुग कहा जा सकता है। इस काल में जनता की चित्तवृत्ति वीररस, भक्तिरस और शृंगाररस की ओर कालक्रम से झुकी रही। इस काल में अपार साहित्य का सृजन हुआ, इसमें से एक बडा अनुपात कथनात्मक साहित्य का था। इस साहित्य के सम्बन्ध में पहली समस्या तो यह है कि 'काव्य' और 'कथा' का अन्तर किस प्रकार किया जाए। यदि 'मुक्तक' को अलग कर लें तो बचे हुए 'प्रबन्ध'-ग्रन्थों और 'कथा'-काव्यों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं है; 'पद्मावत' को श्रेष्ठ 'काव्य' भी कह सकते हैं और उत्तम 'कथा' भी। दूसरी समस्या काव्य रूप की है; 'चरित', कथा', 'कहानी', 'उपन्यास', 'मंगल' आदि साहित्य रूपों का इतना शिथिल प्रयोग है कि प्रयोग के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकालना कठिन है। अस्तु, मध्ययुग में हमको सामान्यतः निम्नलिखित मुख्य-मुख्य साहित्य-रूप मिलते हैं:—

(क) रासो
(ख) बात
(ग) चरित (चन्द्रिका)
(घ) मंगल
(ङ) उपाख्यान
(च) कथा
(छ) कहानी

इनके अतिरिक्त सूफी कवियो की कहानियो के नाम केवल नायिका के नाम पर हैं, काव्य-रूप नाम का अंग नही है, जैसे 'पद्मावत', 'इन्द्रावत' आदि। उक्त काव्य-रूपों में 'रासो' और 'बात' (जैसे गोरा-बादल की बात, चन्द्रकुंवर की बात आदि) तो राजस्थानी हिन्दी के हैं, 'मंगल' का सम्बन्ध किसी देवी के विवाह से है, शेष रह गये 'चरित', 'उपाख्यान', 'कथा' और 'कहानी'।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'चरित', 'उपाख्यान', 'कथा' और 'कहानी' ये चारों रूप परम्परा से चले आ रहे थे। इनमें से 'कथा' का शिथिल प्रयोग बाणभट्ट के समय से ही 'धार्मिक कहानियां' या सामान्य घटनाएं अर्थ में होने लगा था, मध्ययुग में 'कथा' शब्द का प्रयोग पुराणों आदि की कथाओं के लिए प्रायः होता था, साथ ही कहीं-

कहीं धार्मिकेतर साहित्य के लिए भी इसका प्रयोग है, देखिए 'चतुर्मुकुट या चित्रमुकुट की कथा', 'मृगावती की कथा', 'सत्यवती की कथा', 'छबीली भटियारी की कथा', 'मकरध्वज की कथा', 'सिंहासनबत्तीसी की कथा' आदि। 'चरित' काव्य-रूप संस्कृत की 'आख्यायिका', और अपभ्रंश के 'चरिउ' का ही रूप है, यह नायक-नायिका के आश्रय से लिखा प्रबन्ध था, मध्ययुग में इसके कथानक के रूप मे इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति या कल्पनाप्रसूत महापुरुष का जीवन ही आ सकता था; जैसे 'रामचरित', 'सुदामा चरित', 'ध्रुवचरित', 'पद्मिनी चरित', 'ऊषा चरित' आदि। 'उपाख्यान' धार्मिक कहानियां थी, जो प्रबन्धकाव्य के रूप मे लिखी जाती रही हैं, जैसे 'माधवानलाख्यानम्'[1], 'नासिकेतोपाख्यान' (सदलमिश्र कृत), 'मदालसोपाख्यान' (भारतेन्दु कृत). आदि। 'कहानी' उस युग का लौकिक कथा-रूप प्रतीत होता है।

तत्कालीन साहित्यिको के प्रमाण पर भी उस समय 'चरित', 'कहानी' और 'उपाख्यान' ही मुख्य 'कथा' रूप थे। सूफी कवियो ने अपनी कथाओ को 'लोक कहानी' और 'प्रेम कहानी' कहा है .—

कोई न रहा, जग रही कहानी। (पद्मावत)
जागहि बालक कहैं कहानी। (चित्रावली)
प्रेम की कहनि लाइ चित गहेऊ। (पद्मावत)
यहौ कहानी प्रेम की, जेहि निसि जाय विहाय। (चित्रावली)
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सवरे दुइ बोल। (पद्मावत)
किलकत बोलत लोक-कहानी। (माधवानल कामकन्दला)
हंस-जवाहिर प्रेम-कहानी। (युसुफ जुलेखा)

इनका काव्यरूप तो 'मसनवी' है, परन्तु इसकी परम्परा 'प्रेम' तथा 'लोक' से सम्बन्ध रखती है। इनके सम्बन्ध मे इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि विदेशी प्रभाव के कारण पूर्वी हिन्दी में जो लौकिक प्रेम-कहानिया लिखी गई उन्होंने जनता के मन पर बहुत काल तक शासन किया और कथा-साहित्य के प्रति रुचि को वृद्धिमती बनाये रखा। कुछ विद्वान् तो यहां तक मानते हैं कि 'ध्यान दे कर देखने से आजकल के उपन्यासो की परम्परा इन प्रेमाख्यानक कवियों के पद्यों से ही आरम्भ होती दिखाई देती है। उन्ही को इनका प्राचीनतम रूप समझना चाहिए। इन कथाओ की रूप-रेखा प्रधानतया उपन्यासों जैसी है। यदि आध्यात्मिकता का पुट न होता तो इन्हें हम साफ-साफ 'रोमांस काव्य' कह सकते[2]। हिन्दी-उपन्यास की परम्परा प्राचीन-कथा-साहित्य या मध्ययुगीय-कथा-साहित्य से उस समय आरम्भ होती मानी जा सकती थी जब उपन्यास उसका सीधा विकास होता या कम से कम उपन्यास का अधिकांश उसी सामग्री से निर्मित होता। मध्ययुगीय परम्परा लोकजीवन का प्रतिबिम्ब होने के कारण वास्त-

१. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव : भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० ४६३
२. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास पृ० ५८

विक चित्र के समीप मानी जा सकती है; परन्तु इसमें प्रथम तो काव्यतत्व शत प्रतिशत है, दूसरे इस जगत् से बाहर की प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है, तीसरे, योजनापूर्वक रहस्यवादी संकेत हैं, चौथे, इसमें जिस वर्ग का चित्र है वह उस समय का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता, पांचवे, इसमें प्रबन्ध-शैथिल्य है। अधिकतर विद्वान् इस परम्परा को अरबी-साहित्य (अलिफ लैला) की सन्तान[1] मानते हैं, शुद्ध भारतीय नहीं। 'मधुमालती' की कहानी को लेकर मुसलमान मंजन और कायस्थ चतुर्भुजदास ने जो कथानक बनाये हैं उनके अन्तर को श्री ब्रजरत्नदास ने दो संस्कारो का प्रभाव माना है; 'एक ने अलिफ लैला आदि की परम्परा के अनुसार परियो, जिन्नों द्वारा पलंग सहित प्रेमियों को उठा कर प्रेमिका के गृह पहुँचाना और फिर लौटा ले जाना, समुद्र मे जहाज टूटना, टापू पर देव, जिन्न से किसी सुन्दरी की रक्षा करना आदि लिया है—दूसरे ने स्वदेश की देवी, देवता आदि को ही लेकर घटनाएं सजाई हैं[2]। यदि उपन्यास की परम्परा मध्ययुगीन प्रेमकहानियों से मानी जा सकती है तो 'अलिफ लैला' के किस्सों से भी मानी जा सकती है, और 'बृहत्कथा' से क्यों नही मानी जा सकती। निष्कर्ष इतना ही उचित है कि जो उपयोग 'वृहत्कथा' और 'जातक'—कथाओं का था, या जो मध्ययुग में 'प्रेमकहानियों' का था, वही प्रारम्भिक दिनों में उपन्यास का था; अर्थात् कथा-साहित्य अपने मूल रूप में पाठक की कौतूहल-वृत्ति को तृप्त करता है।

'उपन्यास' और प्रेम कहानी' की तुलना करने पर उनका अन्तर अधिक स्पष्ट हो जाता है। एक का माध्यम गद्य है, दूसरे का पद्य। एक की कथा सामाजिक होती है, दूसरे की अध्यात्म-मिश्रित। एक में कथावस्तु का वैज्ञानिक विभाजन होता है, दूसरे में विभाजन नहीं होता नये शीर्षक दे कर नया वर्णन प्रारम्भ कर दिया जाता है। एक में जीवन का वास्तविक चित्र होता है, दूसरे में अतिरंजित। उपन्यास की कथा मे अन्त तक जिज्ञासा का निर्वाह होता है, प्रेम कहानी का अन्त पहिले ही निश्चित होता है। उपन्यास की घटनाओ पर परिस्थितियों का शासन होता है, प्रेमकहानी में घटनाएं संयोग के अधीन हैं। उपन्यास का उद्देश्य चरित्र-चित्रण है, प्रेमकहानी में पात्र तो संकेत या प्रतिनिधि है, न उनका स्पष्ट रूप है, न विकास। उपन्यास में वर्णन को उतना स्थान नही मिलता जितना कि प्रेमकहानी में। प्रेम कहानी काव्य-कला में भी रमणीय होनी चाहिए, उपन्यास अलंकार-योजना और छन्द योजना में विश्वास नहीं रखता। देश-काल का वातावरण उपन्यास का महत्वपूर्ण अंग है, परन्तु प्रेमकहानी में सब कुछ गतानुगतिक होता है। वस्तुतः मसनवी की समस्त रूपरेखा निश्चित है, नवीन कवि उसमें यत्र-तत्र नामादि तथ्यात्मक परिवर्तन कर सकता है; इसके विपरीत उपन्यास वैचित्र्य के बिना बासी कहलावेगा। प्रेम-कहानी की शैली परम्परायुक्त है—खुदा का वर्णन, फिर रसूल का वर्णन, फिर शाहेवक्त का जिक्र आदि—परन्तु उपन्यास में इस

१. श्री दिनेशचन्द्र सेन : 'बंगभाषा ओ साहित्य' पृ० ५४८
इस-साहित्य, पृ० ६३, ६४

प्रकार का कोई बन्धन नही है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रेम-कहानी की जो-जो विशेषताए है उपन्यास-कला की दृष्टि से वे दोष हैं। समानता केवल इतनी है कि दोनों में तत्कालीन जीवन का यथार्थ चित्र झलकता रहता है, परन्तु उपन्यास में यह अभीष्ट है, प्रेम-कहानी में संयोग-जन्य। अतः मध्ययुगीन प्रेम-कहानी आधुनिक उपन्यास की जननी नहीं मानी जा सकती।

गोस्वामी तुलसीदास से मध्ययुगीन कथा-साहित्य के हमको कुछ और सकेत मिलते हैं :—

(क) कीन्हे प्राकृत-जन गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

(ख) रामचरित जे सुनत अघाही।
रस-विशेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(ग) कलप-कलप हरिचरित सुहाये।
भाँति अनेक मुनीसन गाये॥

(घ) साखी सबदी दोहरा, कहि कहिनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहि वेद-पुरान॥

उनके सामने सगुण भक्ति से भिन्न धर्म का प्रचार करने वाले दो सम्प्रदाय थे, एक, जो 'साखी-सबदी-दोहरा' की रचना करते थे, कबीर आदि निर्गुण भक्त; दूसरे, जो 'कहिनी-उपखान' लिखते थे, जायसी आदि सूफी कवि। निर्गुण भक्तों का सम्बन्ध किसी कथा-रूप से नही है। प्रसंगानुकूल 'कहिनी-उपखान' लिखने वाले प्रेम-कहानीकारों पर यहाँ कुछ और विचार करले। तुलसी के मत में 'कहिनी उपखान' भी चरित-काव्य है। सामान्य कथा-रूप 'चरित' ही था, उसके दो भेद थे—'हरिचरित' ('रामचरित') एवं 'प्राकृत-जन-गुन-गान'; पहिले को 'सगुण भक्ति के प्रबन्ध-काव्य' कह सकते हैं, और दूसरे को 'लौकिक प्रेम की कहानिया'। यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि प्रेम-कहानियो को 'कथा', 'चरित' तथा 'आख्यान' भी कहा गया है। परम्परा की रक्षा करते हुए या तुलसी आदि के प्रयत्न से 'चरित' का स्तर कुछ ऊचा ही बना रहा, और एक दो को छोड़ कर शेष प्रेम-कहानियां 'चरित' नाम न पा सकी। 'कहिनी-उपखान' में से 'कहिनी' तो प्रेम-कहानी है, 'उपखान' के विषय मे कल्पना से काम लिया जाए तो ऐसा लगता है कि कहिनी' काल्पनिक-लौकिक थी, 'उपखान' प्रामाणिक-पौराणिक; 'पद्मावती' की कथा 'कहिनी' है 'ऊषा'[1], 'दमयन्ती'[2], 'उर्वशी'[3] आदि की 'उपखान'। तुलसी इन दोनो को लोक-साहित्य और लौकिक रस से पूर्ण मान कर हेय बतलाते हैं।

मध्ययुगीन 'चरित'-काव्य और 'उपन्यास' की तुलना पर, यदि 'चरित' को

---

१. ऊषा लागि अनिरुध बर बाधा। (पद्मावत)
२. कवि सूरदास लिखित 'नलदमन'।
३. विक्रम धंसा प्रेम के बारा। (पद्मावत)

तुलसी के व्यापक अर्थ में न लेकर उस युग में प्रसिद्ध संकीर्ण अर्थ में लें, तो मुख्य अन्तर यह है कि 'चरित' का माध्यम पद्य है गद्य नहीं, 'चरित' में प्रबन्धकाव्य के गुण हैं कथा-साहित्य के नही, और 'चरित' का उद्देश्य अनुकरणीय चरित्र का चित्रण है सामान्य जीवन का प्रतिफलन नही। समकालीन यथार्थ जीवन की दृष्टि से तो 'चरित' की अपेक्षा 'कहानी' 'उपन्यास' के अधिक समीप है। 'रामचरितमानस' तो महाकाव्य या पुराणकाव्य है, 'सुदामा चरित' खण्डकाव्य और 'वीरसिंह देवचरित', 'हरिचरित', आदि भी प्रबन्ध काव्य हैं। इसी प्रकार 'प्रकाश', 'विलास' अन्त वाले काव्य भी प्रबन्ध काव्य हैं। जो अन्तर 'काव्य' और 'उपन्यास' के विषय मे सामान्यतः स्वीकृत किया जाता है वह इस प्रसंग में ज्यों का त्यों लागू होता है।

अस्तु, अपभ्रंश के अन्तिम दिनों से खडी बोली के प्रथम व्यवहार तक के काल मे जिन कथनात्मक काव्यों की रचना हुई है उनके भिन्न-भिन्न रूप है और कतिपय रूप 'उपन्यास' से अल्पांशतः साम्य भी रखते हैं फिन भी उनका वैषम्य अधिक है। अतः आधुनिक युग के उपन्यास की उनमें से किसी भी रूप के साथ परम्परा नही जोडी जा सकती।

खड़ी बोली की उपन्यास-पूर्व कहानियां

खडी बोली गद्य का साहित्य में प्रयोग तो मुगल बादशाह अकबर के शासन-काल से ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु इसका सिलसिलेवार साहित्य सन् १८०० के आसपास से मिलता है, जब फोर्ट विलियम कालेज, (सन् १८०० से १८५४ ई० तक) में हिन्दी और उर्दू की व्यवस्था हो गई। लगभग सात दशाब्दियों तक भाषा-विषयक संघर्ष चलता रहा। अन्त में 'हिन्दी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०'[1]। खडी बोली के इस ७० वर्ष के इतिहास में कथा-साहित्य का महत्त्व[2] कम नही रहा परन्तु ये कथाए या कहानियां 'हिन्दुस्तानी' में लिखी गई है, इनमें से अधिकतर का उद्देश्य अग्रेजों को देशी-भाषा का परिचय कराना था; इनमें भाषा के अतिरिक्त कोई नूतनता नही मिलती। इंशाअल्लाखां कृत 'उदैभान चरित या रानी केतकी की कहानी' (सन् १८०० के लगभग), लल्लूलालकृत 'सिंहासनबत्तीसी' (१८०१) 'बेतालपच्चीसी', माधोनल' सदलमिश्रकृत 'चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान' (१८०३) के अतिरिक्त 'तोताकहानी' (१८२८) 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'चार दरवेश', 'हातिमताई', 'गुलबकावली'[3] आदि

---

१. ५० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा भारतेन्दु-कृत 'कालचक्र' से उद्धृत।
(हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ४५९)

२. फोर्ट विलियम कालेज के विषय में डा लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का यह लेख ध्यान में रखने योग्य है:—"सुलेखक के साथ-साथ उन्हों (गिलक्राइस्ट) ने (कौंसिल से) एक किस्साखां भी मांगा। किस्साखां प्रत्येक विद्यार्थी के घर जाकर हिन्दुस्तानी में किस्से सुनाया करता था। इससे (अंग्रेज) विद्यार्थियों का भाषा-सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता था।" फोर्ट विलियम कालेज, पृ० ५०

३. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास, पृ० ६१

उस युग की रचनाए हैं। इन रचनाओं के सम्बन्ध में पहिली बात तो यह है कि ये जिस खडी बोली में हैं उसको 'साहित्यिक' तो कह ही नही सकते, 'हिन्दी' कहना भी निर्विवाद नहीं है—शुक्ल जी ने लल्लूलाल तक की इन कहानियो की भाषा को 'बिल्कुल उर्दू' माना[1] है, यद्यपि ब्रजरत्नदास इनसे सहमत नही[2]। दूसरी बात यह है कि इनका सामान्य नाम 'कहानी' या 'किस्सा' था। तीसरी बात यह है कि न तो ये मौलिक हैं और न प्रथम बार रचित, लल्लूलाल ने ब्रजभाषा से अनुवाद किया है, सदलमिश्र ने संस्कृत की कथा ली है, 'किस्से' उर्दू से आये है। इशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी' को मौलिक माना जाता है, परन्तु वह मध्ययुगीन प्रेमकहानी मसनवी परम्परा में है, जिसमें नाम-धाम के अतिरिक्त कोई नवीनता नही होती। अस्तु, भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में जो कथाए लिखी गईं उनसे नवीन युग की सूचना नही मिलती उनका स्तर सतोषजनक नहीं, भाषा मिश्रित है, प्रयत्न हिन्दी-साहित्य से अनभिज्ञ लोगों का मनोरजन और भाषा-ज्ञान है, महत्त्व सामयिक है। 'रानी केतकी की कहानी' के समकक्ष ही राजा शिवप्रसादकृत 'राजा भोज का सपना' को समझना चाहिए; छाँट करनी हो तो इन्हीं दो कहानियो मे साहित्यिकता मिल सकेगी, परन्तु ये भी भविष्य की ओर न झुकती हुई निकट भूत का ही संकेत देती हैं।

भारतेन्दु के उदय से हिन्दी-साहित्य ने एक निश्चित मार्ग और स्तर ग्रहण कर लिया। भारतेन्दु का जन्म काशी मे हुआ था, परन्तु उनके पूर्वज सेठ अमीचन्द बंगाल के नवाब के उच्च पदाधिकारी थे। उस सस्कार से या जगन्नाथ जी की यात्रा के फलस्वरूप १५ वर्ष की आयु से भारतेन्दु का बगीय साहित्य, विशेषत: नाटक और उपन्यास, से घनिष्ठ परिचय हो गया - सन् १८६८ मे उन्होने बंगाल के नाटक 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद किया, और 'कवि-वचन-सुधा' नामक पत्रिका निकाली। वस्तुत: भारतेन्दु को सस्कारों से साहित्यिक रुचि और नेतृत्व की प्रतिभा प्राप्त हुई थी; उन्होने देश और काल की परिस्थिति को अल्पायु मे ही समझ लिया और भाषा-द्वारा राष्ट्र एव समाज की सेवा का व्रत ले लिया। उन की विशेष छाप खड़ी बोली गद्य पर है; गद्य के भिन्न-भिन्न अगो मे से नाटक और निबन्ध के लिए उन्होने अभिनय का वातावरण जुटाया और पत्रिकाएं निकाली। आलोचना और कथा के क्षेत्र मे भी उनका प्रयास स्तुत्य है। भारतेन्दु ने बगला और मराठी से उपन्यासों के अनुवाद कराये। सस्कृत से 'कादम्बरी', बगला से 'दुर्गेशनन्दिनी', और मराठी से 'चन्द्रप्रभा-पूर्णप्रकाश' हिन्दी में उपन्यास के प्रथम अनुवाद हैं। 'चन्द्रप्रभा-पूर्ण-प्रकाश' का अनुवाद श्रीमती मल्लिका देवी 'चन्द्रिका' ने किया था, और भारतेन्दु ने स्वयं उसे शुद्ध किया था। इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समान किस्से-कहानी का अनुवाद न करा के भारतेन्दु जी ने सामाजिक और साहित्यिक उपन्यासों को हिन्दी में लाने का सफल प्रयत्न किया।

भारतेन्दु जी ने अनुवाद ही नहीं कराये, स्वयं भी कथा-साहित्य की रचना की।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४२१

२. हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १२३

उनका 'मदालसोपाख्यान' सन् १८७३ ई० के आसपास लिखा गया था, यह पौराणिक परम्परा पर है, परन्तु इसमें किस्से-कहानी के सस्तेपन की जगह भावी सामाजिक उपन्यास के लिए उच्च स्तर तैयार हो गया है। कथा-साहित्य की उनकी अमर रचना तो एक कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' है जिसका 'कवि-वचनसुधा' में वे केवल एक 'खेल' लिख पाये थे, यदि यह रचना पूर्ण हो गई होती तो आत्मकथात्मक उपन्यास के क्षेत्र में अपूर्व एवं अनुकरणीय बन जाती। यह आत्मकथा शैली पर लिखित उपन्यास है। इस कहानी के 'प्रथम खेल' में एक पद्य और ४ गद्य के परिच्छेद हैं। इसको आत्म-कथा नहीं कह सकते, भले ही इसके कुछ संकेत (जन्म-तिथि आदि) लेखक के जीवन पर ठहरते हों। उपन्यास-कला की दृष्टि से इस कहानी की कई विशेषताएं है। प्रथम तो यह कथनात्मक शैली में न होकर आत्मकथात्मक[1] शैली पर है; आगे चल कर किशोरीलाल गोस्वामी ने इसी शैली पर कतिपय उपन्यास (उदाहरणार्थ 'खूनी औरत का सात खून') लिखे हैं। दूसरे, इसमें चरित्र-चित्रण का हिन्दी में प्रथम प्रयास है, और बडा ही सफल। तीसरे, इसमें सामयिक जीवन का सबसे महत्वपूर्ण चित्र (रईस युवक का खुशामदी वातावरण) प्रस्तुत किया गया है, श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' भी इसी आधार-शिला पर निर्मित हुआ है। चौथे, इसमें पात्रानुकूल भाषा है, जो प्रेमचन्द की कला का एक विशेष गुण है। पाचवे, इसमें अलौकिक-अतिरंजित को कोई स्थान नहीं मिलता, मानवीय-स्वाभाविक ही वर्ण्य है। छठे, इसमें मध्ययुगीन कौतुक को शान्त नहीं किया गया, जिज्ञासा जगाई गई है। सातवें, उस युग की प्रथा के समान इसके 'खेल' का प्रारम्भ मुख-छन्द से होता है। इन गुणो के कारण हम इस 'कहानी' में आधु-निक उपन्यास की सभी विशेषताएं पाते हैं। यदि जीवन के प्रति उत्साह जगा कर पाठक को वास्तविक जीवन के निकटतर लाना आज के उपन्यास का लक्ष्य है तो वह भारतेन्दु की इस 'कहानी' में पूरी तरह दिखाई पड़ता है। इस समय तक समाज-चित्रों की परम्परा बंगभाषा में प्रारम्भ हो गई थी; टेकचन्द ठाकुर के 'आलालेर घरेर दुलाल' का दूसरा संस्करण (सन् १८७०) निकल चुका था, टेकचन्द ठाकुर जुनियर का 'कलिकातार नूकोचूरि' (सन् १८६८) प्रकाशित हो गया था। लगभग इन्ही दिनो 'आलालेर घरेर दुलाल' का अंग्रेजी अनुवाद (सन् १८८२-८३) नरेन्द्रनाथ मित्र ने किया, और श्रीनिवास दास ने 'परीक्षा-गुरु' (सन् १८८२) नामक मौलिक उपन्यास

---

१. बंगभाषा में आत्मकथात्मक शैली पर लिखा हुआ प्रथम उपन्यास मधुसूदन चक्रवर्ती का 'मधुमल्लिका विलाल' (सन् १८४१) है, जिसमें आधुनिक उपन्यास की दृष्टि से दो मुख्य कमियां हैं—पद्य का माध्यम, और प्रेम की कथा। 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' इन दोषों से मुक्त है, इसे मध्ययुगीन काव्य के साथ नहीं जोड़ सकते, इसमें यथार्थवादी उपन्यास-परम्परा के बीज हैं। (बंगला रचना के लिए देखिए डा० सुकुमार सेन कृत 'बांग्ला साहित्येर इतिहास', द्वितीय खण्ड, पृ० १६०)।

लिखा। सामाजिक जीवन को चित्रित करने की परम्परा तत्कालीन नाटकों में भी दिखाई देती है।

बंगभाषा के प्रारम्भिक उपन्यास

हिन्दी के समान बंगला में भी आधुनिक कथा-साहित्य का प्रारम्भ मनोरंजनार्थ अनूदित कहानियों से ही होता है। अध्यापक श्री त्रिपुराशंकर सेन के अनुसार सन् १८०१ से १८०५ तक जो ७ पुस्तकें प्रकाशित हुईं उनमें ३ कथा-सम्बन्धी हैं—मृत्युञ्जय विद्यालंकार की 'बत्तीस सिंहासन' (सन् १८०२), गोलोकनाथ शर्मा की 'हितोपदेश' (सन् १८०२) और चण्डीचरण मुंशी की 'तोता इतिहास' (सन् १८०५)[1]। जिस प्रकार के 'किस्साखां' का उल्लेख[2] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने किया है उस प्रकार के 'कथक'[3] पूर्वी भारत में समाज के विशेष अंग थे—उस्मान ने कथा-प्रिय चार जातियों[4] में 'कथक' का भी नाम गिनाया है। इसी कथा-रुचि ने आधुनिक साहित्य का प्रारम्भ 'कथा' से किया। अस्तु, पाश्चात्य संस्कृति का बंगाली समाज पर प्रभाव बहुत दिनों तक कथा का विषय बना, इस वर्ग की श्रेष्ठ मौलिक रचना प्रमथनाथ शर्मा (भवानी चरण वन्द्योपाध्याय) का 'नवबाबुविलास' (सन् १८२५)[5] है। भवानी चरण (१७८७-१८४८ ई०) बड़े प्रतिभाशाली और प्रभावशाली व्यक्ति थे, वे 'समाचार-चन्द्रिका' और 'संवाद कौमुदी' के सम्पादक तथा धर्म-सभा के मंत्री थे। भवानी चरण ने 'नवबाबुविलास' में १९वीं शती के प्रथम चरण के बाबुओं का बड़ा व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है। इस रचना को बड़ी लोकप्रियता मिली और इसका अनुकरण भी किया गया। वास्तविक जीवन के चित्रण का बंगभाषा में यह प्रथम प्रयत्न है, कुमार्गों से धनसंचय करने वाले धनपतियों के पुत्रों का इसमें विलासी जीवन अंकित किया गया है। इसी परम्परा का विकास 'आलालेर घरेर दुलाल' में हुआ है।

'समाचार-दर्पण' (फरवरी १८२१) में प्रकाशित 'बाबूर उपाख्यान' नामक हास्य-रस-पूर्ण सामाजिक चित्र 'नवबाबुविलास' का पूर्वगामी है और कुछ लोग इसे भी भवानीचरण की ही रचना मानते हैं।[6] इन दोनों रचनाओं की कला का विकास 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५७) में हुआ, इसके लेखक टेकचन्द ठाकुर (प्यारीचांद-

---

१. उनिश शतकेर बाङ्ला साहित्य, पृ० ३७

२. फोर्ट विलियम कालेज, पृ० ५०

३. डा० जयन्त कुमार दास गुप्त : ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दि लाइफ एण्ड नावल्स ऑफ बंकिमचन्द्र, पृ० १

४. भाटन जोरि भटन्त सुहावा। गुनियन उहै गीत पुनि गावा।
कथन देखावहिं कथा बखानी। घर घर बालक कहैं कहानी॥
(चित्रावली : कथक खण्ड)

५. इस वर्णन में प्रकाशन-तिथि श्री त्रिपुराशंकर सेन के अनुसार दी गई है।

६. आलालेर घरेर दुलाल, भूमिका, पृ० ५

मित्र) थे। 'अलालेर घरेर दुलाल' ही बंगभाषा का प्रथम उपन्यास माना जाता है। लेखक ने अंग्रेजी भूमिका में अपनी रचना को 'प्रथम मौलिक उपन्यास' कहा है। इस-का वर्ण्यविषय दुलार के दुर्गुण, शिक्षा के दोष, हिन्दू-समाज की दशा, और धनपतियों का खुशामदी वातावरण[1] है। नवबाबुविलास में कई स्थानो पर अश्लीलता आ गई है और वातावरण साहित्यिक नहीं रहा। इसके विपरीत 'अलालेर घरेर दुलाल' में सर्वत्र शिष्टता का ध्यान रखा गया है। पुस्तक मे ३० अध्याय है, जिनमें नायक मतिलाल की शिक्षा से वाराणसी-गमन तक की कथा दी गई है। बाबूराम बाबू के एक पुत्र और दो कन्याएं थी, पुत्र मतिलाल बहुत लाडिला था; उसे बंगला, संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी की शिक्षा दी गई परन्तु वह धन, प्यार और कुसग मे बिगड़ता ही चला गया। इस उपन्यास में कलकत्ता के समाज का वर्णन है, सभी चरित्र एवं समस्त वातावरण यथार्थ जीवन का है। लेखक का उद्देश्य बुराइयो को दूर करके समाज को सुधारना है।

नवबाबुविलास' और 'अलालेर घरेर दुलाल' के बीच में उल्लेखनीय पुस्तकें 'दूतीविलास' (१८२५ ई०), 'आरब्य उपन्यास, (१८५० ई०), 'नवबीबीविलास' (सन् १८५३), और मनोहर उपाख्यान' (१८५५ ई०) आदि है। 'अलालेर घरेर दुलाल' (१८५८ ई०) और 'दुर्गेशनन्दिनी' (सन् १८६५) के बीच में लिखित इसी प्रकार की ढाई दर्जन कथा-कृतियां[2] प्राप्त हैं, इनमें से अधिकतर तो मध्ययुगीन वर्ग की या संस्कृत, उर्दू आदि से अनूदित हैं। शेष मे ध्यान देने योग्य भूदेव मुखोपाध्याय की 'ऐतिहासिक उपन्यास' (प्रथम जिल्द १८५७, दूसरी जिल्द १८६२ ई०) और रामकालि रामसदय भट्टाचार्य की 'अद्‌भुत उपन्यास' (सन् १८६१) हैं। भूदेव मुखोपाध्याय की रचनाओं से बंगला में ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात हुआ, और रामकालि रामसदय भट्टा-चार्य की कृति से घटनात्मक उपन्यास का; ये दोनों लेखक अपने-अपने क्षेत्र में प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं। डा० सुकुमार सेन के अनुसार 'अद्‌भुत उपन्यास' से ही 'रोमा-ण्टिक आख्यायिका'[3] का प्रारम्भ होता है। अस्तु, मध्ययुगीन प्रवृत्ति का प्रचलन रहने पर भी बंकिमचन्द्र के समय तक बंगला में साहित्यिक उपन्यास की तीन मुख्य धाराएं विकसित होने लग गई थी—'सामाजिक', 'ऐतिहासिक'. एव 'अद्‌भुत,। हिन्दी मे भी इसी प्रकार की धाराए दृष्टिगत होती हैं, किशोरीलाल गोस्वामी ने इनको क्रमश. 'सामा-जिक', 'ऐतिहासिक', तथा 'घटनात्मक' नाम दिये है[4]।

बंगला के प्रथम साहित्यिक उपन्यासकार, जिन्होने उपन्यास-क्षेत्र को एक-एक करके १४ रत्नो में विभूषित किया, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (सन् १८३८ से १८९४ ई०) थे। प्रारम्भ मे वे अंग्रेजी में कहानियाँ लिखा करते थे, 'दी ऐडवेन्चरस आफ ए

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए दे० पृ० ११३

२. डा० जयन्त कुमार दास गुप्त : ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि लाइफ एण्ड नावेल्स आफ बंकिम-चन्द्र, पृ० १०-११

३. बांग्ला साहित्येर इतिहास, द्वितीय खण्ड, पृ० १९५

४. दे खेये पृ० १०१

यंग हिन्दु' उनकी पहिली और 'राजमोहन् वाईफ, उनकी अंतिम रचना है। इसके बाद उन्होने बगला में लिखना प्रारम्भ किया और अंग्रेजी के द्वितीय-तृतीय श्रेणी के बगाली लेखक होने के स्थान पर वे बगला के सबसे बड़े उपन्यासकार बन गये।[1] सन् १८६५ से १८८७ तक बकिम के १४ उपन्यास प्रकाशित हुए, इनमें से अंतिम दो को छोडकर शेष श्रीनिवासदास के समय तक प्रकाशित हो गये थे। प्रकाशन-काल के अनुसार इन उपन्यासों का क्रम इस प्रकार है :—

दुर्गेशनन्दिनी	(१८६५ ई०)	चन्द्रशेखर	(१८७५ ई०)
कपाल कुण्डला	(१८६६ ई०)	रजनी	(१८७७ ई०)
मृणालिनी	(१८६९ ई०)	कृष्णकान्तेर बिल	(१८७८ ई०)
विषवृक्ष	(१८७३ ई०)	राजसिंह	(१८८२ ई०)
इन्दिरा	(१८७३ ई०)	आनन्द मठ	(१८८२ ई०)
युगलागुंरीय	(१८७४ ई०)	देवी चौधुरानी	(१८८४ इ०)
राधारानी	(१८७५ ई०)	सीताराम	(१८८७ ई०)

अंग्रेजी में 'कपालकुण्डला' का अनुवाद सन् १८७६-७७ मे, 'दुर्गेशनन्दिनी' का १८८० में और विषवृक्ष' का १८८४ में हुआ। हिन्दी में १८७३ में 'दुर्गेशनन्दिनी' का और १८८० में 'मृणालिनी' एवं 'युगलागुरीय' का अनुवाद हुआ[2]। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के लेखन से पूर्व बंकिम की कुछ रचनाए अवश्य बंगाल से बाहर भी लोकप्रिय हो गई थी। दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद स्वयं भारतेन्दु के 'अनुरोध तथा उत्साह'[3] से ठा० गदाधर सिंह ने और 'राधारानी' का श्रीमती मल्लिका देवी ने सन् १८८३ ई०) किया था; 'राजसिंह' का 'अनुवाद पूरा हो गया था प्रथम परिच्छेद स्वय नवीन लिखा, आगे कुछ शुद्ध किया था———परन्तु प्रथम परिच्छेद ही लिखकर चल बसे'[4]। अस्तु, भारतेन्दु के अन्तिम दिनो में बगला उपन्यासों के अनुवाद का कार्य प्रारम्भ हो गया था, और अंग्रेजी तथा बगला के अनुकरण पर नवीन ढग के उपन्यासों की ओर हिन्दी-जगत् की रुचि होने लगी थी।

बकिम के समकालीन एवं परवर्त्ती साहित्यिको में उपन्यास-लेखन का विशेष उत्साह था, अधिकतर उपन्यासो के हिन्दी में अनुवाद भी हो जाया करते थे। बंकिमचन्द्र के समकालीन तारकनाथ गगोपाध्याय (१८४३-९१) ने 'स्वर्णलता' (१८७३) नामक उपन्यास लिखा, जिसका अनुवाद भारतेन्दु जी ने[5] राधाकृष्णदास से कराया। इस उपन्यास मे समाज का चित्र बकिम के चित्रो की अपेक्षा अधिक अनुभूत एव सजीव

---

१. डा० जयन्तकुमार दास गुप्त : ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि लाइफ एण्ड नावेल आफ बंकिमचन्द्र, पृ० २३

२. वही, पृ० १७०

३. ब्रजरत्नदास द्वारा स्व० राधाकृष्णदास से उदधृत (हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १२८)

४. ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १२९

५. ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १२९

है। संजीवचन्द्र चट्टोपाध्याय का 'माधवीलता', पूर्णचन्द्र चट्टोपाध्याय का 'शैशव सहचरी', रमेशचन्द्र दत्त का 'माधवी कंकण', स्वर्णकुमारी का 'दीपनिर्वाण' आदि उपन्यास हिन्दी में अनूदित होकर बड़े लोकप्रिय हो गये थे। भारतेन्दु ने उपन्यास-क्षेत्र में अनुवाद और मौलिक रचनाओं का जो सूत्रपात किया वह उत्तरोत्तर विकसित होता रहा, फलस्वरूप हिन्दी में कई अच्छे उपन्यासों की रचना हुई।

अस्तु, यह विचारणीय है कि हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास कौनसा है? इस प्रश्न का उत्तर आगे के पृष्ठों में दिया जाएगा।

हिन्दी का प्रथम उपन्यास

पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी का परिचय देते हुए पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी सम्वत् १९१४ में उन्होने लिखा, जिसकी बडी प्रशंसा हुई।"[1] पण्डित श्रद्धाराम भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध व्यक्ति थे, वे श्रेष्ठ व्याख्यानदाता और प्रतिष्ठित समाज-सुधारक थे, पंजाब में हिन्दी-भाषा और हिन्दू धर्म के लिए उनकी सेवाए स्मरणीय हैं। परन्तु उनका उपन्यास प्राप्य नही था। अतः शुक्ल जी ने आगे चल कर यह स्वीकार किया है कि "अंग्रेजी ढग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिन्दी मे लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' ही निकला था।"[2] 'अपनी भाषा मे यह नई चाल की पुस्तक होगी' लिखकर लेखक ने स्वयं भी 'परीक्षागुरु' की प्रथमता और मौलिकता का दावा किया है।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जब गद्य-साहित्य के 'द्वितीय उत्थान' का परिचय देने लगे तो उस युग के श्रेष्ठ उपन्यासकारो को अलग-अलग उपन्यास के उपक्रम का श्रेय उन्होंने दे दिया :—

(i) पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासो की सर्वसाधारण मे धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे। ये वास्तव मे घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षो के चित्रण का कोई प्रयत्न नही, इससे वे साहित्य-कोटि में नहीं आते। (हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ४९८-४९९)

(ii) उपन्यासो का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी हैं, जिनकी रचनाएं साहित्य-कोटि में आती हैं। साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए। और लोगो ने भी मौलिक उपन्यास लिखे पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजे लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वही घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिए चुन लिया और उसी में रम गए। (हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ४९९, ५००)

शुक्ल जी के इन कथनों को संगतिपूर्वक ग्रहण किया जाए तो निम्नलिखित

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ४४६
२. वही, पृ० ४५५

निष्कर्ष निकल सकते हैं :—

(१) हिन्दी-उपन्यास के उदय में चार व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—श्रद्धाराम फुल्लौरी, श्रीनिवासदास, देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी।

(२) श्रद्धाराम जी ने समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर 'भाग्यवती' नाम का उपन्यास लिखा, जिसमें उनका विशेष दृष्टिकोण तो अवश्य है, परन्तु कथा आदर्श की लेखनी से अंकित है इसलिए उसे सामयिक जीवन का 'वास्तविक' चित्र नही कह सकते अतएव 'भाग्यवती' 'अंग्रेजी ढंग का' (आधुनिक, जिसमें लेखक विशेष दृष्टिकोण से सामयिक जीवन का वास्तविक चित्र अंकित करता है) उपन्यास नही है।

(३) आधुनिक कला की दृष्टि से 'परीक्षा-गुरु' प्रथम उपन्यास है, परन्तु न तो उसे वह लोकप्रियता प्राप्त हुई जो उपन्यास का जन्मसिद्ध अधिकार है, और न उसके लेखक उपन्यासकार-मात्र के रूप मे साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं।

(४) देवकीनन्दन खत्री को उपन्यास-क्षेत्र मे सबसे पहिले ख्याति प्राप्त हुई, और वे उपन्यासकार-मात्र ही हैं, परन्तु उनके उपन्यासो का स्तर साहित्यिक स्तर से कुछ नीचा है।

(५) किशोरीलाल गोस्वामी तक आते-आते उपर्युक्त कमियाँ दूर हो गई थीं, वे प्रथम नही हैं परन्तु उन् पर आकर उपन्यास का पूर्ण विकास हो पाया है।

शुक्ल जी के इन कथनो का आगे के विद्वानों ने यत्किञ्चित हेर-फेर के साथ अर्थ लगाया। डा० श्रीकृष्णलाल के मत में 'हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता' है जो १८९१ मे प्रकाशित हुआ[1]। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के अनुसार 'रानी केतकी की कहानी को हम प्रथम उपन्यास कह सकते हैं'।[2] श्री ब्रजरत्नदास ने भी लगभग ऐसा ही मत प्रकट किया है, '.....यहां केवल ठेठ हिन्दी में लिखे गये इनके एक उपन्यास मे काम है जिसका नाम उदेभानुचरित या रानी केतकी की कहानी है'[3]। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार मानते हैं। द्विवेदी जी के शब्दो में 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नाम का सर्व-प्रथम सामाजिक उपन्यास लिखा था।[4]

'रानी केतकी की कहानी' न तो उपन्यास है और न आधुनिक कहानी। ऊपर दिखाया जा चुका है इस कहानी में भाषा के अतिरिक्त शेष सारी विशेषताएं मध्ययुग की हैं; रानी पद्मावती और रानी केतकी की कहानियों में भाषा और आकार का ही मुख्य अन्तर है। इंशाअल्लाखां के जीवन-काल में 'उपन्यास' नाम से तो लोग अपरिचित थे ही, बंगला तक में कथा-साहित्य मध्ययुगीन कहानियों के रूप में था, उपन्यास के रूप

---

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० २७५
२. हिन्दी-उपन्यास, पृ० ६१
३. हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १२२
४. हिन्दी-साहित्य पृ० ४१५

में नहीं। इसीलिए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'ये सब कहानियां उपन्यास नही हैं, क्योकि इनमें लेखकों का अपना कोई वैयक्तिक दृष्टिकोण नहीं है, और उनकी घटनाओं की योजना मे किसी प्रबल वैयक्तिक मत के समर्थन का लक्ष्य नही है[1]।" श्रीवास्तव जी ने इस कहानी के विषय में प्रथमता की चर्चा चलती हुई ही की है, उनके निष्कर्ष में बल नहीं है। इसीलिए आगे चलकर उन्होंने अपना मत बदल दिया; 'हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' (१८८२ ई०)[2] है'। इस नवीन मत के बीज उनकी पूर्वकथित रचना में भी थे; कथावस्तु तथा वर्णन-प्रणाली दोनों ही की दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' उस युग की प्रथम रचना है।[3]

भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार मानने में भी मतभेद है। द्विवेदी जी ने भारतेन्दु के 'पूर्ण प्रकाश और चद्रन्प्रभा' को 'सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास'[4] बतलाया है, परन्तु यह मौलिक रचना नहीं मराठी से अनुवाद है[5], शायद अनुवाद भी भारतेन्दु का स्वय किया हुआ नही[6], सशोधित है। अस्तु 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' के प्रमाण पर भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार नही माना जा सकता। फिर भी यह निष्कर्ष सबको मान्य न होगा कि भारतेन्दु ने एक भी मौलिक उपन्यास की रचना नही की[7]। क्योकि 'उन्होंने स्वयं एक उपन्यास लिखना शुरू किया था, यह अधूरा उपन्यास' कुछ आप बीती कुछ जगबीती' है, जिसमें 'उन्होंने जैसे 'परीक्षा गुरु' की साकेतिक भूमिका ही प्रस्तुत कर दी' है[8]। इस कहानी का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यह आश्चर्य की बात है कि आधुनिक उपन्यास के सभी गुण विद्यमान रहने पर भी इस अधूरी कहानी को आलोचको ने प्रथम उपन्यान नहीं माना। कारण दो हो सकते हैं। पहिला तो यह कि इसका केवल एक 'खेल' ही लिखा गया था, यदि यह रचना पूर्ण हो गई होती तो आलोचको का ध्यान इसकी ओर अवश्य जाता। दूसरा यह कि भारतेन्दु ने इसको 'कहानी' सज्ञा दी है, 'उपन्यास' या 'नावेल' नही, इसलिए विद्वान् इसको कहानी समझ कर छोड बैठते हैं। जो भी हो, कला की दृष्टि से यह कहानी अवश्य ही 'उपन्यास' पद की अधिकारिणी है, और इसके आधार पर भारतेन्दु अन्य गद्य-रूपो के समान उपन्यास के भी जन्मदाता माने

---

१. हिन्दी-साहित्य, पृ० ४१५

२. हीरक जयन्ती ग्रन्थ, पृ० १७२

३. हिन्दी-साहित्य, पृ० ६३

४. हिन्दी-साहित्य, पृ० ४१५

५. श्री विजयशंकर मल्ल : उदयकाल-प्रेमचन्द के आगमन तक (आलोचना उपन्यास विशेषांक. पृ० ६५

६. हिन्दी उपन्यास-साहित्य, पृ० १२६

७. हिन्दी-उपन्यास, पृ० ६३

८. श्री विजयशंकर मल्ल : आलोचना, उपन्यास-विशेषांक पृ० ६५

जाने योग्य हैं। अवान्तर प्रश्न यह है कि भारतेन्दु ने उक्त 'कहानी' को 'उपन्यास' नाम क्यों नहीं दिया, विशेषतः जब कि वे 'उपन्यास नाम से परिचित थे'[1]। उत्तर यही हो सकता है कि 'उपन्यास' नाम का उस समय तक एकच्छत्र राज्य नही हो पाया था। विशेषत: हिन्दी का पाठक 'कहानी के समान अपनापन 'उपन्यास' मे न समझता था—बंकिमचन्द्र तक ने अपने कुछ बीच के उपन्यासों '(राजसिंह' रचना काल १८८२ ई०) को 'क्षुद्र कथा'[2] और 'क्षुद्र उपन्यास' दोनों नाम दिये थे।

'परीक्षा गुरु' (रचना काल सन् १८८२ ई०) को सभी आलोचकों ने किसी-न-किसी रूप से हिन्दी का प्रथम, अंग्रेजी ढंग का मौलिक, उपन्यास माना है। इसमें प्राचीन और मध्ययुगीन परम्परा को त्याग कर नवीन सरणिका उद्घाटन तो है ही, बंगला का ऋण भी कम ही है; इसका ढाँचा बगला के रास्ते हिन्दी मे नही आया बल्कि कह सकते हैं कि सीधे अंग्रेजी से आया, लेखक अंग्रेज़ी का अच्छा जानकार था और उसने अंग्रेज़ी के उपन्यासो को ध्यान में रख कर ही यह नई चाल चलाई होगी'।[3] 'परीक्षा गुरु' का विस्तार-पूर्वक विवेचन यथास्थान किया जाएगा। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि श्रीनिवास दास की प्रतिभा बहुमुखी थी, इन्होंने साहित्य के एक से अधिक अगों की पूर्ति की है, नाटक तो उनके तीन हैं; 'उपन्यास' एक नया रूप था, उस ओर कदम बढा कर उन्होने मार्ग-प्रदर्शन कर दिया। उपन्यासों का ढेर तो पाठक को उपन्यास-रूप से परिचित करा देने के बाद ही लगाया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि भारतीय भाषाओं (उदाहरणार्थ बंगला) मे उपन्यास-रूप का प्रारम्भ सामाजिक रचना से हुआ है क्योकि उपन्यास सामयिक जीवन का वैयक्तिक दृष्टिकोण से वास्तविक चित्र है, अत. ऐतिहासिक और घटनात्मक उपन्यास अगर प्रथम है तो मौलिक नहीं हो हो सकते और अगर मौलिक है तो प्रथम नहीं रचे जा सकते। अस्तु हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार भारतेन्दु है, परन्तु प्रथम मौलिकता पूर्ण उपन्यास 'परीक्षा गुरु' है।

देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी में उपन्यासो की नई परम्परा चलाई, वे प्रेमचन्द-पूर्व-युग के सब से लोकप्रिय उपन्यासकार थे; उनकी रचनाओ ने हिन्दी का बड़ा प्रचार किया। फिर भी उनकी कृतियों को साहित्यिक हिन्दी की रचना मानने में कुछ सकोच होता है। यह भी विचारणीय है कि उनका दृष्टिकोण किस अनुपात में साहित्यिक था और किस में कुतूहलवर्द्धक। घटनात्मक उपन्यास के क्षेत्र मे वे हिन्दी के शिरोमणि

---

१. दे० अमृतसर निवासी पं० सन्तोषसिंह को भारतेन्दु का पत्र—"जैसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं, अब तक उपन्यास नहीं बने हैं—" डा० रामविलास शर्मा द्वारा (भारतेन्दु-युग, पृ० १२४) उद्धृत।

२. डा० जयन्त कुमार दास गुप्त : ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दि लाइफ एण्ड नॉवेल्स ऑफ बंकिमचन्द्र, पृ० १६५

३. हिन्दी उपन्यास, पृ० ६५

लेखक हैं, परन्तु साहित्यिकों ने घटनात्मक उपन्यास लिखे भी तो कम हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि खत्री जी की लेखनी से ही उपन्यासों की सिलसिलेवार रचनाएं प्रारम्भ हो जाती हैं, परन्तु इस दृष्टि से भी किशोरीलाल गोस्वामी का प्रथम उपन्यास 'प्रणयिनी-परिणय' और भी पहिले का है। अस्तु, देवकीनन्दन खत्री का महत्व तो निश्चय ही निर्विवाद है, परन्तु उनसे ८-१० वर्ष पूर्व के इतिहास की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

किशोरीलाल गोस्वामी प्रथम उपन्यासकार नही हैं। शुक्लजी ने उनकी दो विशेषताएं मानी हैं—रचनाओं का साहित्यिक स्तर, और उपन्यास के क्षेत्र को चुनकर उसी में रम जाना। ये दोनों विशेषताएं उदय-काल की नही हैं, विकास-काल की हैं। अतः गोस्वामी जी हिन्दी के 'प्रथम' उपन्यासकार (साहित्यिक-उपन्यासकार या अंग्रेजी ढंग के उपन्यास लिखने वाले) नही हैं, परन्तु प्रारम्भिक लेखकों मे उनका महत्व विशेष है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि, श्रद्धाराम की 'भाग्यवती' के उपरान्त हिन्दी-उपन्यास के उद्भव मे चार साहित्यिको के नाम स्मरणीय हैं—भारतेन्दु, श्रीनिवासदास, देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस उपन्यास का बीज-वपन किया था वह श्रीनिवासदास मे अंकुरित हुआ, परन्तु उसको पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय क्रमशः देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी को है। श्रद्धाराम ने आदर्श के हल से उस भूमि को गोड कर तैयार कर दिया था जो भविष्य में इतनी उर्वरा सिद्ध हुई। उपन्यास के इस इतिहास मे इंशाअल्लाखां को कोई स्थान नही दिया जा सकता; और न सदानन्द मिश्र एव शम्भुनाथ मिश्र को जिन्होने 'मनोहर-उपन्यास'[1] नामक किसी पुस्तक का 'सम्पादन' स० १९२८ मे ('भाग्यवती' से ६-७ वर्ष पूर्व) किया था, संभव है यह 'मनोहर-उपन्यास' (?) या 'मनोहर उपाख्यान' हरिमोहन कर्मकार द्वारा रचित बंगला की कथा-पुस्तक 'मनोहर-उपाख्यान' (सन् १८५५)[2] का छायानुदाद मात्र ही हो—'संपादन' शब्द से ऐसा ही संकेत मिलता है।

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का काल-विभाजन

भारतीय जनता की कथाप्रिय 'मनोभूमि' में प्राचीन कथा-साहित्य और मध्य-युगीन कथा-साहित्य एक के बाद दूसरी 'फसल' के समान पैदा हुए, तदन्तर उपन्यास-पूर्व खड़ीबोली-कथा-साहित्य उन वृन्तविहीन 'स्थाणुओं' के समान था जो अवसर पा कर अपने आप हरियाने लगते हैं। श्रद्धाराम ने उस भूमि को पुराने झाड-झंखाड़ों से साफ करके अपने सामाजिक 'हल' से नवीन उपज के लिए तैयार कर दिया। भारतेन्दु ने 'बीज-वपन' किया जिसको श्रीनिवासदास ने 'अंकुरित' किया, और फिर देवकीनन्दन खत्री के प्रयत्न से उपन्यास-पादप 'पल्लवित' तथा किशोरीलाल गोस्वामी की प्रतिभा से

---

१. हिन्दी-पुस्तक-साहित्य, पृ० २६

२. डा० जयन्तकुमार दास गुप्त : ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दि लाइफ एण्ड नॉवेल्स ऑफ बंकिम-चन्द्र, पृ० १०

'पुष्पित' हुआ। प्रेमचन्द का साहित्य सरस एवं स्वादु 'फल' के समान है। उनके बाद के कलाकार तरह-तरह के अचार और मुरब्बे बनाकर बाजार में बेचते रहे हैं।

इस प्रकार इस नई फसल की तीन अवस्थाएं हैं—हल चलाने से पल्लव आने तक, फल, और फलो का मुरब्बा। अर्थात् श्रद्धाराम से प्रेमचन्द-पूर्व तक, प्रेमचन्द, और प्रेमचन्द से अब तक। श्रद्धाराम का उपन्यास उपदेशात्मक है और भारतेन्दु का केवल 'खेल' मात्र। इसलिए अध्ययन की सुविधा के लिए हिन्दी-उपन्यास का प्रथम काल श्रीनिवास-दास के 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२ ई०) से प्रारम्भ होना माना जाता है, और इस की अवधि प्रेमचन्द के उदय तक है। प्रेमचन्द के दो प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' उनसे पूर्व की प्रवृत्तियो से भरे हुए हैं उनको सक्रान्तिकालीन माना जा सकता है युग-प्रवर्त्तक नही। परन्तु 'सेवासदन' का प्रकाशन हिन्दी-जगत् की एक विशिष्ट घटना है, इस उपन्यास मे नवीन युग की स्पष्ट सूचना मिल जाती है। जिस प्रवृत्ति का 'सेवा-सदन' में उपक्रम दिखाई पडता है वही प्रेमचन्द के जीवन-पर्यन्त 'मंगल-सूत्र' के प्रकाशन (सन् १९३६) तक उसी प्रकार प्रवहमान है। प्रेमचन्द के जीवन-काल मे ही उनसे भिन्न प्रवृत्ति के उपन्यास लिखे जाने लगे थे, और उनके बाद तो स्पष्ट ही नवीन प्रवृत्तियो का साम्राज्य छा गया। वह प्रेमचन्दोत्तर युग है।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने गद्य-साहित्य के तीन भाग—प्रवर्त्तन (स० १९२५ से १९५० तक), प्रसार (स० १९५० से १९७५ तक) और वर्त्तमान गति (स० १९७५ से)—किये हैं। द्वितीय उत्थान की अवधि स० १९५० (सन् १८९३) से सं० १९७५ (सन् १९१८ ई०) तक है। इस काल-विभाजन में कथा-साहित्य को अलग ध्यान में रखना सम्भव न था, फिर भी संयोगवश एक भाग सन् १९१८ मे समाप्त हो जाता है। शुक्लजी के इस विभाजन को प्रयाग विश्वविद्यालय के रिसर्च-स्कॉलरो ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् १८५० से १९०० तक), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (स० १९०० से १९२५ तक), और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् १९२५ से १९५० तक) के रूप में यत्किञ्चत् हेर-फेर के साथ ग्रहण कर लिया है, इनके विशेष अध्ययन में भी कथा-साहित्य को स्वतत्र रूप से दृष्टि मे रखना सम्भव न हो सका।

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने हिन्दी-उपन्यास के दो काल माने हैं—'आदिकाल' (सन् १८०० से १९१८ तक) और 'आधुनिक काल' (सन् १९१८ से आगे)। इस विभाजन में पहिली कठिनाई तो यह है कि 'आदिकाल' का प्रारम्भ सन् १८०० से क्यों माना गया है, जब कि सन् १८०० में एक भी उपन्यास की रचना नही हुई। लेखक का तर्क है—'सन् १८०० ई० के आसपास चार महानुभाव ऐसे हुए जिन्होने खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ाया।.....इन गद्य प्रवर्त्तकों के द्वारा ही हिन्दी-गद्य में कथा-कहानियों का प्रवर्त्तन भी हुआ'[1]। विद्वान् लेखक ने 'कथा-कहानियों को 'उपन्यास' के साथ अवैज्ञानिक ढग से मिला दिया है, फलस्वरूप 'रानी केतकी की कहानी' ही 'प्रथम उपन्यास' बन गई है; ऊपर दिखाया जा चुका है कि यह मिश्रण अनुचित है। दूसरी

१. हिन्दी उपन्यास, पृ० ६०

कठिनाई आदिकाल के अन्त की है। लेखक की मान्यता है कि 'प्रथम महायुद्ध के बाद से श्री प्रेमचन्द चरित्र-प्रधान उपन्यास लेकर साहित्य-क्षेत्र में आए। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर आदिकाल सन् १८०० से १९१८ ई० माना गया है'[१]। यहां आपत्ति का विषय 'प्रथम महायुद्ध' है; इस युद्ध का प्रभाव उपन्यास-कला पर पड़ा हो—ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। अच्छा होता कि 'महायुद्ध' की अपेक्षा 'सेवासदन' को कालपरिवर्तन का गौरव दिया होता। (आधुनिक काल के विषय मे लिखना यहां प्रासंगिक नही है)।

श्री ब्रजरत्नदास ने उपन्यास-साहित्य के दो उत्थान माने हैं—'प्रथम उत्थान' (सं० १९४० से १९७० तक) और 'नवीन उत्थान '(सं० १९७० से २००० तक)। उनके अनुसार 'प्रथम उत्थान' सं० १९४० से प्रारम्भ होकर स० १९७० तक चलता है। लेखक का तर्क है कि 'सं० १९४० से १९७५ के मध्य में ऐयारी, तिलिस्मी, जादू आदि से भरे हुए बहुत से उपन्यास लिखे गये किन्तु अब इस प्रकार के अनर्गल उपन्यासो के लिखने की प्रथा बन्द-सी हो गई.....'[२]। यह तर्क ठीक है, परन्तु इस स्थान पर 'प्रथम उत्थान' की अवधि सं० १९७५ लिखी है, और 'विषय-सूची' मे स० १९७०; शायद लेखक का अभीष्ट' सं० १९७५ ही है, क्योकि पाचवें प्रकरण के शीर्षक मे भी 'सं० १८४०-७५' लिखा है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'सन् १८८२ से लेकर सन् १९१५ तक हिन्दी-उपन्यास का आरम्भिक और सक्रान्ति-काल रहा है'[३]। यहां १९१५ ई० प्रेमचन्द की उपन्यास-रचना की तारीख मानी गई है; इस आरम्भिक युग को पार करते ही हम हिन्दी-उपन्यासों के उस नये युग में प्रवेश करते है जिसका शिलान्यास प्रेमचन्द जी ने किया'[४]। सामान्यत. '१९१८ तक हिन्दी उपन्यास का प्रथम चरण माना जाता है, १९१८ से हिन्दी उपन्यास का द्वितीय चरण आरम्भ होता है', जिसके प्रवर्त्तक प्रेमचन्द हैं, 'उनका पहला उपन्यास 'सेवासदन' १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ था'[५]। 'उदय काल : प्रेमचन्द के आगमन तक', 'प्रेमचन्द-युग : आदर्शोन्मुख यथार्थ', और 'प्रेमचन्दोत्तर काल : नये धरातल'[६] हिन्दी उपन्यास-साहित्य का यह कालविभाजन आजकल सर्वमान्य-सा बन गया है; इन कालों की तारीखे भी १८८२ से १९१८, १९१८ से १९३६ और १९३६ से उत्तर निर्विवाद ही है।

इस सर्वमान्य विभाजन मे दो सुधार और हो सकते है। प्रथम तो यह कि 'उदय काल' नाम देने से ऐसा लगता है मानो उस काल तक साहित्य के अन्य अगो की अपेक्षा उपन्यास पिछडा हुआ था, परन्तु वस्तु-स्थिति वैसी है नही; उपन्यास सामयिक

---

१. हिन्दी-उपन्यास, पृ० ६०
२. हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १५१
३. आधुनिक साहित्य, पृ० १३८
४. वही, पृ० १४०
५. श्री शिवनारायण लाल श्रीवास्तव : हिन्दी-कथा-साहित्य (हीरक जयंती ग्रन्थ, पृ० १७१)
६. आलोचना, उपन्यास-विशेषांक

जीवन का वास्तविक चित्र है और साहित्य के दूसरे रूपों की अपेक्षा उपन्यास में यह गुण अधिक होता है, समाज की सामान्य स्थिति जैसी होगी वैसा ही उसका उपन्यास-साहित्य होगा। अत. प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपन्यास-साहित्य को उदय-काल-मात्र का साहित्य नहीं मान सकते। अगर पहिला काल उपन्यास का उदयकाल है तो नाटक आदि सबका भी उदय-काल है। अस्तु, उदयकाल की अपेक्षा प्रेमचन्द-पूर्व-युग अधिक उपयुक्त है। इससे आगे प्रेमचन्द-युग मे समाज-प्रधान उपन्यासों की रचना हुई और प्रेमचन्दोत्तर-युग मे व्यक्ति-प्रधान उपन्यास लिखे जाने लगे।

दूसरा सुधार यह हो सकता है कि काल-विभाजन मे सन् की अपेक्षा गुणान्तकारिणी रचना का महत्व अधिक होने से प्रवृत्तियों का क्रम अधिक स्पष्टता से लक्षित हो सकता है। अधिकतर आलोचकों ने प्रेमचन्द से युग-परिवर्तन माना है, फिर भी कोई १९१३ मानता[1] है, कोई[2] १९१५, और कोई[3] १९१९। इस भ्रान्ति का कारण रचनाविशेष से परिवर्तन न मान कर व्यक्ति-विशेष को महत्व देना है। सन् १९१८ के बाद भी पुराने कई उपन्यास-कार (जैसे, किशोरीलाल गोस्वामी) लिखते रहे और उनमे परिवर्तन न आया। यदि रचना-विशेष को महत्व दिया जाए तो किसी प्रकार की गडबड न हो सकेगी।

अस्तु, हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का काल-विभाजन नीचे लिखे प्रकार से किया जा सकता है —

१. प्रेमचन्द-पूर्व-युग, सन् १८८२ से सन् १९१८ तक,
'परीक्षा गुरु' से 'सेवासदन' तक।
२ प्रेमचन्द-युग, सन् १९१८ से १९३६ तक,
'सेवासदन' से 'सुनीता' तक।
३. प्रेमचन्दोत्तर-युग, सन् १९३६ से आज तक।

प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास की सामान्य प्रवृत्ति

बगला के समान हिन्दी मे भी उपन्यास का सूत्रपात समाज की आलोचना के रूप में ही हुआ था। परन्तु जैसे-जैसे इसकी लोकप्रियता बढती गई वैसे-वैसे इसमे मनोरजन[4] का समावेश अधिक होता गया। कुछ लेखको ने मनोरजन को सामाजिक चित्रण

१. श्री ब्रजरत्नदास ने सं० १९७० अर्थात् सन् १९१३ माना है।
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सन् १९१५ मानते है ('आधुनिक साहित्य', पृ० १३८, तथा प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० १२)
३. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव।
४. ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'स्वर्णमयी वा जैसी करनी वैसी भरनी' उपन्यास में उस काल की सामान्य कला का वर्णन किया है : 'जरा चटपटी-चुलबुली नायिका हो, सुन्दर-सलोना नायक हो, कुटनियों की कूट, ऐयारों की ऐयारी, माशूक-आशिक के चौचले हों, तिलस्म की पेचदार कथा हो, तब उपन्यास की बहार होती है।' (डा० श्रीकृष्णलाल द्वारा 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' की 'भूमिका' में उदधृत)

से अधिक महत्व दिया, ऐसे उपन्यासकारों के नेता देवकी नन्दन खत्री हैं। कुछ[1] लेखक मनोरंजन की अधिक परवाह न करके सामाजिक—चित्रो पर ही ध्यान केन्द्रित करते थे; भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रद्धाराम फुल्लौरी, श्रीनिवासदास आदि से ऐसी ही परम्परा चलती है जिसका दूसरा छोर 'रामलाल' उपन्यास के लेखक मन्नन द्विवेदी हैं। अस्तु, उस काल का उपन्यास शुद्ध कला-कृति नही है, उसमे उपदेश और मनोरजन[2] का भिन्न भिन्न अनुपातो में मिश्रण हो गया है।

इस काल में जितने लेखक साहित्य-सृष्टि के उद्देश्य से लिखते थे उनसे बहुत अधिक लेखक व्यावसायिक दृष्टिकोण से। फलतः लेखक से अधिक महत्व प्रकाशक का था; कुछ उपन्यासों पर लेखक का नाम नही है परन्तु प्रकाशक का पूरा पता[3] लिखा हुआ है। अधिकतर प्रकाशक स्वयं लिखते तथा दूसरों को प्रोत्साहित कर उनसे लिखाते और स्वयं छापते थे। व्यापारिक और धार्मिक दृष्टि से जिस नगर का जितना अधिक महत्व था (जैसे काशी, वृन्दावन, आगरा, कलकत्ता आदि), उतना ही उसे उपन्यास का बडा प्रकाशन-केन्द्र समझना चाहिए।

जिस प्रकार आजकल हिन्दी की अधिकतर पत्रिकाएं परीक्षोपयोगी आलोचना और कहानियो पर जीवित हैं उसी प्रकार हमारे आलोच्य काल में अधिकतर हिन्दी-पत्रिकाएं या तो सामाजिक थी या औपन्यासिक। सामाजिक पत्रिका स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार, धर्म-प्रचार आदि किसी गम्भीर उद्देश्य को लेकर चलती थी; औपन्यासिक पत्रिका में मनोरजन और उपदेश मिले-जुले रहते थे। 'उपन्यास' मासिकपत्रिका[4], 'उपन्यास-लहरी', 'उपन्यास-बहार[5]' 'उपन्यास कुसुमाञ्जलि', 'उपन्यास-सागर'[6], 'जासूस'[7], 'गुप्त कथा' 'दरोगा'[8] 'कुसुम सरोवर'[9], 'उपन्यास-प्रचार' आदि पत्रिकाएं इसी पिछले

---

१. 'मानव चरित्र को उदार और उन्नत बनाने वाले. वास्तविक चरित्र का चित्रण करने वाले, और शिक्षितों को कर्तव्य-पथ पर आरूढ करने वाले उपन्यासों की हिन्दी में बहुत ही कमी है। (प्रतिमा सन् १९१३)

२. हिन्दी-साहित्य में उपन्यास के प्रायः दो ही उद्देश्य समझे जाते हैं। एक तो मनोरंजन करना और दूसरे कोई उच्च भाव या आदर्श प्रदर्शित करना'। ('लालचीन' की भूमिका)

३. 'सरस्वती' (अप्रैल सन् १९१५) में एक ऐसे ही उपन्यास की आलोचना देखिए :— 'पैशाचिक काण्ड—पृ० ३४६। लेखक का नाम अज्ञात, प्रकाशक—बाबू जयरामदास गुप्त, उपन्यास बहार-आफिस, काशी। यह उपन्यास है पर इसमें इतिहास का भी पुट है।'

४. पहली जनवरी, १९०१ से किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा सम्पादित।

५. सम्पादक—जयरामदास गुप्त, काशी।

६. सम्पादक—रामलाल वर्मा, कलकत्ता।

७. मई सन् १९०० ई० से गोपालराम गहमरी, द्वारा सम्पादित।

८. सम्पादक—रामलाल वर्मा, कलकत्ता।

९. 'आख्यायिकाओं का सर्वप्रथम मासिक पत्र', श्री सुदर्शन प्रेस, वृन्दावन।

वर्ग की हैं। इनमें केवल उपन्यास छपते थे; एक-एक उपन्यास को एक या एक से अधिक अंको में छाप कर पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया जाता था। इस प्रकार 'उपन्यास-ग्रन्थ माला', 'उपन्यास-तरंग-माला', 'उपन्यास-कुसुम-माला' आदि तैयार होती जाती थी।

उपन्यास की सफलता पाठको को आकृष्ट करना और प्रतियो के हाथो-हाथ बिक जाने मात्र में मानी जाती थी। यही उन उपन्यासो की आलोचना भी है। पुस्तक का मूल्य, पुस्तक के पन्ने, छपाई और चित्र तथा मन पर पुस्तक का प्रभाव—इन चार गुणो से उसकी सफलता का मूल्य आंका जाता था। कुछ आलोचनामय विज्ञापन देखने योग्य हैं:—

(क) इसमे 'राजकुमारी' का रगीन चित्र तो ऐसा दिया गया है, कि वैसा सुन्दर चित्र बाजार मे चार आने में भी न मिलेगा। ('राजकुमारी')

(ख) इसके पढने में कभी तो आँखो से आँसू बहने लगते हैं, कभी आनन्द की लहरे आती है और कभी हँसते-हँसते पेट फटने लगता है। ('कुसुमकुमारी')

(ग) इसमे अकबर के समय की उन गुप्त घटनाओ का वर्णन है जो कि बड़े छिपे-छिपे रूप मे होती थी। वोर क्षत्रियो पर कैसे क्या अत्याचार हुए हैं? किस-किस प्रकार प्रजा को वहाँ के कर्मचारी-लोग पीड़ा पहुँचाते थे?·····इत्यादि बातों को पढकर आप थर्रा उठेगे। ('अल्ला-हो अकबर')

(घ) इसका आकार 'डिमाई आठ पेजी' पाच फार्म अर्थात् ४० पृष्ठ है। ('उपन्यास'—मासिक)

(ङ) मैंने इस उपन्यास को प्रशसा प्राप्त करने अथवा रुपया बटोरने की स्पृहा से नही लिखा है वरन् देशसेवा की हार्दिक इच्छा मन मे रखते हुए इसको प्रत्येक धर्मालकार से विभूपित कर·····। ('पतिव्रता विपुला' सन् १९१९)

(च) यों तो अब तक सैकडो उपन्यास छप चुके है जिनसे मनोरंजन या ऐतिहासिक बाते जानने के सिवा और कोई विशेष कुछ लाभ नही हुआ, किन्तु हमे आशा है कि इस उपन्यास से मनुष्य जाति मात्र का उपकार होगा। ('चाची')

(छ) इस समय जब कि लोगो के मनो मे धर्मग्रन्थो से अरुचि हो रही है ·····यह टरैक्ट जिसमें सत्य सनातन वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की महिमा दर्शायी गयी है जनता की भेट किया जाता है। ('काशीयात्रा')

(ज) जब घटनापूर्ण, अश्लीलतामय, चरित्रनाशी, रसीली कहानियाँ पढ़ते पढ़ते आप लोगो का जी ऊब जाय तब आप लोग इसे अपने हाथ में लीजिएगा और देखिएगा कि आप लोगो के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है या नहीं·····। (सौन्दर्योपासक)

(झ) आओ आज हम आप लोगों को आप बीती सुना उस मायावी की

माया का विचित्र रंग-ढंग दिखाते हैं। ('दीनानाथ')

उपन्यासकारों का पाठक से निकट सम्पर्क रहता था अर्थात् उपन्यास लिखते-लिखते वे पाठक से बात करते जाते थे और अपनी कला से उसे ऐसी-ऐसी चीजें दिखाते थे जिनसे उसका मन लगा रहे। यह शैली उस युग की नाटक-प्रियता का प्रभाव मानी जा सकती है। वस्तुत: उपन्यासकार उस सूत्रधार के समान था जो पाठकों के परितोष से ही अपने उपन्यास-विज्ञान[1] को सफल मानता है। पाठकों का ध्यान रखकर लिखना यदि लेखक का गुण है तो प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास में यह विशेष रूप से दर्शनीय है।

कतिपय उपन्यासकार कथा का कई भागों में विभाजन करके उपन्यास लिखते थे। किशोरीलाल गोस्वामी का 'लखनऊ की कब्र' यदि सात भागो में है तो शम्भुदयाल श्रीवास्तव की 'मदनमजरी' के नौ भाग हैं, और देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्तासन्तति' के चौबीस। सामाजिक उपन्यास इतने बड़े न होते थे, फिर भी मेहता लज्जाराम का 'आदर्श हिन्दू' तीन भागों में है। उपन्यास की आकार-वृद्धि सफल तभी हो सकती है जब पाठक की अनुरक्ति उत्तरोत्तर बढती जाए, इस बात का घटनात्मक उपन्यासकारों को पूरा विश्वास था। प्राय: पूर्व-घटित या भावी कथा की ओर ध्यान देने के लिए फुटनोट मे उस प्रकार का संकेत कर दिया जाता था; यह गुण किशोरीलाल मे अधिक है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग 'रीतिकाल', 'पारसी-रगमंच', उर्दू शायरी', और संस्कृत-साहित्य' के चार लहलहे उद्यानों से घिरा हुआ था। इसलिए कोई भी लेखक इनकी सुरभि से बच नही सकता है; प्रभाव की मात्रा मे भेद भले ही हो। 'रीतिकाल' से सजावट, रंगमंच से कथोपकथनों मे चुस्ती, शायरी से रंगीनी, और सस्कृत से वर्णन-प्रेम इस काल में व्याप्त हो गया था। इस उपन्यास-साहित्य के तीन महान् सहायक काव्य, नाटक और अखबार हैं, काव्य से रसिकता, नाटक से पाठको का सामीप्य, और समाचार-पत्रो से उपन्यास को सत्य घटनाओ का आधार मिला था।

उपन्यासकारो की सबसे बडी कमजोरी अपने दृष्टिकोण का अभाव है। फलत: कला और उद्देश्य दोनों में से किसी पर भी लेखक के व्यक्तित्व की छाप नही मिलती। किभी भी उपन्यास के विषय में यह दावा नही किया जा सकता कि वह अमुक लेखक की ही कृति है, इतर की नही। लेखको ने या तो तरह-तरह के प्रयोग किये हैं, या पाठको की रुचि में अपने को बहा दिया है। यही कारण है कि उपन्यास चमक कर उज्ज्वल नही बन सके। जिन उपन्यासकारो का व्यक्तित्व सबल था, और अपनी रचना पर जिन की छाप है (जैसे लाला श्रीनिवासदास) वे सख्या में बहुत कम हैं। और उन्होने एक-दो से अधिक उपन्यास नहीं लिखे।

वह युग अनुवाद और अनुकरण का था। इसलिए मौलिकता की कसौटी पर उसे आंकना उचित नहीं। दूसरी रचनाओं (इतिहास, समाचार-पत्र, नाटक अथवा उप-

१. अभिज्ञान-शाकुन्तल के सूत्रधार के समान जो 'प्रयोग-विज्ञान' की सफलता विद्वानों का परितोष मानता है।

न्यास) से संकेत लेकर लेखक उपन्यास लिख डालते थे, क्योंकि कल्पना सदा उनकी सेवा को प्रस्तुत रहती थी। कतिपय उपन्यासकारों ने सच्ची घटनाओं के आधार पर कथानक बनाया है, कुछ लेखकों ने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर। परन्तु प्रत्येक लेखक यह अवश्य चाहता था कि उसकी कल्पना पर विश्वास किया जाए; अंग्रेजी के उपन्यास-लेखक डेफो की विश्वास जमाने वाली कला हिन्दी के इन उपन्यासकारो मे भी पाई जाती है। वे भूमिका मे यह घोषणा कर देते हैं कि उनकी कृति का आधार एक सच्ची घटना है, व्यक्तियों और स्थानों के नामो के अतिरिक्त सारी बातें सच्ची हैं।

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जो उपन्यास लिखे गये थे वे आजकल की दृष्टि से अविकसित या असफल भले ही मान लिये जाए उनका ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है। वे हिन्दी-साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण कडी ही नही हैं, तत्कालीन जनता के जीवन का प्रमाणिक प्रतिबिम्ब भी हैं। सामान्य जनता का मनोवैज्ञानिक दर्शन जितना उन उपन्यासों में हो सकता है उतना अन्यत्र नही, क्योकि उनका निर्माण ही जनता के मनोरजन के लिए हुआ था।

प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-साहित्य का वर्गीकरण

हमारे आलोच्य-काल मे जो असख्य साहित्यिक एव लोकप्रिय उपन्यास लिखे गये उनकी मुख्य विशेषता पाठक की कुतूहल-वृत्ति को परितृप्त करते हुए उसका मनोरंजन करना है। इसलिए, आधुनिक शब्दावली मे, वे उपन्यास घटना-प्रधान ही हैं। डा० श्रीकृष्णलाल[1] ने उन उपन्यासो के दो भेद माने हैं—कथाप्रधान तथा चरित्रप्रधान; परन्तु 'चरित्र-प्रधान' वर्ग में नाम मात्र के ही लिए (हरिऔध, लज्जाराम मेहता, तथा मन्नन द्विवेदी के) कुछ उपन्यासो को स्थान दिया है। इसके विपरीत 'कथाप्रधान' उपन्यासो के छ. उपवर्ग बनाये हैं। 'कथाप्रधान' उपन्यासो का यह उपवर्गीकरण निम्नलिखित है.—

(क) तिलस्मी।
(ख) साहसिक—डकैटी-सम्बन्धी, सभ्य व्यक्ति के पाप से सम्बद्ध, एवं राजनीतिक क्रान्ति-सम्बधी।
(ग) जासूसी।
(घ) प्रेमाख्यानक—रीतिकालीन परम्परा पर अथवा फारसी प्रभाव से।
(ङ) ऐतिहासिक।
(च) पौराणिक।

यह वर्गीकरण शैलीगत है। इस पर एक बार दृष्टिपात करने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि यदि कुछ उपन्यासो को 'चरित्रप्रधान' मान भी लिया जाय तो भी उन को अपवाद कहा जागया उस युग की प्रवृति नही; उस काल के उपन्यास 'कथाप्रधान' ही हैं, यदि कोई अपवाद है तो वह युग-प्रवाह से अलग है, उसका स्वतंत्र वर्ग नहीं बन

---

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० २९२

सकता। अस्तु, उन 'कथा-प्रधान' उपन्यासों का विषय-वस्तु के अनुसार तत्कालीन साहित्यिको ने भी वर्गीकरण किया है। 'महेन्द्रकुमार या मदनमंजरी' उपन्यास के पीछे गुजराती के प्रसिद्ध उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' का परिचय देने वाला विज्ञापन बतलाता है कि 'सरस्वतीचन्द्र' में (क) सामाजिक, (ख) ऐतिहासिक, (ग) राजनीतिक, (घ) धार्मिक, (ङ) ऐयारी, (च) तिलस्म, (छ) जासूसी आदि सभी प्रकार के उपन्यासों का आनन्द मिलता है। यद्यपि 'विज्ञापन' को 'समीक्षा' के समकक्ष आधार नही माना जा सकता, फिर भी इससे इतना तो संकेत मिल ही जाता है कि उस युग में उपन्यास कितने 'प्रकार' के होते थे। डा० श्रीकृष्णलाल ने भी 'कथाप्रधान' उपन्यासो का उप-वर्गीकरण लगभग इन्हीं धाराओ से किया है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से लेखको ने स्वय भी अपने उपन्यास की जाति बतला दी है, और वह उपन्यास उस जाति में सफल हो अथवा असफल, उस जाति का अस्तित्व तो सिद्ध हो ही जाता है। कतिपय नाम उन उपन्यासो के ले जिनके ऊपर उनकी 'जाति' या 'प्रकार' अंकित है:—

'वीर जयमल'	—	'ऐतिहासिक उपन्यास'
'किले की रानी'	—	'शिक्षाप्रद अद्‌भुत उपन्यास'
'कुसुम कुमारी'	—	'सत्य-घटना-मूलक उपन्यास'
'लक्ष्मी देवी'	—	'शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यास'
'चाची'	—	'गार्हस्थ्य उपन्यास'
'नूरजहाँ'	—	'ऐतिहाहिक उपन्यास'
'सावित्री'	—	'गार्हस्थ्य उपन्यास'
'राजकुमारी	—	'सामाजिक उपन्यास'
'अगूठी का नगीना'	—	'सत्य-घटना-मूलक गार्हस्थ्य उपन्यास'

इनके अतिरिक्त 'सामाजिक उपन्यास', 'ऐतिहासिक उपन्यास', तथा 'तिलस्मी उपन्यास', 'जासूसी उपन्यास' तो इतने उपन्यासो पर लिखा हुआ है कि उनकी गिनती नही हो सकती। 'गार्हस्थ्य', 'धार्मिक', आदि भेद 'सामाजिक उपन्यास' के ही हैं। अस्तु, किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासो को सामान्यत: 'सामाजिक', 'ऐतिहासिक तथा 'घटनात्मक' लिखा है—अपवाद रूप मे एक-दो अन्य नाम भी है जैसे 'अंगठी का नगीना' उपन्यास 'सत्य-घटना-मूलक गार्हस्थ्य उपन्यास' है, परन्तु इस प्रकार के 'प्रकार' को 'वर्ग' न मान कर 'वर्णन' मात्र[1] समझना चाहिए। अत प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यासों के तीन वर्ग स्वीकार किये गये हैं:—

(क) सामाजिक
(ख) ऐतिहासिक
(ग) घटनात्मक

---

१. मुखपृष्ठ पर इस को 'गार्हस्थ्य उपन्यास' लिखा गया है और प्रथम पृष्ठ पर 'सामाजिक उपन्यास'

और प्रत्येक 'वर्ग' का अध्ययन एक नवीन अध्याय में किया गया है। इस वर्गीकरण में मेरी नीति यह रही है कि सर्वप्रथम लेखक का कथन प्रामाणिक माना जाय; यदि लेखक एक विशेष उपन्यास को 'ऐतिहासिक' कहता है तो उस उपन्यास का अध्ययन उसी वर्ग में हो, भले ही उस उपन्यास में ऐतिहासिकता की दृष्टि मे त्रुटि हो। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'राजकुमारी' उपन्यास को 'सामाजिक' बतलाया है, यद्यपि इसमें लेखक के ऐतिहासिक उपन्यासों के भी गुण हैं, मैंने उसे 'सामाजिक' वर्ग में ही स्थान दिया है। गोस्वामी जी ने 'कटे मूंड की दो-दो बाते' उपन्यास को 'घटनात्मक' लिखा है, यद्यपि इसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है; इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध में उसे 'घटनात्मक' ही माना गया है। यदि लेखक ने अपने उपन्यास का स्वय कोई वर्ग नहीं बतलाया तो सर्वप्रथम यह देखना है उसकी पृष्ठभूमि मे इतिहास तो नहीं है यदि इतिहास है तो उपन्यास को 'ऐतिहासिक' वर्ग में स्थान मिल जायगा। इतिहास-रहित उपन्यास में यदि समकालीन समाज के किसी अग या समस्या का चित्रण है तो उसे 'सामाजिक' संज्ञा मिली है, अन्यथा वह 'घटनात्मक' है। इस प्रकार 'घटनात्मक' वर्ग बडा व्यापक एवं अनिश्चित है। 'घटनात्मक' वर्ग मे सामान्यतः दो प्रकार के उपन्यास आते है; चित्र-विचित्र घटनाओ से भरे हुए—'जासूसी', 'तिलस्मी' और 'ऐयारी' के ढंग के अनूठे'[1] उपन्यास, तथा वे उपन्यास जितमे 'रगीले, भड़कीले, अनूठे और जानदार'[2] कथानको में 'किस्मत का खेल'[3], 'प्रेम का फल'[4], 'चालाको की चालाकी, चोरो की दगाबाजी, ठगो की धोखेबाजी'[5], 'जिन्दो की महफिल'[6] आदि चित्र-विचित्र विषय अकित किये गये है।

इस वर्गीकरण को बंगाली साहित्य का समर्थन भी प्राप्त है। बगाली-उपन्यास पर विचार करते हुए एक विद्वान लिखते हैं कि भारत के क्लासिकल तथा देशभाषा साहित्यो मे रोमान्स, उपकथा (टेल) एव नीतिकथा (फेबल) रूप तो थे परन्तु आधुनिक सामाजिक एव ऐतिहासिक उपन्यास नही—यह पाश्चात्य प्रभाव का प्रत्यक्ष फल है[7]। इस अभिमत में प्रारम्भिक बगाली उपन्यास पर दो प्रभाव स्वीकार किये गये हैं; भारतीय परम्परा की 'रोमान्स', उपकथा' एवं 'नीतिकथा' का, तथा पाश्चात्य परम्परा के 'सामाजिक' एव 'ऐतिहासिक' उपन्यास का। एक दूसरे विद्वान ने बंगला के प्रारम्भिक उपन्यासो के तीन वर्ग किए हैं; (क) 'लोकरजक नक्शा जाहाते टाइप-विशे-

१. 'राजकुमारी' उपन्यास के अन्त में विज्ञापन से।

२. 'चाची' उपन्यास पर 'हिन्दी दारोगा' का विज्ञापन।

३. विट्ठलदास नागर का उपन्यास।

४. निहालचन्द वर्मा का उपन्यास।

५. 'कटा हुआ सिर' उपन्यास के मुखपृष्ठ से।

६. बांकेलाल चतुर्वेदी का उपन्यास।

७. श्री जे० सी० घोष : बेंगाली लिटरेचर, पृ० १५२

षेर अल्पविस्तर स्वरूप-चित्रण आछे', (ख) 'अद्‌भुत रसात्मक उपकथा', 'आदि रसात्मक पुरानो रोमान्टिक आख्यायिका', 'नीतिमूलक काहिनी', (ग) 'ऐतिहासिक काहिनी'[२]। हिन्दी में इनमें से प्रथम वर्ग को 'सामाजिक' और दूसरे को 'घटनात्मक' कहा गया है। बंगभाषा में सामाजिक उपन्यास का टेकचन्द ठाकुर के 'अलालेर घरर दुलाल' (सन् १८५८) से, ऐतिहासिक का भूदेव मुखोपाध्याय के 'ऐतिहासिक उपन्यास' (प्रथम जिल्द सन् १८५७, द्वितीय जिल्द सन् १८६२) से तथा अद्‌भुत उपन्यास का रामसदय भट्टाचार्य के 'अद्‌भुत उपन्यास' (सन् १८६१) से सूत्रपात हुआ था।

●

१. बांग्ला साहित्येर इतिहास, द्वितीय खण्ड, पृ० १६५

: ३ :

सामाजिक उपन्यास

सामाजिक जीवन की रेखाएं

पाश्चात्य जीवन और साहित्य के सम्पर्क से हमारे समाज में जो अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाएं हुईं उनसे नव युग का सूत्रपात माना जाता है। इस नवचेतना का इतिहास सामान्यत. दो कालों में विभक्त है—कांग्रेस-पूर्व-काल तथा कांग्रेस-काल। सन् १८२१ में राजा राममोहन राय ने 'सम्वाद-कौमुदी' नामक पत्रिका द्वारा सामाजिक अभ्युत्थान का कार्य अपने हाथ मे लिया। सन् १८८३ में महर्षि दयानन्द ने निर्वाण-लाभ किया। सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। इस प्रकार अध्ययन की सुविधा के लिए सन् १८२१ से १८८४ तक का काल, राममोहन से दयानन्द तक के नेतृत्व का युग[1], कांग्रेस-पूर्व-काल नाम से अभिहित किया जाता है। हिन्दी के प्रथम साहित्यिक उपन्यास परीक्षा-गुरु' की रचना (सन् १८८२) के साथ-साथ कांग्रेस-पूर्व-काल का अवसान हो रहा था, परन्तु उस युग की चेतना का प्रभाव सामाजिक जीवन पर जलियाँवाला बाग काण्ड (सन् १९१७) तक चलता ही रहा। फलत. हमारे आलोच्य काल (सन् १८८२ से १९१८) को कांग्रेस-पूर्व काल की चेतना ही अधिक प्रभावित करती रही है।

बंगाल में

पाश्चात्य किरणों का आलोक सर्वप्रथम बंगाल में विकसित हुआ था। इसके वैतालिक राजा राममोहन राय (सन् १७७२ से १८३३ तक) थे। राममोहन के व्यक्तित्व मे दार्शनिक, सुधारक एवं राजनीतिज्ञ तीनों का सुन्दर समन्वय था। उपनिषदो का चिन्तन करते हुए वे जीवन की भव्यता से उत्फुल्ल हो उठे, परन्तु समाज की दुर्दशा ने उनके मन को खिन्न कर दिया, तब उन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि सांस्कृतिक अतिवाद[2] (एक्सेस इन सिविलाइजेशन) एव सामाजिक जातिभेद (डिविजन इन्टु कास्ट्स) भारतीय जीवन के अभिशाप रहे है, इसलिए कम से कम राजनीतिक लाभ एव सामाजिक सुख के लिए तो विद्यमान धर्म-रीति मे कुछ परिवर्तन[3] अवश्य ही होने चाहिए।

---

१. हिस्ट्री आफ पौलिटिकल थौट०, प्रीफेस, ९

२. दि इंग्लिश वर्क्स आफ राममोहन राय, दि ब्रह्मनिकल मैगजीन, पृ० १४६

३. वही पृ० ९३०

उस युग में अंग्रेजी शासन तथा अंग्रेजी सभ्यता घृणा की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे, बंगाल ने नवाबी अत्याचारों से छूटकर अंग्रेजी व्यवस्था में सन्तोष की सांस ली थी; सत्य, दृढ़ता, न्याय एवं शासितों के प्रति समान व्यवहार करने के लिए नवाब के रिश्तेदारों की अपेक्षा ईस्ट इन्डिया कम्पनी के कर्मचारी अधिक विश्वसनीय थे। फलतः बंगाल के ग्रामों में भी अंग्रेजों को रक्षक एवं पालक माना गया। नगरो में राममोहन जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति का यह प्रस्ताव था कि यदि बहुसंख्या में सभ्य अंग्रेज लोग[1] भारत में बस सकें तो देश की राजनीतिक उन्नति[2] दृढ़तर हो सकती है। राममोहन को भारतीय गौरव का उतना विश्वास नही था, जितनी कि सामाजिक सुधारो की चिन्ता; उनके विचार इतने सामयिक थे कि उनको अतीत का पराग सुरभित न कर सका। उनको हिन्दू, मुसलमान या ईसाई धर्म तक सीमित नही कहा जा सकता क्योंकि वे किसी विशिष्ट विचारधारा में बँधे हुए नही थे। एक बार इग्लैण्ड में उन्होने यह बतलाया कि कानूनी अभ्यास में मुसलमान बढ़कर हैं इसलिए वे हिन्दुओ की अपेक्षा न्यायाधिकरण के लिए अधिक उपयुक्त हैं। अतएव, सन् १८३२ के एशियाटिक जरनल के अनुसार[3], एक अंग्रेज व्यंग्यलेखक ने 'भारतीय सरकार के लिए योजनाए—नाटक' लिखकर प्रस्ताव रखा था कि राजा राममोहन राय को भारत का गवर्नर जनरल बनाया जाये, न्यायाधिकरण के सब पद मुसलमानों को मिलें और मालविभाग के पद हिन्दुओं को तथा पुलिस ईस्ट इण्डिया या इण्डो-ब्रिटेन लोगो के हाथ में रहे।

राममोहन के बाद बंगाल का नेतृत्व समन्वित न रह सका। राममोहन के अनुयायियों में से देवेन्द्रनाथ ठाकुर और हरिश्चन्द्र मुकर्जी ने उनके सामाजिक सुधार स्वीकार किये, गोविन्दचन्द्र दत्त ईसाई हो गये, और रामगोपाल घोष, प्यारीचन्द मित्र,

[redacted]

(Life and Letters of Raja Ram Mohan Roy).

३. हिस्ट्री आफ० पृ० ६

मूर्त्तिपूजा विषय सामाजिक-धार्मिक (शोशल एण्ड रिलीजिअस)[1] हैं; इसलिए ये सरकारी कानून (लेजिस्लेशन) के क्षेत्र नही है। सन् १८७२ में राजनारायण वसु ने 'नेशनल सोसाइटी' में एक गम्भीर व्याख्यान दिया जिसका विषय था—'हिन्दू धर्म की अन्य सब धर्मों से श्रेष्ठता'। इन्ही दिनो राजा कमलकृष्ण बहादुर एवं कालीकृष्ण बहादुर ने 'सनातन धर्म रक्षिणी सभा' की स्थापना की, और इस विशेष अवसर पर स्वामी दयानन्द सरस्वती को विशेष निमन्त्रण पर कलकत्ता बुलाया।[2] इसी समय केशवचन्द्र सेन ने रामकृष्ण परमहंस के सदुपदेशो द्वारा नवशिक्षित नवयुवको के मन में भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के प्रति अनुराग एव सम्मान जगाने का सफल प्रयत्न किया। यह बंगाली जागृति का दूसरा युग था जिसमें समाज-सुधार का चक्र यूरोप के इधर-उधर घूम कर चमकने की अपेक्षा आत्मसंस्कार द्वारा द्वीप्त होने लग गया था।

हिन्दी क्षेत्र में

हिन्दी-क्षेत्र मे इस पुनरुत्थानवादी आन्दोलन का श्रेय महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिष्ठित 'आर्य समाज' को है। इसकी कतिपय स्वकीय विशेषताए हैं। प्रथम तो इसकी प्रेरणा विदेशी प्रभाव न होकर आत्मविश्लेषण है, इसलिए यह अंग्रेजी भाषा-संस्कृति को अनावश्यक ही नही घातक समझता है और वेदादि प्राचीनतम आर्ष धर्म-ग्रन्थों को आदर्श, अनुकरणीय एव प्रमाण मानता है। दूसरे, समाज की राजनीतिक-आर्थिक दुर्व्यवस्था से सुपरिचित होते हुए भी इसका मूल मन्त्र आत्मगौरव द्वारा राष्ट्र का अभ्युत्थान है। सोते हुए को जगाना ही पर्याप्त है जगा हुआ भोजन की व्यवस्था तो स्वय कर लेगा। तीसरे, माध्यम सस्कृत एव हिन्दी होने के कारण इसका प्रभाव कतिपय गिने चुने लोगो पर ही न होकर जन-सामान्य पर रहा है। ब्रह्मसमाज के कुछ समय बाद आर्य समाज की स्थापना (सन् १८७५) हुई परन्तु बगाली चेतना के द्वितीय उत्थान से पूर्व ही समस्त देश मे महर्षि दयानन्द का यश फैल गया था। फलतः कलकत्ता सनातन-धर्म-रक्षिणी सभा की प्रतिष्ठा के अवसर पर अहिन्दीभाषी नेताओ ने भी स्वामी दयानन्द को विशेष निमन्त्रण देकर उनका गौरव स्वीकार किया। हिन्दी उपन्यास के प्रथम काल (सन् १८८२ से १९१८) को अधिकाशतः आर्यसमाज (स्थापित सन् १८७५) ही अधिक प्रभावित करता रहा है।

आर्यसमाज के सामान्यतः दो पक्ष माने जा सकते हैं—(i) वैदिक विचारधारा में अटूट विश्वास एवं (ii) समाज में विद्यमान कुरीतियो का वैदिक आलोक में निराकरण। प्रथम पक्ष को पारिभाषिक शब्दावली में 'आस्तिकता' कहा जाता है, क्योंकि वेद-निन्दक को 'नास्तिक' की उपाधि हमारे यहां परम्परा से प्राप्त है। आर्यसमाज का तीसरा नियम—'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढना-पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है'—इसी आस्तिकता का आग्रह करता है। हिन्दी-

---

१. हिस्ट्री आफ पोलिटिकल०, पृ० २१३

२. वही पृ० २४०

क्षेत्र में ही नहीं समस्त देश में आर्यसमाज के इस नियम को निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया, हिन्दू-मात्र वेद को श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखता है। परन्तु वेदार्थ की व्याख्या में मतभेद उपस्थित हुआ। आर्यसमाज ने विद्यमान कुरीतियो को अवैदिक सिद्ध करके उनको परवर्त्ती-प्रभाव-जन्य बतलाया और वैदिक स्फूर्त्ति, अभय एवं आत्म-गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए उनका त्याग आवश्यक ठहराया। इसके विपरीत सनातन-धर्मी[1] यह कहते थे कि ये प्रथाएं वेदानुमोदित हैं, इनका स्वरूप बदल गया है, इनको अधिक श्रद्धा से सम्पन्न करने पर ये कुरीतिया न रह जायंगी। अस्तु, 'सत्यार्थ प्रकाश' में इन कुरीतियों और सुधारों पर विस्तार से विचार किया गया है। समान्यतः ये सात हैं :—

(१) 'विद्याधर्म विरुद्ध भ्रान्तिजाल मे गिराने वाले व्यवहार'—'भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास', 'ग्रहो का फल', अथवा 'मन्त्र-यन्त्र आदि' ढोंग। (सत्यार्थ प्रकाश, द्वितीय समुल्लास)

(२) 'उचित समय से न्यून आयु वाले स्त्री-पुरुष'—'१६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयु वाले पुरुष' का विवाह। (वही, चतुर्थ समुल्लास)

(३) 'स्वयंवर की रीति'[2]—'जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारे तो भी लडका-लडकी की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए—' '..... विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता-पिता का नही .....'। (वही)

(४) 'वर्णव्यवस्था भी गुण कर्म स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए'—'चारो वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह उसी वर्ण में गिने जावे'। (वही)

(५) 'पुनर्विवाह', अथवा 'विधवा विवाह'। (वही)

(६) 'पोपलीला'—मूर्त्तिपूजा', 'तीर्थ', 'पुराणपथी', 'श्राद्ध', 'तर्पण, पिण्ड-प्रदान', 'गोदान', 'एकादशी' आदि व्रत'। (वही)

(७) वाममार्ग, 'कनफटे, नाथ, गिरी, पुरी, वन, आरण्य, पर्वत और सागर' शैव, वैष्णव, कबीरपथी, दादूपथी, गोसाईं आदि। (वही)

---

१. 'सनातन धर्म' का संगठन कब हुआ यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, लगता है कि बंगाल में जिस प्रकार 'ब्रह्मसमाज' की प्रतिक्रिया 'सनातन धर्म रक्षिणी सभा' के रूप मे हुई उसी प्रकार 'आर्यसमाज' के विरोध में हिन्दी-क्षेत्र में 'सनातन धर्म' प्रतिष्ठित हुआ होगा।

२. जबसे यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के अधीन विवाह होने लगा तबसे क्रमशः आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें।
(सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास)

आर्यसमाज ने वेदबाह्य मान कर जिन मतों और रीतियों का खण्डन किया उनके विषय में मतभेद स्वाभाविक था। परन्तु जो सम्प्रदाय हिन्दू धर्म से अलग माने जाते थे उनका खण्डन सबको प्रिय लगा, सभी हिन्दू नेता इस्लाम और ईसाइयत से हिन्दूधर्म को बचाने में एक-मत रहे, अंग्रेज़ी सभ्यता में कुप्रभाव भी सब लोग स्वीकार करते थे। किशोरीलाल गोस्वामी ने मुसलमानों का मलिन चित्रण किया है। देवकीनन्दन खत्री ने मुसलमान ऐयारो को दुश्चरित्र, बेईमान, दगाबाज एवं विजयगढ राज्य के पतन का मूल कारण माना है। श्यामकिशोर वर्मा ने 'क्रिश्चियनिटी' की तुलना विषैले भयंकर सर्प से की है। अस्तु, जहां तक अहिन्दू मतों का सम्बन्ध है उस काल के सभी उपन्यासकार एकमत है कि वे हिन्दू धर्म के लिए घातक है उनसे बच कर ही हिन्दूधर्म रक्षित एवं दृढ रह सकता है। अब दूसरा वर्ग उन मतो का है जो भारत में जन्म लेकर भी वेद-शास्त्र का विरोध करते थे। इनमें वाम मार्ग मुख्य है, अन्य तान्त्रिक मत भी इनके अन्तर्गत हैं। आर्य समाज ने इनका खण्डन किया और सब हिन्दुओ ने इस खण्डन को स्वीकार कर लिया। जैन और बौद्धमत भी वेद-बाह्य है परन्तु जैन मत हिन्दी-साहित्य के आरम्भ काल से ही वैष्णव मत का सहचर बन कर रहता आया है, इसलिए 'सत्यार्थप्रकाश' मे खण्डन होने पर भी किसी उपन्यास मे इसके विरुद्ध कुछ नही कहा गया, प्रत्युत आर्यसमाज से प्रेरणा लेकर गोहना निवासी कृष्णलाल वर्मा ने 'चम्पा' उपन्यास में जैन समाज मे सुधार करने का प्रयत्न किया है। बौद्धमत भारत में शेष नही रह गया था, उसका विकृत एवं दूषित रूप ही अनेक मत-सम्प्रदायो में प्रसरित हो गया था।

वेद के अनन्तर दूसरा प्रमाण पुराण है। वैष्णव एव शैवमत अपनी शक्ति पुराणों से ही संचित करते है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' ने एकादश समुल्लास में पौराणिको की तुलना ईसाई पोपो से करके पुराणपथी को पोपलीला के समकक्ष माना गया है। समाज की अनेक कुरीतिया जिनके विरोध मे आर्यसमाज ने आवाज उठाई थी पुराण से ही अपना उद्गम मानती हैं। अस्तु, आर्यसमाज का सबसे बडा विरोध हिन्दुओ ने पौराणिक रीतियो के खण्डन पर किया। बंगाल मे 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना योरोपीय उच्छ्वास से हुई थी, इसलिए राममोहन के बाद आत्मविश्वासी हिन्दुओ ने 'सनातन धर्म' नाम से अपना सगठन किया; 'आर्य समाज' शुद्ध भारतीय आन्दोलन है फिर भी इसके खण्डन से बचने के लिए पौराणिक हिन्दुओ ने 'सनातन धर्म' नाम से ही अपनी रक्षा करनी चाही।

उपन्यास-साहित्य

आलोच्य-काल की प्रौढ़ता में अधिकतर सामाजिक उपन्यास वैदिक और पौराणिक अथवा आर्यसमाजी और सनातनधर्मी विचारधारा का विरोध ही चित्रित करते हैं। एक ओर ईसाई अपनी कहानियां सुना-सुना कर अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे, दूसरी ओर हिन्दुओं ने अपने प्रतिपादन तथा इतर के खण्डन में रोचक कथाए रच कर उपन्यास के विकास में योग दिया। अस्तु, विचारधारा की दृष्टि से उन सामाजिक

उपन्यासों के तीन वर्ग बन सकते हैं :—(क) आर्यसमाजी, (ख) सनातनी, और (ग) सामान्य-सुधारवादी। आर्यसमाजी उपन्यासकारो में श्यामकिशोर वर्मा, कृष्णलाल वर्मा और रुद्रदत्त शर्मा के नाम लिये जा सकते हैं। सनातनी उपन्यास-लेखक किशोरीलाल गोस्वामी, गणाप्रसाद गुप्त और लज्जाराम शर्मा आदि हैं। शेष सुधारवादी उपन्यासकारो में रामजीदास वैश्य, अयोध्यासिह उपाध्याय, ब्रजनन्दन सहाय, मन्नन द्विवेदी आदि मुख्य हैं।

सामाजिक उपन्यासो का, विषय-वस्तु की दृष्टि से दूसरा वर्गीकरण भी हो सकता है। 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२), 'नूतन चरित्र' (सन् १८८३), 'नूतन ब्रह्मचारी' (सन् १८८६), 'निस्सहाय हिन्दू' (सन् १८९०), 'सौ अजान और एक सुजान' (सन् १८९१-९२), 'सुन्दर सरोजिनी' (सन् १८९३) आदि उपन्यासो मे सामाजिक जीवन का खण्डन-मण्डन नही है, प्रत्युत व्यवहारनीति, रोमाण्टिक प्रेम, बनावटी जीवन आदि के यथार्थ चित्र हैं। ये जीवन को लेकर ही चलते रहे। आगे चलकर विचार-धारा में मोड आया जिसका प्रारम्भ किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओ से होता है। इसमें 'नव्य-समाज' और 'सनातन समाज' का तुलनात्मक चित्रण प्रारम्भ हुआ। मन्नन द्विवेदी युग-परिवर्त्तन के प्रकाश-स्तम्भ है।

अस्तु, प्रेमचन्द-पूर्व-युग के सामाजिक उपन्यासो का अध्ययन निम्नलिखित व्यवस्था के अनुसार करना अधिक समीचीन होगा :—

(क) 'परीक्षा गुरु' से पूर्व
(ख) 'परीक्षागुरु'
(ख) 'परीक्षा-गुरु' की परम्परा
(घ) नव आन्दोलन के उपन्यास सनातन धर्मी, आर्यसमाजी, सामान्य सुधारवादी।

'परीक्षा गुरु' से पूर्व

बगला और हिन्दी मे उपन्यासो का प्रारम्भ सामाजिक रचनाओ से हुआ। यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाश्चात्य सस्कृति, साहित्य और व्यक्तियो के सम्पर्क से कलकतिया जीवन का कुछ अश बदलता जा रहा था, जिसको तत्कालीन धार्मिक-सामाजिक नेताओं ने पसन्द न किया। फलत इस 'नव' जीवन को लक्ष्य करके कुछ उत्साही लेखकों ने 'नव-न्यास' या 'नवल' शैली पर व्यग्य-विद्रूप एवं हास्यरसपूर्ण सामाजिक चित्र अकित किये। 'नव-बाबु-विलास' (सन्१८२५) इस वर्ग की प्रसिद्ध रचना है। इसके लेखक प्रमथनाथ शर्मा अथवा भवानीचरण वन्द्योपाध्याय थे। 'नव-बीबी-विलास', 'दूतीविलास' आदि रचनाएं उसी अनुकरण पर है। इसी वर्ग की परन्तु कुछ वर्ष पूर्व की रचना 'बाबुर उपाख्यान' (सन् १८२१) 'समाचार-दर्पण' नामक पत्र में प्रकाशित हुई थी। इस प्रकार 'बाबु' और 'बीबी' को लक्ष्य कर के लिखी गईं इन रचनाओं में नव्य समाज पर व्यंग्य है, फलत: ये रचनाएं सर्वथा साहित्यिक

सुरभि प्रदान नहीं करतीं; 'नव-बाबु-विलास' में तो कतिपय प्रसंग अश्लील बन गये हैं।

कुछ दशाब्दियों बाद सामाजिक रचनाओ का दूसरा क्रम दृष्टिगत होता है। इसमें सस्ते व्यंग्य के स्थान पर गम्भीर दोष-निर्देश था, इसके लेखक समाज-सुधार की भावना से साहित्य-क्षेत्र में आये थे। इन रचनाओं को साहित्यिक उपन्यास का पद प्राप्त हुआ। टेकचन्द ठाकुर अथवा प्यारीचन्द मित्र का 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५८ ई०) इस वर्ग की प्रथम एवं मूर्धन्य रचना है। हिन्दी के प्रारम्भिक सामाजिक उपन्यासो से 'आलाल' का घनिष्ठ साम्य है।

आलालेर घरेर दुलाल

'आलालेर घरेर दुलाल' बंगला का प्रथम उपन्यास है। इसके लेखक प्यारीचन्द मित्र का जन्म सन् १८१४ ई० मे कलकत्ते में हुआ था। बंगला, फारसी और अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे सन् १८३६ ई० में पब्लिक (कालान्तर में 'इम्पीरियल') लाइब्रेरी मे नियुक्त हो गये, और मुख्य लाइब्रेरियन एवं सेक्रेटरी पद पर पहुँचे। कालाचाद सेठ के साथ उन्होने 'कालाचांद सेठ एण्ड कम्पनी' नाम से व्यापार भी प्रारम्भ किया, जो १८५५ ई० में 'प्यारीचाद मित्र एण्ड सन्स' नाम से चलने लगा। सन् १८५४ ई० से प्यारीचाद मित्र ने एक 'मासिक पत्रिका' निकाली, जो 'सर्वसामान्य विशेषत· अल्पशिक्षिता महिलाओ' के लिए थी। इसी पत्रिका मे धारा प्रवाह रूप से 'आलालेर घरेर दुलाल' छपा था; इसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १८५८ मे हुआ।

बगला साहित्य की दृष्टि से 'आलालेर घरेर दुलाल' का दो प्रकार का महत्व है। इससे पूर्व ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की सस्कृत-बहुला बगला भाषा साहित्य मे प्रतिष्ठित थी, परन्तु 'मासिक-पत्रिका' और विशेषत· 'आलालेर घरेर दुलाल' ने 'लोक-प्रचलित सहज 'बगला' का सूत्रपात किया। यह 'आलाली भाषा' कहलाई। बहुत समय तक 'ईश्वरचन्द्री' और 'आलाली' भाषाओ का विरोध चला। जिसका समझौता 'बंकिमी' भाषा मे हुआ[1]। 'आलाल' की रचना भाषा की दृष्टि से युगान्तकारिणी है। दूसरा महत्व यह है कि 'आलालेर घरेर दुलाल' बगला का प्रथम उपन्यास है, जो सामाजिक उपन्यासो मे आज भी यथार्थ चित्रण के कारण सम्मान प्राप्त करता है। इसका द्वितीय संस्करण सन् १८७० मे निकला था। सन् १८८२-८३ मे नरेन्द्रनाथ मित्र ने 'दि स्पौयल्ड बाय' नाम से और सन् १८८३ में जी० डी० ओस्वेल ने 'दि स्पौयल्ड चाइल्ड : ए टेल आफ हिन्दू डोमेस्टिक लाइफ' नाम से इसका अंग्रेजी मे अनुवाद किया। हिन्दी में 'आलालेर घरेर दुलाल' का कभी अनुवाद हुआ हो, ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता।

'आलालेर घरेर दुलाल' की अंग्रेजी में 'फ्रीफेस' और बगला में 'भूमिका' लेखक द्वारा ही लिखी गई है। अंग्रेजी प्रीफेस मे लेखक ने इस रचना को 'मौलिक उपन्यास' ('ओरिजिनल नावेल') तथा अपने ढंग की प्रथम रचना ('दि फर्स्ट वर्क आफ दि काइंड') बतलाया है। इसका उद्देश्य सामान्यत: नागरिक जीवन और विशेषत: हिन्दू-

१. श्री शिवनाथ शास्त्री : रामतनु लाहिड़ी ओ तत्कालीन बंगसमाज, पृ० १४१

समाज के रीति-रिवाज का चित्रण करते हुए बच्चों के सदोष विकास, विद्यमान शिक्षा एवं धार्मिक संस्कृति का वर्णन था। बंगला भूमिका में उसने बतलाया है कि जिस देश में अधिकांश लोग पुस्तकादि पढ़ने में समय यापन नही करते वहां उपन्यासादि का विशेष आदर होता है; इसी को लक्ष्य करके उसने उक्त उपन्यास की रचना की है। पुस्तक को पढ़कर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि लेखक का उद्देश्य गम्भीर एवं रचनात्मक है, वह तत्कालीन हिन्दू-समाज की दुर्दशा का मूल कुशिक्षा में पाता है जिसके कारण आत्म-संस्कार सम्भव नही हो पाता; कुशिक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व माता-पिता का अनुचित लाड़-प्यार है और गौण है शिक्षकों की शोचनीय दशा।

'आलालेर घरेर दुलाल' में ३० अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे बाबूराम बाबू का परिचय और उनके एकमात्र पुत्र एवं उपन्यास के नायक मतिलाल की बगला, संस्कृत तथा फारसी शिक्षा का वर्णन है। फिर उसकी अंग्रेजी शिक्षा के निमित्त कलकत्ता नगर में अंग्रेजी शिक्षा का वर्णन किया गया है। नायक कुसंग मे पड गया; पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। प्रसंगतः कलकत्ते की पुलिस, न्यायालय आदि का चित्रण आ गया है। मतिलाल के विवाह-प्रसग से भद्र-समाज की रीति-प्रथाएं अंकित की गई है। बहु-विवाह, श्राद्ध आदि की चर्चा प्रसंगतः आ गई है। पुलिस और मुकद्दमे, झगड़े और फिसाद, रिश्वत और बेगार, जमीदार और सामाजिक जीवन विषय विवेचना के स्थल रहे हैं। अन्त में मतिलाल वाराणसी चला जाता है और सत्सग से चित्त-शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस उपन्यास का मुख्य वर्ण्योद्देश्य यह दिखाना है कि जमीदार सम्पत्ति-शालियो के पुत्र लाड-प्यार के कारण अच्छी शिक्षा से वचित रह जाते है, अपना उल्लू सीधा करने के लिए लोग उनको कुमार्ग की ओर ले जाते हैं, अन्त मे जब पाप का घडा भर जाता है तब आंखें खुलती हैं, परन्तु उस समय भी चित्त-शुद्धि के बिना शान्ति नही मिल सकती, और चित्त-शुद्धि का एकमात्र उपाय सत्संग है। उपयुक्त शिक्षा और सत्सग, मनुष्य का संस्कार केवल इन्ही दो से होता है, इनके अभाव में मन संस्कार से वंचित ही नहीं रहता विकार की ओर भी अवश्य चला जाता है, क्योंकि मन स्थिर नही रह सकता, यदि सन्मार्ग की ओर न ले जाओगे तो कुमार्ग की ओर चला जाएगा। आलाल अर्थात् अकर्मण्य धनियों की सन्तान इसी प्रकार दुर्ललित बन कर बिगड जाती है।

भाग्यवती

'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५८ ई०) और 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२ ई०) के बीच बगभाषा में बंकिमचन्द्र[1] के ऐतिहासिक उपन्यास तथा हिन्दी में दो सामाजिक उपन्यास उल्लेखनीय है—'भाग्यवती' तथा 'एक कहानी, कुछ आप बीती कुछ जग-बीती'। पंजाब के प्रसिद्ध हिन्दी-भक्त एव सामाजिक नेता पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी की 'भाग्यवती' (सन् १८७७ ई०) को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी का प्रथम उपन्यास बतलाया है। फुल्लौरी जी साहित्यिक नही थे, मूलतः समाज-सुधारक थे, 'भाग्यवती'

---

१. इन उपन्यासों का प्रसंग द्वितीय अध्याय में आ चुका है।

की रचना उन्होंने इस उद्देश्य से की थी कि उसको पढने से 'भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो'। इस रचना को नवीन शैली का 'उपन्यास' कहने मे संकोच होगा। नायिका भाग्यवती ही नही, सभी पात्रों मे आदर्श गुणो की स्थापना की गई है। आगे चलकर धार्मिक पृष्ठभूमि पर जो सामाजिक उपन्यास लिखे गये, उनमें सत्-असत् का द्वन्द्व एव चरित्रांकन का प्रयत्न दिखलाई पडता है। अस्तु यदि सहज एव स्वाभाविक शैली मे समकालीन जीवन का वैयक्तिक दृष्टिकोण से यथार्थवादी चित्रण आधुनिक उपन्यास की कसौटी है तो 'भाग्यवती' को उस वर्ग मे स्थान देना सम्भव न हो सकेगा।[1]

एक कहानी, कुछ आपबीती कुछ जगबीती

'एक कहानी, कुछ आप बीती कुछ जग बीती' भारतेन्तु हरिश्चन्द्र की अपूर्ण रचना का प्राप्ताश है। यद्यपि इसका उतना ही भाग मिलता है जो 'कवि-वचन-सुधा' (वैशाख, सवत् १९३३ वि०) में छप गया था, फिर भी उससे लेखक की योजना का अनुमान लगाया जा सकता है। यह कहानी नहीं उपन्यास है। आत्मकथात्मक शैली में होने के कारण इस रचना से आत्मकथा की भी गन्ध आ सकती है। लेखक ने इसका वर्गीकरण 'खेलो' में किया था, प्राप्ताश केवल 'प्रथम खेल' मात्र ही है। इस पृथ्वी और आकाश के बीच ईश्वर ने जो सृष्टि की है वह अत्यन्त रहस्यमयी है। यही रहस्य इस 'खेल' की कुजी है जिसका संकेत शीर्षोद्धृत शेर से मिलता है :—

जर्माने-चमन गुल खिलाती है क्या क्या ?
बदलता है रग आसमा कैसे कैसे ?

'प्रथम खेल' मे ४ पैराग्राफ है। प्रथम पैराग्राफ मे नायक अपना परिचय देता है जिसका प्रारम्भ अत्यन्त नाटकीय है, 'हम कौन है और किस कुल मे उत्पन्न है आप लोग पीछे जानेगे। आप लोगो को क्या, किसी का रोना ही पढ़े चलिए जी बहलाने से काम है'। वह 'जवानी के उमगो में चूर, जमाने के ऊंच-नीच से बेखबर, अपनी रसिकाई के नशे मे मस्त, दुनिया के मुफ्तखोरे सिफारशियों से घिरा हुआ' है और किशोरावस्था की लहर मे प्रेम को भली भांति पहचानता' है। दूसरे, तीसरे और चौथे पैराग्राफो में उन 'मुफ्तखोरे सिफारशियो' (खुशामदियों) का वर्णन है। यौवन, धनसम्पत्ति, अधिकार, और अविवेक ये चार दुर्गुण जहा इकट्ठे हो जाते है, वहां फिसलन ही नहीं मुँह के बल गिरना है। नायक में ये चारों दुर्गुण है जिनके कारण उसे अपना भावी जीवन विषादमयी परिस्थितियो में बिताना पडता है। 'आलाल' का नायक मतिलाल अनुचित लाड-प्यार से बिगड़ गया था, और 'परीक्षा-गुरु' का नायक मदनमोहन अविवेक के कारण बरबाद हो गया। इस कथा का नायक चारो दुर्गुणों का केन्द्र है, उसके सामयिक जीवन में भी शाश्वत सत्य झाक रहा है, संसार में सदा ऐसे अविवेकी युवक जन्म

---

१ जो निष्कर्ष, 'भाग्यवती' के विषय में निकलता है वह 'देवरानी जिठानी की कहानी' के विषय में भी सच है।

लेते रहते हैं जिनके पास धन तथा अधिकार का दंभ है और इसी कारण जो अपना अमूल्य जीवन मिट्टी में मिला देते हैं। बंगला उपन्यास की अपेक्षा भारतेन्दु की रचना में शाश्वत तत्त्व अधिक है, जो गौरव का चिन्ह है। 'परीक्षा-गुरु' का नायक किशोर नही प्रौढ़ युवक है इसलिए उसके जीवन में महफिल और शराब तो है पर विलास और वासना नहीं। परन्तु प्रस्तुत नायक पर 'चमेली जान वारती है, और····· देखे बिना तड़प रही है,' क्योकि वह 'इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली भांति पहचानता' है। नायक के पतन की यह कहानी वस्तुतः पूर्ववर्ती बंगला उपन्यास और परवर्ती हिन्दी उपन्यास से अधिक 'जी बहलाने' वाली होती।

भारतेन्दु की इस रचना मे सामयिक जीवन का यथार्थ चित्रण है। उस युग मे ऐसे रईसों की कमी नहीं थी जो रातदिन जीवन का सुख भोगने के लिए कर्ज ले-लेकर दीवानखाने को खुशामदियो की सलाह से सजाया करते थे। इन दरबारियो में हिन्दू और मुसलमान दोनो ही थे, दलाल, बजाज, जोहरी, भड़ुए सभी पैसे ऐठते और स्वामि-भक्त बनते थे। कोई रूप की तारीफ करता था, कोई गुणों की, किसी को अगूठी पसन्द आई, किसी को कबूतर। जो बहुत अन्तरग है वे कर्ज दिलाने का प्रबन्ध करते है। पैसा उधार लेना और खर्च करना—दोनो ही मे मुसाहिबो का कमीशन बधा हुआ है। जिस वस्तु की खरीद मे जितना अधिक कमीशन मिले उतनी ही अधिक प्रशसा उसकी दीवा-नखाने में होती है। इस वातावरण का समर्थन श्रीनिवासदास की रचना मे भी होता है।

परीक्षागुरु

हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' के लेखक लाला श्रीनिवासदास (सन् १८५१ से सन् १८८७ ई० तक) का जन्म मथुरा के एक माहेश्वरी वैश्य परिवार में हुआ था। ये बड़े मेधावी, सावधान तथा व्यवहारकुशल थे। किशोरावस्था पार करते ही ये दिल्ली की कोठी के प्रधान बन गये। समाज और सरकार दोनो मे इनका बडा सम्मान था। आप दिल्ली के म्युनिसिपल कमिश्नर तथा आनरेरी मेजिस्ट्रेट भी नियुक्त किये गये। लालाजी बडे सद्व्यसनी थे, विद्या मे इनका असाधारण अनुराग था। विश्व इतिहास, साहित्य और नीति का अथाह भण्डार इनकी रचनाओं मे भरा पडा है। 'परीक्षा गुरु' मे हिन्दी, संस्कृत, अग्रेजी, ही नही फारसी और अरबी तक के उद्धरणो से उनकी विद्वता का कुछ अनुमान लग सकता है। विश्व-साहित्य और विश्व-इतिहास का जितना ज्ञान लाला श्रीनिवासदास की इस रचना मे है उतना हिन्दी के किसी उप-न्यास में तो मिलता ही नही उपन्यासेतर रचना में भी मिलना कठिन है। फ्रांसिस बेकन का बुद्धि-वैभव उनको सहज प्राप्त हो गया था। पारिवारिक व्यापार-व्यवसाय को दक्षतापूर्वक निभाते हुए इतना गंभीर पाण्डित्य या तो जयशंकरप्रसाद मे था या श्रीनिवासदास में। लालाजी ने चार नाटक और केवल एक उपन्यास की रचना की परन्तु उनका प्रसिद्ध नाटक 'रणधीर और प्रेममोहिनी' भी अपने क्षेत्र में शिरोमणि हैं एवं एकमात्र उपन्यास 'परीक्षा गुरु' भी। आपने 'सदादर्श' नामक पत्र निकाला, और

समकालीन पत्र पत्रिकाओं में भी आप लिखते रहे।

'परीक्षागुरु'[1] ४१ प्रकरण और २७६ पृष्ठ की रचना है। लेखक ने इसको अंग्रेजी में 'नावेल' और हिन्दी में 'संसारी वार्ता' कहा है, 'उपन्यास' नाम नहीं दिया। मुख-पृष्ठ पर 'परीक्षा गुरु' की व्याख्या लेखक ने 'अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता' लिखकर की है भीतर कतिपय स्थलों पर इस नाम की व्याख्या संकेतित है :—

(क) आजकल सच्चे माल की निस्बत नकली या झूठे माल पर ज्यादा चमक-दमक मालूम होती है। (प्रकरण ४, पृ० ३०)

(ख) परीक्षा हुए बिना किसी को सच्चा मित्र भी नहीं कह सकता। (प्रकरण ५, पृ० ३४)

(ग) भले बुरे मनुष्यों की परीक्षा समय पाकर अपने आप हो जाएगी। (प्रकरण ६, पृ० ४३)

(घ) ऊपर से दिखाने वाले लोग अपना निज स्वभाव छिपा कर सज्जन बनने के लिए सच्चे सज्जनों के स्वभाव की नकल करते है परन्तु परीक्षा के समय उनकी कलई तत्काल खुल जाती है। (प्रकरण ११, पृ० ८०)

(ङ) जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं आती वह एक बार की परीक्षा से भली भांति मन मे बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग 'परीक्षा (को) गुरु' मानते है। (प्रकरण ३७, पृ० २७१)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि कौन हितैषी मित्र है और कौन बनावटी मित्र है, इस परख की समझ दूसरे के उपदेश से प्राय नहीं आ पाती, परन्तु कठिन समय आने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सच्ची मित्रता और झूठी मित्रता में क्या अन्तर है; तब व्यक्ति परीक्षा से ही स्वयं शिक्षा लेता है। अत मनुष्य को विवेक सिखाने वाला सबसे बड़ा गुरु कठिन समय की परीक्षा है। पुस्तक का ३३वा प्रकरण 'मित्र परीक्षा' ही है। रहीम कवि के शब्दों मे—

रहिमन विपदा हू भली, जो थोडे दिन होय।
हित-अनहित या जगत मे, जान पडे सब कोय॥

इसी 'विपदा' को इस रचना मे 'परीक्षा' कहा गया है। 'अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक ससारी वार्ता' इस वाक्यांश मे 'अनुभव' ही 'परीक्षा' है, 'उपदेश' ही 'गुरु' का कर्म है, 'ससारी वार्ता' रचना की जाति है। मुख-पृष्ठ पर लेखक ने विदुर-नीति से इस रचना का सार-स्वरूप जो श्लोक उद्धृत किया है उसका भावार्थ है कि ऐश्वर्य मे एक प्रकार का मद होता है जो मदिरा आदि के मद से अधिक घातक है क्योंकि दूसरे मद तो कुछ काल की अवधि पर उतर जाते हैं परन्तु ऐश्वर्य का मद तब तक नहीं उतरता जब तक कि मनुष्य पर घोर विपत्ति न आवे। 'परीक्षा गुरु' का नायक

---

१. द्वितीय बार : प्रकाशक मोतीलाल लाट, मन्त्री ज्ञान-वर्धक-विभाग (मारवाड़ी ट्रेडर्स एसोसियेशन) १९९, हरिसन रोड, कलकत्ता।

विपत्ति के आने पर ही होश में आया, और मित्र-अमित्र की पहिचान करने योग्य बना सका।

'परीक्षा गुरु' की प्रकाशन-तिथि सन् १८८२ मानी जाती है, द्वितीय मुद्रण से पूर्व लेखक का स्वर्गवास (सन् १८८७) हो चुका था, क्योंकि 'द्वितीय बार' प्रकाशित प्रति में लेखक का नाम 'स्वर्गीय लाला श्रीनिवासदास' लिखा है। सन् १८८४ में लेखक ने इस रचना का समर्पण अपने मित्र 'लाला श्रीराम एम० ए०' को किया था। यह समर्पण अंग्रेज़ी मे है, इससे लाला श्रीनिवासदास की लाला श्रीराम से घनिष्ठ मित्रता (सिन्सीयर फ्रैंडशिप) का पता चलता है, और यह भी सकेत मिलता है कि लाला श्रीराम देशवासियो की उन्नति एव उत्थान मे बडी दिलचस्पी लेते थे। यह समर्पण द्वितीय मुद्रण का तो है नही, क्योकि उस समय तक लेखक अपनी इहलीला का सवरण कर चुके थे, प्रथम सस्करण का ही हो सकता है। अत. यह अनुमान युक्तिसंगत होगा कि 'परीक्षागुरु' का प्रकाशन सन् १८८२ मे प्रारम्भ होकर सन् १८८४ तक पूरा हुआ था। मुद्रणो पर प्रकाशन-तिथि न होने से यह समस्या उत्पन्न होती है। परन्तु इस का उत्तर उस काल की इस सामान्य प्रवृत्ति में भी मिलता है कि रचनाएं पहिले पत्रिकाओ में छपती थी फिर कुछ समय बाद पुस्तकाकार प्रकाशित होती थी। श्रीनिवासदास का 'तप्तासंवरण' नाटक 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' मे फरवरी १८७४ मे छपा था, परन्तु उसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १८८३ में ही हुआ। इसी प्रकार 'परीक्षागुरु' सन् १८८२ में छप गया होगा, परन्तु उसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १८८४ मे पूर्ण हुआ होगा।

इस उपन्यास के विषय मे एक प्रश्न यह उठता है कि लेखक ने इसको 'संसारी वार्ता' क्यो कहा, 'उपन्यास' क्यो न कहा। 'उपन्यास' सज्ञा बगला भाषा मे सन् १८५१-५२ ई० से प्राप्त होने लगती है, 'आलाल' (सन् १८५८) के प्रकाशन-काल तक 'नॉवेल' के अर्थ में 'उपन्यास' नाम निश्चित हो गया था। हिन्दी में भारतेन्दु ने "नॉवेल' के अर्थ में 'उपन्यास' नाम स्वीकार कर लिया था; सन् १८७८ की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में 'नाटकोपन्यास' पाक्षिक पुस्तिका का विज्ञापन है, जिसमे 'उपन्यास' को 'नॉवेल' का पर्याय माना गया है—'अनेक कृतविद्यों ने बंगला और अंग्रेजी से अच्छे अच्छे नाटको और उपन्यासों (नॉवेल्स) का अनुवाद करना भी स्वीकार किया है'। यह तो सम्भव नहीं कि लाला श्रीनिवासदास 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के इस प्रवाह से अपरिचित हों, और उनको यह ज्ञात न हो कि 'नॉवेल' के अर्थ में 'उपन्यास' नाम चल रहा है। तब यही अनुमान लग सकता है कि अंग्रेजी समर्पण में 'नॉवेल' और हिन्दी मुखपृष्ठ पर 'वार्ता' लिखने से लाल जी ने 'नॉवेल' का हिन्दी-पर्याय 'वार्ता' माना है, 'उपन्यास' नही—बंगला में गढ़े हुए 'उपन्यास' नाम की अपेक्षा गुजराती[1] में प्रचलित 'वार्ता' नाम उनको अधिक उपयुक्त लगा होगा। यह 'वार्ता' पुरानी 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन

---

१. गुजराती में अबतक 'नॉवेल' को 'वार्ता' कहा जाता है।

की वार्ता' से इस गुण मे भिन्न है कि यह 'संसारी' है अर्थात् इसके वर्णन 'रियलस्टिक' हैं और 'कान्टेम्परेरी' भी[1]। श्रीनिवासदास की यह रचना 'अपनी भाषा में' 'नई चाल की पुस्तक' थी, उसके लिए बंगला का नाम रखना आवश्यक नही था। यदि बंगला से अनुवादो का इतना तूफान न आया होता और प्रथम मौलिक रचना 'परीक्षा गुरु' की परम्परा में अन्य मौलिक पुस्तके लिखी गई होती तो 'नॉवेल' के लिए हिन्दी में 'संसारी वार्ता' नाम का चल जाना असम्भव नहीं था, भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में 'नॉवेल' को 'उपन्यास' ही तो नही कहते।

पुस्तक के प्रारम्भ में चार पृष्ठ का 'निवेदन' लिखकर श्रीनिवासदास ने अपनी रचना की कतिपय विशेषताओ पर प्रकाश डाला है। ये विशेषताएं शैली, कथानक, उद्धरण तथा सहायक पुस्तको से सम्बन्ध रखती हैं।

'परीक्षा गुरु' की शैली मौलिक है। 'नागरी और उर्दू मे' उस समय तक 'अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी, थी परन्तु 'इस रीति से कोई नही लिखी गई, इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी'। इस कथन से यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि 'परीक्षा गुरु' हिन्दी एव उर्दू मे प्रथम मौलिक रचना है, इस से पूर्व 'पुरानी रीति' की पुस्तके तो बहुत थी परन्तु 'नई चाल' की यह सर्वप्रथम है। इस 'नई चाल' या 'नई रीति' का लक्षण यह है कि पुरानी वार्ताओं मे 'अक्सर नायक, नायिका वगैरे का हाल ठेटसे सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ साहूकार का लडका था उसके मन मे इस बात से यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला', परन्तु इस नई रीति की वार्ता मे ऐसा सिलसिला नही होता। इसमे बाते पहले से कुछ भी नही जताई गई, हा पढने वाले धैर्य से, सब पुस्तक पढ़ लेगे तो अपने अपने मौके पर सब भेद खुलता चला' जायगा। संक्षेप मे, इस शैली की वार्ता का प्रारम्भ नाटकीय होता है और कथानक एव पात्रो का विकास क्रमशः ही अकित किया जाता है। नाटक की रीति से इस रीति का भेद बताते हुए श्रीनिवासदास लिखते हैं कि 'नाटको में जिसका वचन होता है उसका नाम आदि मे लिख देते हैं और वह पैराग्राफ उसका वचन समझा जाता है परन्तु इसमें·····इन्वरटिडकौमा·····के भीतर कहने वाले का वचन लिखा जाता है और कहने वाले का नाम वचन के बीच में या अन्त में·····अथवा नाम लिखे बिना·····' भी काम चल जाता है। लेखक ने नॉवेल की आवश्यकता को ध्यान में रखकर खडी बोली गद्य में विरामचिन्हो के प्रचलन पर जोर दिया है।

कथानक की दो विशेषताएँ बतलाई गई है—'दिल्ली के एक कल्पित रईस का चित्र', और उस चित्र को 'जैसे का तैसा (अर्थात् स्वाभाविक) दिखाने' का प्रयत्न। ये दोनो विशेषताएँ आधुनिक उपन्यास की हैं, इसमे कल्पना के सहारे सकालीन जीवन

---

१. 'निवेदन' में पुरानी वार्ता और नवीन वार्ता का एक और भेद बतलाया गया है। (अगले पैराग्राफ में देखिए)

का यथार्थ चित्र अंकित किया जाता है। 'परीक्षागुरु' के कथानक के विषय में यह निर्विवाद है कि यह यथार्थ की भूमि पर स्थित है। परन्तु 'निवेदन' में 'कल्पित' कह कर भी लेखक ने उपन्यास के अंतिम प्रकरण में नायक के मुख से यह इच्छा प्रकट कराई है कि 'सब लोगों के ही निमित इन दिनों का सब वृत्तान्त छापा कर प्रसिद्ध कर दिया जाय'। इस कामना से ऐसा सोचा जा सकता है कि इस उपन्यास की कहानी सच्ची घटना पर आश्रित है। फिर भी 'निवेदन' को प्रमाण मान कर नायक की कामना को शैली-विशेष कह कर ही छोड़ा जा सकता है। डैनियल डैफो के समान उस युग में हिन्दी के प्रायः सभी उपन्यासकार कल्पित कथानक को सत्य के छींटों से पवित्र करके ही पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते थे।

उपन्यास की भाषा 'संस्कृत अथवा फारसी-अरबी के कठिन-कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि' रखकर बनाई गई है। हाँ, जहाँ कुछ विद्या विषय आ गया है वहां विवश होकर कुछ-कुछ शब्द सस्कृत आदि के लेने पड़े हैं। सस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और अरबी की नीतिविषयक कविताओं के मूल उद्धरण फुटनोट में हैं परन्तु कथा में वे अनूदित करके रखे गये हैं; इन अनुवादों की भाषा ब्रज है खडी बोली नहीं। उद्धरणों के लिए लेखक ने 'महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ता वगैरे फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखो और स्त्री-बोधे आदि के वर्त्तमान रिसालो से बडी सहायता' ली है। इन प्रमुख पुस्तकों के अतिरिक्त अनेकानेक रचनाओं का नाम पूर्वक परन्तु क्वचित् नाम के अभाव मे ही 'परीक्षागुरु' पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बंगला के किसी ग्रन्थ का लेखक ने न तो नाम लिया है और न प्रभाव ही मालूम पडता है। रचना की जाति 'संसारी वार्ता' गुजराती प्रभाव सूचित करती है, सभव है व्यापार करने के कारण या जाति से माहेश्वरी होने के कारण श्रीनिवासदास का गुजराती जीवन और साहित्य से निकट सम्पर्क रहा हो।

दिल्ली में लाला मदनमोहन नाम के एक रईस थे, जिनके घराने की समाज तथा बाजार में बडी प्रतिष्ठा थी। परन्तु मदनमोहन दुर्बल व्यक्ति थे। युवावस्था से ही उनकी सभा में कुछ ऐसे लोगों का आना जाना हो गया जो उनकी झूठी प्रशसा करके उनको गलत रास्ते पर ले जाते और स्वयं गुलछर्रे उड़ाते थे। इन कुमित्रो में मास्टर शिभुदयाल और मुन्शी चुन्नीलाल मुख्य थे। प्रतिदिन ऐयाशी की नई-नई चीजे दोगुने दामो पर खरीदी जाती थीं, जमा-खर्च का कभी कोई हिसाब न होता था। नायक के एक मित्र लाला ब्रजकिशोर वकील भी थे, जो बड़े सावधान, ईमानदार, व्यवहारकुशल एव विद्वान् थे; अनुमान से जान पडता है कि ब्रजकिशोर में स्वयं लेखक का व्यक्तित्व झांक रहा है। ब्रजकिशोर नायक को हर कदम पर समझाते और सबसे बुरे बनते, फिर भी नायक पर उनके उपदेश का कोई असर न होता था। अन्त में नायक बिगड़ता चला गया। बाजार मे उसकी साख न रही, लोगो ने समझा इसका दिवाला निकलना चाहता है। हर लेवाल कुर्की लेकर आ गया, नायक गिरफ्तार हुआ, हवालात में उसे बन्द रहना

पडा। उस विषम परिस्थिति में सब स्वार्थी मित्र कोई न कोई बहाना करके खिसक गये, साहूकारो ने पैसे का चकमा दिया। काम आये केवल ब्रजकिशोर, जिन्होंने नायक का उद्धार कराया। उस विपत्ति की परीक्षा में नायक को विवेक हुआ, उसे पता चला कि सच्चा मित्र तो वही है जो विपत्ति मे काम आता है। 'परीक्षा' उसकी 'गुरु' बन कर उसको समझदार बना गई, जिससे उसका भावी जीवन सावधानी से कटा।

उपन्यास मे दो पात्र मुख्य हैं—नायक मदनमोहन और आदर्श ब्रजकिशोर। कथानक का समस्त आधार मदनमोहन का जीवन है, इसलिए ब्रजकिशोर का व्यक्तित्व सबल होते हुए भी नायक-पद मदनमोहन को ही प्राप्त होता है। मदनमोहन की किशोर-अवस्था की कुछ झलक हमको बाद के वर्णन मे मिल जाती है। परन्तु हमारे सामने वह प्रौढ-युवक के रूप में उपस्थित होता है। वह दो नन्हे-नन्हे बच्चो का पिता है। उसके माता-पिता जीवित नही हैं। उपन्यास में नायक का कुछ ही दिनो का जीवन चित्रित किया गया है। वह अमीर है, इसलिए उसके पास 'ऐश के सिवाय और क्या काम है'। वह अत्यन्त दुर्बल है। उसे न मित्र-अमित्र की पहिचान है, न हित-अहित का ज्ञान, जिस तरह खुशामदी लोग उसे बहका देते हैं उसी तरह वह मुड़ जाता है। उसकी सबसे बडी कमजोरी उसका झूठा दंभ है। प्रशसा करके चाहे उसके प्राण ले लीजिए। स्वयं कर्ज लेकर दूसरो को कर्ज देने में वह समझता है कि उसने अपनी प्रतिष्ठा रख ली। चाहे जितना पैसा खर्च हो जाय परन्तु बात उसी की रहे—यही उसका आदर्श है। लडकर वह ब्रजकिशोर को घर से निकाल देता है; परन्तु 'लाला ब्रजकिशोर के गये पीछे मदनमोहन के जी मे कुछ-कुछ पछतावा सा हुआ—सोच विचार मे बडी देर बैठे रहे परन्तु मन की निर्बलता से कोई बात निश्चय न कर सके'[1]। मदनमोहन के दुर्बल स्वभाव को उसकी पत्नी तक समझती है, परन्तु उसे यह भी विश्वास है कि ब्रजकिशोर के कारण सब कुछ ठीक रहेगा। मदनमोहन को हिन्दी, फारसी और अग्रेजी की शिक्षा मिली थी परन्तु उसको सत्सगति न मिल पाई, 'और सत्संग बिना चित्त पर असर नही होता'। अस्तु 'तरुणाई की तरग, शिम्भूदयाल और और चुन्नीलाल आदि की संगति, द्रव्य और अधिकार के नशे मे ऐसा चकचूर हुआ कि लोक-परलोक की कुछ खबर न रही'[2]। नायक का व्यक्तित्व इतना दुर्बल है कि ब्रजकिशोर के उपदेश भी वह सुनता है, और खुशामदियों की सलाह भी। उसे भड़का दीजिए वह रुष्ट हो जायगा उसकी तारीफ कर दीजिए वह पिघल जायगा। न उसके व्यवसाय में कोई हिसाब-किताब है, न जीवन मे। उसमें कामना (विश) है, इच्छा (डिजायर), निश्चय (डिटरमिनेशन), और क्रिया (एक्शन) नही।

ब्रजकिशोर वकील उपन्यास का आदर्श पात्र है। जिस प्रकार नायक केवल दुर्बलता का पुतला है उसी प्रकार ब्रजकिशोर केवल सद्गुणो की प्रतिमा। दोनों एक-

---

१. प्रकरण १९, पृ० १४१

२. प्रकरण २१, पृ० १५५

दूसरे के विपरीत और एक-दूसरे के पूरक हैं; मूलत: दोनों भले हैं, परन्तु उनके विकास भिन्न-भिन्न हो चुके हैं। मदनमोहन का व्यक्तित्व यथार्थ है, दुर्बल सब प्रकार के प्रभावों के लिए खुला हुआ; ब्रजकिशोर आदर्श है, दृढ़ एवं निश्चित, उसका कोई भी कार्य सावधानी और ईमानदारी से दूर नहीं। इसी आदर्श के कारण अनुमान किया जाता है कि ब्रजकिशोर में लेखक का व्यक्तित्व झलक रहा है। आदर्श के उपरान्त ब्रजकिशोर की दूसरी विशेषता उपदेश-वृत्ति है, 'उनकी बातचीत में एक बड़ा ऐब यह था कि वह बीच में दूसरे को बोलने का समय बहुत कम देते थे'[१]। इस बात को वे स्वय भी स्वीकार करते हैं; 'मुझको वकालत के कारण बढा कर बात करने की आदत पड़ गई है और मैं कभी-कभी अपना मतलब समझाने के लिए हरेक बात इतनी बढा कर कहता जाता हूँ कि सुनने वाले उकता जाते हैं'[२]। उचित सम्मान न करते हुए भी नायक मदनमोहन और उनके सब दरबारी मानो ब्रजकिशोर को गुरु मान कर उनसे प्रश्न करते हैं और वे विस्तार से उनका जवाब देते है; शेष पात्र तो एक छोटा-सा प्रश्न करते हैं, उत्तर में ब्रजकिशोर उदाहरण और दृष्टान्त देकर मानो सब की शकाओ का समाधान करते हैं। विपत्ति आने पर मदनमोहन ब्रजकिशोर के घर गये, और स्वभाववश पूछ बैठे—'क्या बातचीत के भी कुछ नियम है;' (प्रकरण ३०)। तत्काल ही ब्रजकिशोर तपस्विनी सुलभा का दृष्टान्त लेकर व्याख्यान देने लग गये। ऐसे स्थल अनेक हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वकील ब्रजकिशोर लाला श्रीनिवासदास की ही प्रतिकृति है।

ब्रजकिशोर की बुद्धिमत्ता की कोई माप नहीं; परन्तु उनके गुणो का सकलन उन्हीं के उपदेशो से किया जा सकता है। वे 'प्रामाणिक, सावधान, विद्वान् और सरल स्वभाव है, इन्की अवस्था छोटी है तथापि अनुभव बहुत हैं, यह जो कहते है उसी के अनुसार चलते है[३]। वे चतुर, सावधान, सज्जन, ईमानदार, कृतज्ञ, नीतिकुशल, निर्भय एव धार्मिक हैं। लेखक के अनुसार आदर्श व्यक्ति का मुख्य गुण प्रामाणिकता है। 'प्रामाणिकता' अंग्रेजी के 'ऑनेस्ट' शब्द का अनुवाद है, अलेक्ज़ैन्डर पोप के अनुसार एक प्रामाणिक मनुष्य परमेश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना है[४]। ब्रजकिशोर में यह गुण कूट-कूटकर भरा हुआ है। उपन्यास मे २३वें प्रकरण का शीर्षक भी 'प्रामाणिकता' ही है। मदनमोहन में प्रामाणिकता की कमी थी, इसलिए सम्पन्न होने पर भी वे दुखी थे, ब्रजकिशोर की बुद्धिमानी से परीक्षागुरु के कारण प्रामाणिक भाव से रहने में मदनमोहन को घर बैठे,[५] सच्चा सुख मिल गया। प्रामाणिकता के बाद, परन्तु उससे कम आवश्यक नही, सावधानी है। उपन्यास का सप्तम प्रकरण 'सावधानी' ही है। 'मनुष्य की

---

१. प्रकरण ८, पृ० ५४
२. प्रकरण २९, पृ० २१७
३. प्र० २३, पृ० १६६
४. एन ऑनेस्ट मैन इज़ दि नौबलैस्ट वर्क आफ गाड
५. प्र० ४१, पृ० ३१०

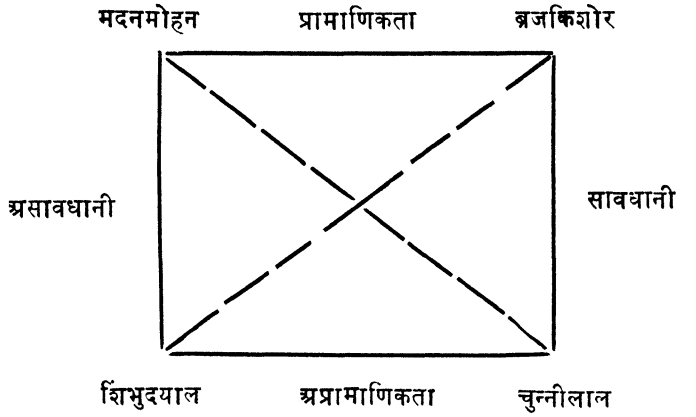
प्रकृति मे बहुत-सी उत्तमोत्तम वृत्ति मौजूद है परन्तु सावधानी के बराबर कोई हितकारी नही है।[१] 'धर्म प्रवृत्ति की प्रबलता रखने वाले अच्छे आदमी भी सावधानी बिना किसी काम के नही है क्योकि वे बुरी बातो को अच्छा समझकर धोका खा जाते है'[२]। सावधानी और चालाकी मे अन्तर है; 'सावधानी आदमी की दृढ़ बुद्धि को कहते है और वह ज्यों-ज्यों लोगो मे प्रकट होती है, सावधान मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है परन्तु चालाकी प्रकट हुए पीछे उसकी बात का असर नही रहता; चालाकी होशियारी की नकल है'[३]। प्रामाणिक और सावधान व्यक्ति ससार मे सुखी एव सम्पन्न रहता है। ब्रजकिशोर के ये दोनो गुण उपन्यास के प्रतिपाद्य विषय है। ब्रजकिशोर विद्वान् है, यह तो उनके उपदेशो से सर्वत्र प्रकट है। उनका स्वभाव सरल है अर्थात् वे ईश्वर के नियम का पालन करते हुए 'मध्यम भाव से 'जीवन व्यतीत करते है। केवल एक बार जब नायक पर विपत्ति आ गई और वे तत्काल ही कुछ न कर सके' वे उद्विग्न दिखाई पड़ते है, अन्यथा वे सामान्य कमज़ोरियो मे बहुत ऊचे चित्रित किये गये है।

मदनमोहन और ब्रजकिशोर के बाद ध्यान आकृष्ट करने वाले मुशी चुन्नीलाल और मास्टर शिभुदयाल है। ये दोनो कुसग की मूर्त्ति है। चुन्नीलाल के स्वभाव में चालाकी थी। 'इसने बडी-बडी पुस्तको मे से कुछ-कुछ बाते ऐसी याद कर रक्खी थीं कि नए आदमी के सामने झड-बाध देता था'[४]। वह स्वार्थी, कपटी, चालाक, झूठा और खुशामदी था। स्वार्थ के लिए वह ब्रजकिशोर की बुराई करता है, स्वार्थ के ही कारण नायक को सलाह देता है कि वह ब्रजकिशोर के घर जाये और अपनी बहुमूल्य पाकट-चैन उसे भेंट करे। वह आखीर तक नायक का मित्र बना रहता है और दोनो ओर काम बनाता हुआ एक दिन नाराज होकर चला जाता है। उसके रूठ जाने से यह बात सामान्यत: प्रकट नही होती कि नायक के बुरे दिन आने पर वह उसे छोड कर चला गया है। मुशी चुन्नीलाल मे कचहरियों में छोटी नौकरी करने वाले मुशियों का यथार्थ चरित्र झाक रहा है। मास्टर शिभुदयाल भी नीच है परन्तु उतना चालाक नही। 'वह पहाडी आदमियो की तरह टेढ़ो राह में अच्छी तरह चल सकता था परन्तु सममूमि पर उस्को आदत न थी'[५]। फिर भी वह चुन्नीलाल से मेलजोल रख कर अपना मतलब निकालता है, स्वय सब तरफ से काम निकालना नही जानता। 'परीक्षा' के समय मदरसे की लाचारी बता कर वह नायक से दूर हटता है, उसकी नीचता प्रकट हो जाती है। यदि लेखक की शब्दावली का ही प्रयोग करें तो कहा जाएगा कि चुन्नीलाल और शिभुदयाल दोनों ही प्रामाणिकता-रहित है, परन्तु चुन्नीलाल सावधान (अर्थात् चालाक) भी है, शिभुदयाल नीच और मूर्ख।

---

१. प्र० २३, पृ० १७२
२. प्र० ७, पृ० ४५
३. प्र० २३, पृ० १७२
४. प्र० ९, पृ० ६०
५. प्र० ९, पृ० ६२

'परीक्षा गुरु' उपन्यास के चरित्रों का चतुर्भुज बनाने पर ब्रजकिशोर का कोणक विपरीत (डायगोनली ओपोज़िट) शिभुदयाल है, और मदनमोहन का कोणक विपरीत चुन्नीलाल। इन चारो को इसी नियम से चार कोणों पर स्थित करके प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता, सावधानी-असावधानी भुजाओ वाला निम्नाकित चतुर्भुज बनेगा :—



ब्रजकिशोर की भुजाए प्रामाणिकता और सावधानी हैं, मदनमोहन की प्रामाणिकता असावधानी, चुन्नीलाल की अप्रामाणिकता और सावधानी (चालाकी), तथा शिभुदयाल की अप्रामाणिकता और असावधानी। इन पात्रो के अतिरिक्त नायक की पत्नी और ब्रजकिशोर के दूर के भाई हरकिशोर का भी कुछ महत्त्व है, परन्तु इनका चित्रण कम है। पड़ित पुरुषोत्तमदास, हकीम अहमद हुसैन, बाबू बैजनाथ, मिस्टर ब्राइट आदि में अपने अपने वर्ग की कुछ विशेषताएं देखने को मिलती हैं। लेखक चरित्रचित्रण में कुशल है; उसने महत्त्व के अनुपार ही व्यक्तित्व की रेखाओं को क्षीण अथवा सुदृढ बनाया है। उपन्यास में एक ही स्त्री है, नायक की पत्नी; उस की भी झलक दूर से मिलती है। आर्थिक-व्यावहारिक जीवन की रचना होने के कारण 'परीक्षागुरु' में स्त्री-पात्रों को अधिक उचित स्थान न मिल सका।

यदि 'परीक्षागुरु' को कथोपकथन-प्रधान उपन्यास कहा जाय तो कोई आश्चर्य न होगा, क्योंकि कथोपकथन को जितना महत्व इस उपन्यास में मिला है उतना किसी अन्य उपन्यास में नही; २६८ पृष्ठों में से लेखक ने तो कठिनाई से ३८ पृष्ठों ही में कुछ कहा होगा—जिसमें सभासदों का चित्रण (प्रकरण ९, सात पृष्ठ), कृतज्ञता (प्रकरण २०, आठ पृष्ठ) ब्रजकिशोर का चरित्र (प्रकरण २३, छः पृष्ठ), आदि भी सम्मिलित हैं। लेखक ने इस विशेषता को 'नई रीति' माना है और 'निवेदन' में इस रीति की सार्व घोषणा की है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'अंग्रेजी' उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच में या अन्त में 'अमुक ने कहा' 'अमुक कहने लगे' आदि अभिव्यक्तियों को दोष माना

है—'खैरियत हुई कि इस प्रथा का अनुसरण हिन्दी के उपन्यासों में नहीं हुआ'[1]। इसमें सन्देह नहीं कि संभाषण के मध्य में वक्ता का संकेत हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं है अतः इस उपन्यास के कथोपकथन पाठक को क्षण भर रोक देते हैं फिर भी खड़ी बोली के उस शैशव-काल मे इस प्रकार के प्रयत्न आपत्तिजनक नहीं लगने चाहिएं। इस उपन्यास के कथोपकथन चरित्रचित्रण एवं मत-स्थापन में अत्यन्त सफल हैं। ब्रजकिशोर के सभी कथन तर्कपूर्ण है। कथोपकथन की भाषा साहित्यिक एवं परिनिष्ठित है। प्रेमचन्द के समान श्रीनिवासदास पात्रो की आकृति, और चेष्टाओं द्वारा उनके कथनों को अधिक सजीव बना देते है। प्रेमचन्द के समान ही कही-कही लेखक के संभाषण बढकर भाषण बनने लगे हैं। प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी आदि उपन्यास लिखते समय अपने व्यक्तित्व को पृष्ठभूमि में रखकर कथानक-निर्माण के अभ्यासी नही थे, इसलिए वे बीच मे पाठको से बाते करते जाते थे, श्रीनिवासदास उस रीति को पसन्द नही करते। सिलसिलेवार कथा कहना या अपनी बात करना उन की नई रीति मे त्याज्य समझा गया है, कथोपकथन द्वारा ही समस्त रहस्य शनैः शनैः प्रकट करने मे नई रीति की सफलता है।

'परीक्षागुरु' की भाषा शुद्ध साहित्यिक हिन्दी है, परन्तु शब्द-चयन में ही, बनावट मे नही। बनावट को देखते हुए तो वह 'दिल्ली के रहने वालो की साधारण बोलचाल' की भाषा है। दिल्ली की इस भाषा की कुछ विशेषताए निम्नलिखित हैं :—

(क) बोलचाल की दृष्टि से कुछ शब्दो में स्वर-लाघव है; जैसे 'सक्ता', 'मिल्ता', 'उ के', 'इस्की', 'सुन्ने', 'जिस्तरह'

(ख) 'ने' का सानुस्वार प्रयोग है, जैसे 'हमने', 'पढाने',

(ग) 'मे' और 'से' विभक्तियो का विशेष उच्चारण है —
'चीजो से', 'विचार मे', 'मेरठ से', 'इन वृत्तियो मे से'।

(घ) कुछ शब्दो का स्थानीय प्रयोग है—'कीमत की कुछ परवा नहीं', 'नकल करनी क्या जरूर है', 'बजाज के हा', 'बारह रुपे', 'चालाकी ठेठ से थी', 'आश्रितुओं की ऐसी बेइज्जती नही किया चाहता', 'आगे चलकर', 'उखता जाते है'।

(ङ) साधारण शब्द संस्कृत से तथा फारसी, अंग्रेजी आदि से भी आ गये है—'नित्यकृत्य', 'मुनासिब', 'अवकाश', 'वारट', 'इन्तजाम', 'पाकटचैन',।

(च) पद्य साहित्यिक ब्रजभाषा में अनूदित है।

(छ) अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण देशज है—'फाशन' (फैशन), काच' (काऊच), 'इंसाल्वन्ट' (इन्सौल्वैट)

सामान्यतः उस उपन्यास की भाषा साहित्यिक एवं संस्कृतनिष्ठ है, यथावश्यकता शब्द या बनावट पर स्थानीय प्रभाव है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :—

'ईश्वर के नियमानुसार मनुष्य जिस विषय में भूल करता है बहुधा उस्को उसी

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४७८

विषय में दण्ड मिलता है जो विद्वान् दरिद्री मालूम होते हैं वह अपनी विद्या में निपुण हैं परंतु सांसारिक व्यवहार नहीं जान्ते अथवा जान-बूझकर उस्के अनुसार नहीं बरतते ·····बहुधा धनवान रोगी होते हैं और गरीब नैरोग्य रहते हैं इस्का यह कारण है कि धनवान द्रव्योपार्जन करने की रीति जान्ते हैं परन्तु शरीर की रक्षा उचित रीति से नहीं करते और ग़रीबों की शरीर रक्षा उचित रीति से बन जाती है परन्तु वे धनवान होने की रीति नहीं जान्ते। (प्रकरण ७, पृष्ठ ४६)

यदि उपन्यास समकालीन जीवन का यथार्थ चित्र होता है तो 'परीक्षा गुरु' एक सफल उपन्यास है। इसका कथानक खड़ीबोली और भारतदेश के केन्द्र नगर दिल्ली के एक कल्पित रईस का जीवन अंकित करता है। इस चित्र में तत्कालीन सामाजिक-राष्ट्रीय समस्याओं का स्पर्श भी हो गया है। लेखक के सम्मुख व्यवहार-नीति मुख्य थी, इसलिए राजनीति, धर्म आदि पर उसने विचार नही किया, उसका मुख्य बल उन राष्ट्रीय समस्याओं पर है जो सामाजिक-आर्थिक है। समस्त कथानक अपव्यय की हानि और मितव्ययता के लाभ दिखाता है। उस युग में बाप-दादो की कमाई से गुलछर्रे उड़ाकर उसे बर्बाद करने वाले रईस प्रत्येक बड़े नगर में थे; सभासद उनके पतन में सहायक बनकर अपना काम निकालते रहते थे। यह कहा जा चुका है कि कलकत्ता और काशी के दो शिरोमणि लेखकों ने भी अपने उपन्यास के लिए यही कथानक पसन्द किया था। श्रीनिवासदास कुशल प्रबन्ध तथा सफल व्यवहारविद् थे। उन्ही गुणों का पाठक-मात्र में प्रचार करने के लिए उन्होने यह उपन्यास लिखा था। लेखक ने उन भारतीयों की दशा पर खेद प्रकट किया है जो 'इन कारीगरी की निरर्थक चीजो के बदले····· अपनी दौलत वृथा खोये देते हैं'। वे आर्थिक दुर्दशा का रहस्य समझते थे और नौकरी की अपेक्षा व्यापार को अधिक देशोपयोगी समझते थे[1]। अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए वे अपनी भाषा मे उपयोगी पुस्तको का अनुवाद आवश्यक मानते है; 'कई वर्ष तो केवल अंग्रेजी भाषा सीखने में विद्या के द्वार पर खड़े-खड़े बीत'[2] जाते हैं। अमीरो की देश-दशा के प्रति उदासीनता[3], समाचार पत्रो की शोचनीय दशा[4], ज्योतिष का भुलावा[5], दीपावली पर द्यूतक्रीडा आदि समस्याओं पर लेखक ने गभीरता से विचार किया है। प्रेमचन्द के समान श्रीनिवासदास का विचार है कि भारत में निठल्ले रईस नाम का जो वर्ग विकसित हो गया है वह बडा घातक है; 'मुल्क में अकाल हो, गरीब बिचारे भूखो मरते हों, आपके यहां 'दिन-रात ये ही हा-हा ही-हो रहेगी····· परमेश्वर ने आपको मनमानी मौज करने के लिए दौलत दे दी फिर औरो के दुखदर्द

---

१. प्र० ७, पृ० ५१
२. प्र० ६, पृ० ६७
३. प्र० १३, पृ० ६२
४. प्र० १४, पृ० ६६
५. प्र० १४, पृ० १०२

में पड़ने की आपको क्या जरूरत रही'[1]। 'स्वाभाविक झटका लगे बिना——सुधरने की कोई रीति न दिखाई'[2] देती है; इसलिए ऐसे बेखबरों पर दैवी विपत्तियां अवश्य आवें अन्यथा ये आजन्म सम्पत्तियों की बेड़ी में जकड़े रहेंगे और देश एवं समाज पर भी घोर कष्ट लावेंगे।

'परीक्षागुरु' की शैली नवीन है, जिस पर अंग्रेजी प्रभाव अधिक है। लेखक स्वयं पृष्ठभूमि में रहकर पात्रों के पारस्परिक कार्य एव कथोपकथन द्वारा कथा एवं चरित्रों का विकास दिखाता जाता है। उसकी यह शैली नाटकीय है, यद्यपि उसने नाटक की 'रीति' से इस 'नवीन रीति' का भेद किया है फिर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि उस काल में नाटक का शासन था इसलिए समस्त उपन्यास-साहित्य पर नाटक का प्रभाव है, 'परीक्षा-गुरु' भी इस नियम का समर्थक है। प्रथम प्रकरण मानो प्रथम दृश्य है, जिसके पात्रो का परिचय कथोपकथन प्रारम्भ होने से पूर्व रंग-संकेत की शैली पर लेखक ने दे दिया है, 'लाला मदनमोहन एक अंग्रेजी सौदागर की दुकान मे नई, नई फासन का अंग्रेजी अस्बाब देख रहे हैं लाला ब्रजकिशोर, मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शिभुदयाल उन्के साथ हैं'। अन्यत्र भी परिचय वर्तमान काल की क्रिया से वर्णित है जिससे रंग-संकेत की गध आती है · 'इस बचन मे मिस्टर ब्राइट अपने अस्बाब की खरीदारी के लिए लाला मदनमोहन को ललचाता है·····[3] 'पाठक के समक्ष उपन्यासकार बहुत कम उपस्थित होता है और वह भी रंग-संकेतों के लिए कथा कहने के लिए नही। समस्त उपन्यास 'प्रकरणों में विभक्त है, परन्तु प्रत्येक प्रकरण अपने आप में पूर्ण नहीं है, प्रकरण बदल जाते हैं, परन्तु न पात्र बदलते हैं, न विषय बदलता है, और न घटना-स्थल बदलता है, पाँचवें के बाद छठा और सातवां प्रकरण निरन्तर हैं, दसवें के बाद ग्यारहवा, और बारहवा प्रकरण उसी निरन्तरता से है। यह निरन्तरता आज के पाठक को खलेगी, परन्तु जब ब्रजकिशोर की बात पूरी हो तब तो विषय बदले, और तनिक विश्राम के लिए प्रकरण तो बदलना ही होगा। प्रत्येक प्रकरण का एक शीर्षक है जो उस प्रकरण का वर्ण्य विषय समझना चाहिए, प्रत्येक शीर्षक के साथ शीर्षोद्धरण है पद्य या गद्य की मूल या अनूदित सूक्ति है। ये विशेषताए बाद के उपन्यासों में भी मिलती हैं। लेखक की रुचि प्रकृति या समाज के वर्णनों में कम है, वह उस कमी को दृष्टान्तो से पूरी करता है। 'परीक्षा गुरु' बुद्धिवादी उपन्यास है, उसमे सहृदयता तो है परन्तु कवित्व नही। यह विशेषता उसे समकालीन उपन्यासों से पृथक् एवं स्वतन्त्र सिद्ध कर देती है।

'परीक्षागुरु' उपन्यास का उद्देश्य समाज के मदनमोहन को ब्रजकिशोर का अनुवर्ती बनाना है। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (सं० १९३९) में इस उपन्यास का परिचय देते

---

१. प्र० १३, पृ० ९२
२. प्र० ४१, पृ० ३०५
३. प्र० १, पृ० ५

हुए लिखा गया था : 'ऐ धनिकों, ए राजगणों, हे निरक्षरों, हे कज्जेदलालों, हे प्रेम के फँसे जवानों, हे बाजाजी वा बाजार के बैठनेहारो, दुनिया का मजा सीखने चाहो, कठपुतलियों का तमाशा देखने चाहो, खुशामदियों के गुण रेखने चाहो, रंडियों का गाना सुनने चाहो, मामले मुकद्दमों में बहस सीखने चाहो या अपनी मूर्खता को झींखने चाहो, तो परीक्षागुरु का आश्रय करो'[1]। वस्तुतः 'परीक्षागुरु' शिक्षामूलक अथवा उपदेश प्रधान उपन्यास है। इसकी रचना एक विशेष नैतिक आचार एवं आदर्श को दृष्टि में रख कर हुई है। यहां 'आदर्श' और 'यथार्थ का हमको एक नवीन एव स्वस्थ रूप मिलता है। 'यथार्थ' में चरित्र की दुर्बलता है, कुत्सा, लघुता एवं असुन्दर को चित्रित करने के लिए रुग्ण समाज के अग-प्रत्यग पर फैलते हुए मल और भिनभिनाती हुई मक्खियो का नाक पर रूमाल रख कर फोटो खीचने की लेखक ने कोशिश नही की। जुआ और शराब के प्रसग आ गये हैं, नर्तकी नृत्य करती हुई सामने से निकल जाती है; परन्तु इन दुर्व्यसनो के अड्डो पर जाकर लेखक पाठको को भटकाना उचित नहीं समझता। इस सयम का कारण ब्रजकिशोर है, उनका भय मदनमोहन ही नही, उनके सभासदो को भी एक निश्चिन्त 'स्वतत्रता' के आगे किसी 'स्वेच्छाचार' की अनुमति नही देता। युवक हो या महिला, बालक हो या वृद्ध किसी के हाथ मे 'परीक्षागुरु' की प्रति दे दीजिए आप को सकोच न होगा। यही लेखक का आदर्श यथार्थ है। चरित्र की अनेक दुर्बलताए हैं परन्तु उनकी धुरी 'असावधानी' है, जो लेखक की दृष्टि मे सबसे बड़ा यथार्थ है। आजकल के यथार्थवादी असावधानी के विभिन्न परिणामो का चित्रण करते हैं श्रीनिवासदास ने उसके कारण और स्वरूप को अकित किया है। एक डाक्टर ने बताया कि विषूचिका का क्या कारण है, कौन-कौन से चिन्ह है और क्या उपचार है, दूसरों ने विषूचिका-जनित विकारो मल, वमन आदि को मगवाकर दिखा दिया। श्रीनिवासदास का स्वस्थ यथार्थ किसी भी साहित्य के लिए गौरव का कारण बन सकता है।

'आलालेर घरेर दुलाल' और 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जग बीती' से तुलना करने पर 'परीक्षागुरु' अधिक कलापूर्ण एव दृष्टिकोण मे अधिक व्यापक है। टेकचन्द ठाकुर ने नायक मतिलाल के व्याज से धनियो के लाड-प्यार और कुशिक्षा का वर्णन करके उनकी सन्तान को उन्मार्ग-गामिनी दिखाया है। सामयिक जीवन के चित्रण की दृष्टि से 'आलाल' अत्यन्त मनोरंजक, सफल एव उपयोगी है, फिर भी उसमे लेखक की गम्भीरता अथवा उसकी सूक्ष्म दृष्टि उतनी प्रतिबिम्बित नहीं होती। भारतेन्दु की कहानी अधूरी है, उसमे उस धनी किशोर का चित्र है जो खुशामदियो के कारण अपनी धन-सम्पत्ति को गंवा कर बरबाद हो जाता है। श्रीनिवासदास ने न तो लाड-प्यार के दोष दिखाये हैं और न कुशिक्षा के, उनकी दृष्टि लगभग भारतेन्दु के समान है। वे मित्र और अमित्र की पहचान, प्रामाणिकता और सावधानी को सबसे उपयोगी नीति समझते

---

१. श्रीनिवास-ग्रन्थावली, पृ० ५१

हैं और उनका विश्वास है कि कुसंगति में पड़ा हुआ व्यक्ति उस समय तक सन्मार्ग पर नहीं आ सकता जब तक कि ईश्वर दैवी आपत्तियाँ भेज कर उसकी सहायता न करे। 'परीक्षागुरु' का समस्त वातावरण युवकों के लिए व्यवहार-नीति की शिक्षा में अत्यन्त उपयोगी है। इसीलिए उसमें प्रौढ़ता एवं गम्भीरता है। जीवन का जितना अंश टेकचंद ठाकुर ने लिया था श्रीनिवासदास उससे आगे बढ़े।

'परीक्षा-गुरु' की परम्परा

'परीक्षा गुरु' का परवर्ती रचनाओं पर प्रभाव पड़ा; बालकृष्ण भट्ट का दूसरा उपन्यास 'सौ अजान और एक सुजान' तो मानो इसी के अनुकरण पर लिखा गया। तुलना करने पर दोनों उपन्यासों में कुछ ऐसी समानताएं हैं जो या तो परवर्त्ती में पूर्ववर्त्ती की प्रेरणा सूचित करती है या आश्चर्यजनक संयोग। एक में घटनास्थल दिल्ली है, दूसरे में अवध। एक में नायक के पिता यशस्वी चित्रित किये गये हैं 'दूसरे में नायक के पितामह (पिता की अकाल मृत्यु हो चुकी थी)। दोनों उपन्यासों के नायक वैश्य कुल के व्यापारी हैं। दोनों उपन्यासों में लेखक का सजातीय प्रतिनिधि एक-एक बुद्धिमान् पात्र है जो नायक का हितैषी होने के कारण उसको हर समय नीति सिखा कर सत्पथ पर लाने का प्रयत्न करता है; लाल श्रीनिवासदास के प्रतिनिधि लाला ब्रजकिशोर हैं और पंडित बालकृष्ण भट्ट के प्रतिनिधि पंडित चन्द्रशेखर। मुफ्तखोरे खुशामदियों की कुमंत्रणा के कारण नायक इन बुद्धिमानों की उपेक्षा करते हैं, उनका प्रयत्न सम्पत्ति का अपव्यय करते हुए अपने को सबसे बड़ा रईस सिद्ध करना है। सजावट की नई-नई चीजें खरीदी जाती है, देश-विदेश के मशहूर और सिरताज कलाकार और कलाकृतियां एकत्र करने में और अपनी प्रशंसा सुनने में नायकों का सारा समय लग जाता है, मदनमोहन को खाता सुनने की फुर्सत नहीं तो ऋद्धिनाथ को चैकों पर दस्तखत करने का समय नहीं मिलता। ऐश आराम के लिए दोनों उपन्यासों में मनोहर उद्यान लगे हुए है। अपव्यय के अतिरिक्त लेखकों ने नायकों को कोई बुरी लत नहीं पड़ने दी; महफिल बैठती है, संगीत छिड़ता है, नाच होता है परन्तु कोई भी नायक रात्रि बाहर नहीं बिताता। कारण शायद यह है कि दोनों रचनाओं में एकमात्र नारी पात्र सबल और गम्भीर है। उधर मदनमोहन की पत्नी और इधर ऋद्धिनाथ की माता। अजानों का ढांचा भी दोनों उपन्यासों में एक-सा है; मुंशी चुन्नीलाल के समान नंददास, हकीम अहमद हुसैन के समान हकीम फीरोज बेग। भट्टजी ने नन्दू, रग्घू और बुद्धू तीनों को इकट्ठा चुन्नीलाल की प्रतिकृति बनाया है। लुच्चे पात्रों का चित्रण श्रीनिवासदास को सह्य न था, इसलिए उनके उपन्यास में बसन्ता और हुमाबेगम न मिलेंगे दोनों ही उपन्यासों ने आपत्तियों का आह्वान किया है, यद्यपि ये आपत्तियाँ रूप में भिन्न हैं परन्तु जाति में समान होने के कारण धन से सम्बन्ध रखती हैं और नायकों को कानून में जकड़ कर हवालात में भेजती हुई उनको बोध देती हैं। श्रीनिवासदास और बालकृष्ण भट्ट के व्यक्तित्व एवं परिस्थितियों में जो अन्तर था उनकी छाप उनके इन उपन्यासों में होते हुए भी यह स्वीकार

करना पड़ेगा कि 'परीक्षा गुरु' और 'सौ अजान और एक सुजान' कम से कम सहोदर अवश्य हैं।

नूतन ब्रह्मचारी

'नूतन ब्रह्मचारी'[1] मासिक पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' के अंकों में सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था। तदुपरान्त इसका पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। यह उपन्यास आठ परिच्छेद और ५१ पृष्ठ की एक छोटी-सी पुस्तक है; इसकी रचना इस उद्देश्य से हुई थी कि इसको पढ़ने वाले 'बालक अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर देश को उन्नति के शिखर तक' पहुँचावें। परन्तु शिक्षा-विभाग के अधिकारियो ने इसको पाठ्य-क्रम में कभी स्थान नही दिया। भट्ट जी ने स्वयं इस प्रसग की चर्चा की है, 'हमारी इस पुस्तक के पढ़ने से पाठको को अवश्य मालूम हो जाएगा कि बालकों के पढ़ने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है और शिक्षा-विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धिवाले बालको को कितनी उपकारी हो सकती है.....पर सुलेखक के अभिमान मे चूर आज तक किसी प्रकार की चाटुकारी न बन पड़ी—तब क्यो शिक्षा-विभाग के पदाधिकारी—इस प्रकार की बालकोपयोगी पुस्तको को शिक्षा-विभाग में आदर देते'[2]।

'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२) और 'नूतन ब्रह्मचारी' (सन् १८८६) के प्रकाशन-काल में केवल चार वर्ष का अन्तर है तथापि व्यक्तित्व, परिस्थिति, एवं दृष्टि-भेद से इन दो साहित्यिक उपन्यासो मे पर्याप्त अन्तर आ गया है। भट्टजी प्रयाग कायस्थ पाठशाला कालेज में सस्कृत के प्रोफेसर थे, उनके सम्मुख उदीयमान किशोरो की उन्नति का सबसे बड़ा प्रश्न था। इसलिए उन्होने ऐसा उपन्यास लिखा है जो छात्र-छात्राओं को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे। इसके विपरीत श्रीनिवासदास व्यवहार-कुशल व्यापारी, म्युनिसिपल कमिश्नर तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट थे; उनकी दृष्टि प्रौढ़ युवको पर जमी हुई थी। अस्तु, पाठक-भेद की कल्पना से प्रबन्ध कल्पना भी बदल गई है। 'नूतन ब्रह्मचारी' में कोमलता, उपदेश, सरलता, एवं सुग्राह्यता का सर्वत. ध्यान है; लेखक मानो अपने शिष्यों के समक्ष उनके हितार्थ एक शिक्षाप्रद कल्पित कथा सुना रहा है।

यह कहा जा चुका है कि 'परीक्षागुरु' की 'ससारी वार्ता' कहने मे लेखक बंगला की अपेक्षा गुजराती के अधिक निकट है। कारण दो हो सकते हैं। एक, दिल्ली की कलकत्ता से दूरी। दूसरा, व्यापारी होने के कारण बंगालियों की अपेक्षा गुजरातियों से लेखक की अधिक घनिष्ठता। बालकृष्ण भट्ट की परिस्थिति नितान्त भिन्न थी। वे प्रयाग के निवासी थे और प्रयाग में ही साहित्य-सेवा करते थे। काशी, प्रयाग और वृन्दावन हिन्दी-प्रदेश में बंगालियों के केन्द्र रहे हैं। प्रयाग शिक्षा का भी केन्द्र था। अतः प्रयागीय साहित्यिक जगत् बंगीय साहित्य से सदा मित्रता मानता रहा है। भट्ट जी अच्छी बंगला जानते थे या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह निर्विवाद है कि प्रयाग के कारण

---

१. नवीन संशोधित संस्करण, सन् १९५० : सोल एजन्ट साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग।

२. सम्पादकीय 'निवेदन' में उद्धृत।

उन्होंने अपने नॉवेलों को 'वार्ता' न कह कर 'उपन्यास' नाम दिया। 'नूतन ब्रह्मचारी' को प्रथम पृष्ठ पर लेखक ने स्पष्टत:'उपन्यास' लिखा है।

'नूतन ब्रह्मचारी' की कथावस्तु गुम्फन-शून्य एवं सरल है। एक कथा-मात्र से कथानक का निर्माण करके लेखक सुकुमार मति बालको के प्रति जागरूक दिखलाई पडता है। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विट्ठलराव सामान्य स्थिति के धार्मिक गृहस्थ थे। उनके पुत्र का नाम विनायकराव था। एक दिन विनायकराव के यज्ञोपवीत की तैयारी में विट्ठलराव सपत्नीक ठाकुर साहब की गढी पर गये हुए थे। पीछे तीन डाकू आ कर उनके घर उतरे। घर पर ब्रह्मचारी विनायक के अतिरिक्त और कोई न था। उसने इन तीनों को अतिथि समझ कर भोले भाव से उनका स्वागत किया और घर में जैसी भी सामग्री थी उससे उनका सब प्रबन्ध किया। डाकुओं का सरदार किसी अच्छे घर का था, परिस्थिति ने उसको इस कर्म में डाल दिया था। वह विनायक के निश्छल व्यवहार, सरल आतिथ्य एवं ब्राह्मण गृहस्थ के पवित्र घर से इतना प्रभावित हुआ कि उसका मन फिर गया। उस दिन से सरदार की उसके साथियो से खटपट रहने लगी। पन्द्रह वर्ष बाद वे डाकू, विनायक के कृपालु ठाकुर साहब की गढी को लूटने आये, परन्तु सरदार उनसे सहमत नही था। इस पर उनमें हथियार चल गये, सरदार को बहुत चोट आई। मरते-मरते उसने विनायक को डाके की सूचना दी और अपने प्रति किये गये उस पन्द्रह वर्ष पूर्व के सद्व्यवहार के लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। ठाकुर साहब सावधान हो गये थे, इसलिए डाकुओ के साथ मुठभेड मे उनकी विशेष हानि न हुई, दोनो डाकू मारे गये।

कथानक में केवल एक कहानी है और केवल दो झाकियां—एक विनायक के यज्ञोपवीत की और दूसरी पन्द्रह वर्ष बाद सरदार की मृत्यु की। बालोपयोगी होने के कारण कथानक सरल, सहज एवं स्वच्छ है। वास्तव मे कथा से अधिक तो इस उपन्यास में वर्णन है। लेखक ने उत्तर-प्रदेश के स्थान पर दक्षिण के नासिक प्रान्त को घटनास्थल बना कर हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद की सूचना दे दी है। कथा सर्वत काल्पनिक है। नासिक के अतिरिक्त कोई भी भौगोलिक स्थान कथा का अग नही है। पिडारियो के वर्णन से ही कथा के ऐतिहासिक काल पर कुछ प्रकाश पड सकता है। ऐतिहासिक वायुमण्डल से स्वतंत्र होने के कारण ही इस उपन्यास को सामाजिक उपन्यासों के वर्ग में स्थान मिलता है।

कहने को तो उपन्यास मे छ. पात्र है—तीन ब्राह्मण और तीन डाकू, परन्तु विनायक और सरदार के अतिरिक्त शेष चार पात्रों का कोई विशेष चित्रण नहीं किया गया। विट्ठलराव और उनकी पत्नी राधाबाई आदर्श ब्राह्मण दम्पति है, 'ये दोनों पति-पत्नी एक मन दो तन होते हुए' मम व्रते ये हृदयं दधामि मम चित्तं मनुचितं तेस्तु' पाणिग्रहण के समय की इस ऋचा को चरितार्थ कर रहे थे'[1]। इसी प्रकार दोनों डाकू सामान्य साहसिक हैं :[2] 'दया और प्यार अथवा मित्र-भाव तो उनसे कोसों दूर थे और

---

१. दूसरा परिच्छेद, पृ० २३

२. पहिला परिच्छेद, पृ० १८

वही मन में भासती थी कि वे दानों साक्षात् कृतान्त के सहोदर भाई हैं अथवा पिण्डीभूत क्रूरता और निठुराई के अंशावतार हैं'। विनायक और सरदार दोनों का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। लेखक की दृष्टि में विनायक मुख्य पात्र अथवा नायक है, उपन्यास का नामकरण उसी के आधार पर है, उसका भोला-भाला जीवन भी विशेष अंकन का विषय है एवं आदि से अन्त तक वह उपन्यास में व्याप्त है। सरदार का व्यक्तित्व दुर्बल है; उसके संस्कार अच्छे थे, परिस्थितियो ने उससे कुकर्म कराये, सुसंगति पाकर फिर उसके सुसंस्कार जग गये। आज की दृष्टि से, यदि सरदार को नायक मान कर उपन्यास लिखा जाता तो उसमें अधिक आकर्षण रहता, क्योकि सरदार की मानसिक उथल-पुथल और उसका नव जागण कला की सूक्ष्मता में सराहनीय बन जाते; विनायक के जीवन में कोई उतार-चढ़ाव नहीं, परन्तु सरदार का जीवन राजपथ पर नहीं चल सका था। पिचहत्तर वर्ष के इस काल में उपन्यास की नायक-विषयक मान्यताएँ परिवर्त्तित होते हुए आज बिल्कुल विपरीत हो गई हैं।

विनायक उपन्यास का नायक है। उसका 'वय अभी आठ वर्ष और तीन या चार महीने का होगा पर देखने से छही वर्ष का मालूम होता था'[1]। उसमें शिशु-सुलभ भोलापन था, पौराणिक कथाओं पर विश्वास कर के वह गुहा मे राक्षस का निवास और मंथन में रत्नों की प्राप्ति सचमुच मानता था। 'उस के पतले भीतर को धसे हुए ओठो को देख इस बालक में एक प्रकार की दृढता और अपने अध्यवमाय मे स्थिरता अलबत्ता भासती थी जो वयक्रम के बढने के साथ ही अवश्य बढती'[2] गई। जब से वह 'ब्रह्मचारी' बना, 'बाल्यावस्था के कुतूहल के बदले एक ऐसे सहज गाम्भीर्य ने विनायक के मन में स्थान पाया जो वयोवृद्ध पुरुषो में बहुधा देखा जाता है'[3]। पिता की आज्ञा को अक्षरशः सत्य मान कर विनायक अतिथि-सत्कार के लिए दृढ था। डाकुओ को अतिथि समझ कर वह निर्भय होकर उनका स्वागत करने लगा, "मैं इन तीनो की मेहमानदारी ऐसे अच्छे ढग से करू कि पिता के आने पर मेरी बात उज्ज्वल रहे और यह तभी संभव है जब इन मेहमानो के मुह से मेरी प्रशसा पिता जी सुनेगे'[4]। उसके निश्छल, विश्वासपूर्ण, सद्व्यवहार से 'डाकू जिन्होने बड़े-बड़े बहादुरो से हथियार रखवा लिये थे—उनके सरदार का मन फिर गया और उन लोगों की हिम्मत लूटने की न पडी'[5]। विनायक के चरित्र की मुख्य विशेषता यह है कि वह सामान्य बालक है, उसकी परिस्थिति नितान्त सामान्य एवं सर्व-जन-सुलभ है; इसलिए कोई भी छात्र विनायक के जीवन से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को उसके साँचे में ढाल सकता है। विनायक के प्रधान गुण भोलापन, दृढ़ता, अध्यवसाय, सत्य, एवं निर्भयता है। उसकी

१. चौथा परिच्छेद, पृ० ३३
२. वही, पृ० ३७
३. वही, पृ० ३९
४. वही, पृ० ४२
५. छठवां परिच्छेद, पृ० ५१

कोई विशेष कामना नहीं, भौतिक जीवन में औरों से आगे बढ़ जाने की उसकी कोई योजना नहीं। ईश्वर में विश्वास और माता-पिता की आज्ञा का पालन करता हुआ वह कर्मशील, उत्साही एवं सत्यनिष्ठ सच्चरित्र पुत्र है। मरणासन्न सरदार के प्रति उसने कितना निर्मल वचन कहा था : 'यदि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को क्षमा कर सकता है तो मैं तुमको दिल से क्षमा करता हूं और ईश्वर से यही प्रार्थना करता हू कि वह भी तुम्हारे अपराधो को क्षमा करें'[1]।

डाकुओं का सरदार इस उपन्यास का दुर्बल पात्र है वह केवल दो बार पाठकों के सम्मुख आता है—प्रथम परिच्छेद मे तथा अन्त में। लेखक ने उसको इतना कम महत्व दिया है कि उसका नाम तक नही बतलाया। डाकू बनने से पूर्व वह क्या था, 'आंखों में शील और दया की कोई-कोई समय झलक सी मालूम'[2] होते हुए भी वह लुटेरा क्यों बन गया था—यह लेखक ने नही लिखा। उपन्यास से केवल इतना पता चलता है कि उस सरदार केम न से दया, स्नेह और सद्-व्यवहार का नितान्त लोप नही हुआ था।' विनायक की चितवन और बोलचाल में एक अनौखी मिठास भरी हुई है जिसने उसके मन को वश मे कर लिया है। यह बराबर उसी ने पीछे पीछे मानो कान पूछ दबाये चला जाता था'[3]। विनायक के घर जाकर उसका मन बिल्कुल फिर गया। जब साथियो ने पूछा—'क्यो सरदार क्या हुक्म है, यहा से कोरे ही जायगे क्या', तब सरदार जो सिर नीचा किये कुछ सोच रहा था चौक कर बोला—'हा आओ, बाहर चलो'[4]। जीवन मे शायद पहली बार 'सरदार के आख मे आसू भर आये और गद्गदे स्वर से बोला—'—अपने तपोधन पूज्य पिता जी से कह देना कि दो दिन बाद फिर तुम्हारा दर्शन करेगे'[5]। सरदार के जब अतिम दर्शन होते है तब वह घायल, मरणासन्न पड़ा है, उसकी अन्तिम इच्छा है कि विनायक के दर्शन हो जाय या उसका यह सन्देश विनायक को मिल जाए कि उसके एक समय के सद्व्यवहार ने सरदार मे घना परिवर्तन कर दिया है वह अपने अपराधो के लिए क्षमाप्रार्थी है और ठाकुर साहब को आज रात के डाके की अग्रिम सूचना देकर बचाना चाहता है। कहते हैं कि सच्चे हृदय से की गई प्रार्थना भगवान् के कानो मे अवश्य पहुँचती है। इस नियम से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सरदार ने सच्चे हृदय से प्रार्थना की थी। विनायक उसको मिल गया और पन्द्रह वर्ष पुरानी घटना का स्मरण कराकर सरदार ने विनायक से क्षमा मांगी, फिर उसके 'अंग-अंग शिथिल और ठण्डे पड गये'। इस प्रकार विनायक के दर्शन प्राप्त कर उस सरदार ने प्राण त्याग दिये। इस कथा में सरदार का जीवन-चित्रण विशेष अभीष्ट

---

१. आठवां परिच्छेद, पृ० ६६
२. पहिला परिच्छेद, पृ० १८
३. छठवां परिच्छेद, पृ० ४७
४. छठवां परिच्छेद, पृ० ५०
५. वही, पृ० ५१

नहीं था, अन्यथा लेखक यह भी बतलाते कि पन्द्रह वर्ष तक सरदार के मन में क्या-क्या द्वन्द्व चलता रहा और विनायक के जीवन से उपदेश लेकर वह सन्यासी क्यों न बन गया। विनायक और सरदार के जीवन का वैयक्तिक चित्रण लेखक ने आदर्श की लेखनी से किया है। न तो संसार में विनायक जैसे ब्रह्मचारी हैं और न सरदार जैसे डाकू। आदर्श होते हुए भी दोनों अपने गुणो मे सामान्य है। उनके व्यक्तित्व का सूक्ष्म अंकन उस युग में संभव न था।

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास कथा-प्रधान है। इसलिए वर्णन तो इस मे बहुत हैं परन्तु कथोपकथन अपेक्षाकृत कम। पहिले परिच्छेद में 'वैशाख के महीने मे एक जंगल में सांप' का वर्णन है और दूसरे परिच्छेद मे 'गरमी के मौसिम में प्रातःकाल' का। लेखक ने कानन और यज्ञोपवीत-समापवर्तन (छठवां परिच्छेद) का बडा भावनामय चित्र अंकित किया है। इनके स्वच्छ और उज्वल खान-पान रीति और व्यवहार के कारण कृष्णता संकुचित और भयभीत-सी हो केवल हरे कृष्ण इत्यादि नारायण के नामोच्चारण मे आ बसी और सब ओर से निराश हो मलिनता ने इनकी अग्निहोत्रशाला के धूम का आसरा पकड़ा'[1] आदि वर्णन लेखक पर 'कादम्बरी' का प्रभाव दिखलाते हैं। भट्ट जी की भाषा न तो संस्कृतनिष्ठ ही है और न हिन्दुस्तानी ही। वैसवाडी का प्रभाव पूर्व-कालिक क्रिया 'जाय कह देगी', 'खिलौनो को पाय', 'दै-दिवाय बिदा किया', 'पांव की आहट पाय' आदि में और 'राजी न हुआ चाहते थे', 'आया ही चाहता था', 'ऊपर चढ़ा चाहता था' आदि क्रियाओ में स्पष्ट है। श्रीनिवासदास और बालकृष्ण भट्ट की भाषाओ की तुलना पर पहिली पर ठेठपन और दूसरी पर पूर्वी प्रभाव स्थानीय विशेषता के कारण हैं।

भट्ट जी ने अपने उपन्यास को परिच्छेदो में विभक्त किया है, परन्तु कोई-कोई परिच्छेद (जैसे पांचवा) डेढ पृष्ठ का है, और कोई (जैसे आठवा) ग्यारह का। किसी परिच्छेद पर शीर्षोद्रण हिन्दी मे है (जैसे पहला) किसी के सस्कृत मे (जैसे दूसरा पांचवां, छठवां, सातवां और आठवा) और किसी मे है ही नही (जैसे तीसरा और चौथा), बीच में केवल एक वैदिक सूक्ति है। वर्णन बहुत लम्बे है। कथा-शैली पर काल्पनिक घटना का उल्लेख उपदेश के हेतु लेखक ने किया है। घटनाओं मे तिलिस्मी, ऐयारी, या जासूसी चमत्कार न होते हुए भी पिण्डारी लुटेरों के रोमाचकारी इतिहास से भट्ट जी ने लाभ उठाया है। इस उपन्यास मे कोई भी घटना या वर्णन अविश्वसनीय नही है। यद्यपि 'नूतन ब्रह्मचारी' की कथावस्तु सामयिक यथार्थ जीवन की है, फिर भी बालोपयोगी होने के कारण इसमें जीवन की समस्याओ और गहराइयो का प्रतिफलन नहीं पाया जाता।

इस उपन्यास का नाम पाठको का ध्यान आकृष्ट करता है। 'नूतन ब्रह्मचारी'[2]

---

१. तीसरा परिच्छेद, पृ० २९

२. पृ० ३०, ३१ तथा ३५ पर 'नया ब्रह्मचारी' और पृ० ३७ (चौथा परिच्छेद) पर 'नूतन ब्रह्मचारी' शब्दों का प्रयोग है।

में 'नूतन' शब्द को अनावश्यक महत्व देकर कभी-कभी पाठक यह सोचता है कि 'नूतन 'मार्डन' का पर्याय है और यह उपन्यास आजकल के युवकों पर व्यंग्य मात्र है। परन्तु इस नाम में 'नूतन' विशेषण की अपेक्षा 'ब्रह्मचारी' संज्ञा का अधिक महत्व है। यज्ञोपवीत के अवसर पर, पुरानी परम्परा का पालन करते हुए, उस बालक को उत्सव पर्यन्त आज भी 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है; क्योंकि प्राचीन काल में यज्ञोपवीत लेकर बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रविष्ट हो जाता था और पच्चीस वर्ष की आयु तक उस व्रत का पालन करता था। शास्त्रोक्त नियमो का पालन करते हुए ब्राह्मण कुमार आज भी जब 'नूतन ब्रह्मचारी' बनता है तो सस्कारो के कारण उसके मन मे प्राचीन जैसी ही पवित्र, उदार भावनाएं जग उठती हैं। यदि इन ब्रह्मचारियो का ठीक विकास हो तो देश में ऐसे अनेक युवक निकल सकते है जो समाज और राष्ट्र की सेवा करते हुए प्राचीन ऋषियो का आदर्श उपस्थित कर सके। यज्ञोपवीत के अवसर पर ब्रह्मचर्य का नूतन व्रत लेने वाला कुमार ही 'नूतन ब्रह्मचारी' है; प्रत्येक कोमल-मति छात्र 'नूतन ब्रह्मचारी' है, उसमें विनायक के समान ही दृढता, संयम, तत्परता, अध्यवसाय और सच्चाई पाई जाती है। परन्तु शिक्षा की दुर्व्यवस्था के कारण हम अपने ब्रह्मचारियो को मिट्टी में मिला देते हैं। भट्ट जी स्वयं प्रोफेसर थे, उन्होंने यह कल्पित यथार्थवादी आख्यान नव छात्रों (नूतन ब्रह्मचारियो) के लाभार्थ लिखा था, वे 'सुशील बालक' बन कर अपने माता-पिता को धन्य बना सकें—यही लेखक की महती कामना है। पाठक और उद्देश्य पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि लेखक का प्रयत्न अत्यन्त सफल एव स्तुत्य है।

पं० बालकृष्ण भट्ट एक आदर्श ब्राह्मण थे—जन्म से भी और कर्म से भी। उनके जीवन मे स्वाभिमान, निर्भीकता, निःस्वार्थ सेवा, छात्र-हित और सामान्य कल्याण के साथ-साथ सन्तोष, धैर्य एव कर्तव्यनिष्ठता झलकती हैं। विट्ठलराव का चित्रण करते हुए वे अपनी छाया न बचा सके। तीसरे परिच्छेद मे 'निर्धनी विट्ठलराव' को 'अकिञ्चिन' न कह कर 'निष्किचन' कहा गया है, क्योंकि 'धर्मशील संयमी' विट्ठल के पास धन न हो 'मन का अन्तः सन्तोष' और 'तपोधन' की तो कोई सीमा न थी, वे अपने को दीन क्यो माने ? आवश्यकता होने पर भी वे स्वाभिमान के कारण ठाकुर साहब की गढ़ी पर बिना बुलाये न जाना चाहते थे। जब बुलावा आया तो 'हर्ष से इनका मन मुकुल विकसित हो एकबारगी खिल उठा' स्वाभिमान और आवश्यकता दोनों को पूरा करने वाले इस अवसर का 'पूरा-पूरा अनुभव उन्हीं को होगा जिन्हें कभी ऐसी संकीर्णता झेलनी पडी है...यह अनुभव की बात है लिखने की नही'[1]। भट्टजी ऐसे ही भुक्तभोगी रहे होंगे। एक ओर उन्होने अपने उपन्यास में सरदार जैसे उपनायक ('खलनायक' नही) की सृष्टि की है जो लुटेरा है 'पर उसकी आंखों में शील और दया की कोई-कोई समय झलक—सी मालूम होती थी जिसने उसका भीतरी भाव यही प्रकट होता था कि जो —केवल स्वार्थ की मूर्त्ति हैं जो निज सुख तथा आमोद-प्रमोद को अपने जीवन का सार

---

१. दूसरा परिच्छेद, पृ० २७

माने हुए हैं; सामयिक अधिकारियों की चापलूसी में चिपटे हुए अपने असंख्य धन को लुटाने में कभी भी संकोच चित्त में नहीं लाते; जिनके चित्त में देश की दशा का सुख-दुख कभी व्यापता ही नही ऐसों के धन को लूट उनमें बांट देना जो वास्तव में हीन-दीन और सब भांति सुचरित्र और सुयोग्य रह कर भी काल की चाल ढाल से दुःखी हो रहे हैं[1]। दूसरी ओर उनका ब्राह्मणत्व ऐसे नायक की सृष्टि करता है जिसको 'ब्रह्मचर्य' में कदम रखते ही पितृमुख से यह सीख मिली थी कि 'जो अपने साथ बुराई करे उसके साथ भी भला करना। वरन् दुर्जन और दुष्ट मनुष्य जिनका स्वभाव ही दूसरे की बुराई और हानि करने का है उनका मन भी बुराई की ओर से फेर देने का यही एक उपाय है कि सदा उनके साथ शुद्ध भलाई का बर्ताव करे और उनकी बुराई को अपनी भलाई से दबा कर उन्हें लज्जित कर उनका मन अपने वश में कर ले'[2]। अन्त में सरदार पर विनायक की विजय भी ब्राह्मणत्व की तथाकथित प्रगतिशील विचारधारा पर विजय है। 'सर्व-साधारण को यह उत्तम शिक्षा' है कि 'भलाई और अच्छा काम तुम से जहां तक बन पडे करो परन्तु उस भलाई का प्रतिफल पाने की आशा मत रक्खो'[3]।

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास में समाज और युग का प्रतिफलन बहुत कम है, जितना भी सामयिक प्रभाव ज्ञात होता है वह लेखक के व्यक्तित्व या भारतेन्दु-परम्परा का समझना चाहिए। 'परीक्षागुरु' के समान यह उपन्यास गंभीर साहित्य की कोटि का है। 'परीक्षागुरु' के समान इसमें भी स्त्री-पात्रों का अभाव-सा समझना चाहिए। प्रेमचन्द-पूर्व युग के अधिकतर उपन्यास सामान्य जनता के लिए लिखे जाते थे, उनमे स्त्री-पात्र ही मुख्य हुआ करते थे और मुसलमानो की निन्दा एवं प्रायः अंग्रेजो की प्रशसा की जाती थी। 'परीक्षागुरु' 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान और एक सुजान' उस प्रवाह से भिन्न हैं। खुशामदी, अपव्ययी, देश-दशा से उदासीन लोगो पर व्यंग्य कस कर भट्ट जी ने भारतेन्दु-परम्परा का निर्वाह किया है; दूसरे परिच्छेद मे वे लिखते है कि 'जहा एकता हैं वहाँ यह कब संभव है कि कोई बाहरी आकर अपना प्रभुत्व जमा सके'[4]। आर्यसमाज और सनातन धर्म के झगड़े को न उठा कर लेखक महोदय ने ब्राह्मणत्व का प्राचीन आदर्श नूतन ब्रह्मचारियो के सम्मुख रखा है। सत् और असत् का ही संघर्ष न दिखा कर सत् के ही दो रूप विनायक एवं सरदार का जीवन अंकित करके भट्ट जी मनोविज्ञान की नवीनतम मान्यताओ से भी पीछे नही रहे। उनका 'नूतन ब्रह्मचारी' आज भी सुकुमारमति छात्र-छात्राओं के लिए बहुमूल्य उपहार है।

---

१. पहिला परिच्छेद, पृ० १९
२. सातवां परिच्छेद, पृ० ५६
३. दूसरा परिच्छेद, पृ० ११-१२
४. पृ० २१

सौ अजान और एक सुजान

भट्टजी का दूसरा उपन्यास 'सौ अजान और एक सुजान'[1] है। प्रथम उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' से पाठक-भेद एवं उद्देश्य-भेद से अलग होता हुआ लेखक का यह उपन्यास 'परीक्षागुरु' के सहयोगियो में स्थान पाने योग्य है। यह कहना कठिन है कि 'परीक्षागुरु' पर मुग्ध होकर लेखक ने 'सौ अजान और एक सुजान' की रचना की अथवा दोनों उपन्यासों का इतना अधिक साम्य सयोग-जन्य ही है। आकार में 'सौ अजान और एक सुजान' पूर्व-रचित उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' से बड़ा है, इसमें तेईस 'प्रस्ताव' और एक सौ सत्ताईस पृष्ठ हैं। 'नूतन ब्रह्मचारी' को प्रारम्भ करते ही लेखक ने 'उपन्याम' संज्ञा दे दी थी, परन्तु इस रचना को मुख-पृष्ठ पर 'एक प्रबन्ध कल्पना' कहा गया है, यद्यपि भीतर जाकर 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग भी है।[2]

'नूतन ब्रह्मचारी' के पाठक सुकुमारमति छात्र छात्राएं है, परन्तु 'सौ अजान और एक सुजान' के युवक जन। इसलिए पहले उपन्याम का कथानक सरल एव लघु था, उसकी कल्पित घटना के वर्णन में एक बालक के सद्व्यवहार से डाकुओ का सरदार भी सुधर गया था। परन्तु इस उपन्यास का नायक कुसगति मे पड कर पतन की ओर जा रहा है, अन्त मे एक पुराना हितैषी उसकी सहायता करके उसका उद्धार करता है। पहिले उपन्यास मे लेखक की शैली बालोपयोगी, सरल एव उपदेशमयी है, परंतु इस उपन्याल मे साहित्यिक छटा, नीति के वचन, वर्णन की रम्यता एव कलात्मक सौन्दर्य पाठको की प्रौढता का संकेत देती है। भट्टजी के दोनो उपन्यास एक-दूसरे के पूरक है; 'नूतन ब्रह्मचारी' सुकुमार बालको के लिए लिखा गया था और 'सौ अजान और एक सुजान' किशोर युवको के लिए।

अवध प्रान्त मे गोमती के तट पर अनन्तपुर नाम का एक कस्बा है। वहां सेठों के एक पुराने घर में सेठ हीराचन्द हुए; 'धर्म में निष्ठा, ब्राह्मण मे भक्ति, शक्ति रहते भी क्षमा इत्यादि ऐसे लोकोत्तर गुण इसमें थे कि उनकी उपमा किसी दूसरे पुरुष में ढूंढ़ने सेभी मिलना दुर्घट है'[3]। सेठ हीराचन्द के एकमात्र पुत्र रूपचंद २५ वर्ष की थोडी ही उमर में दो पुत्र, एक कन्या छोड स्वर्गवासी हो गये। सेठजी को दुःख तो बहुत हुआ परन्तु ईश्वरेच्छा समझ कर उन्होने सब कुछ सहा; और बालकों को पढ़ाने तथा 'इधर-उधर की चतुराई की बाते' सिखाने के लिए प० चन्द्रशेखर को नियत कर दिया। चन्द्रशेखर या 'चन्दू' ही इस उपन्यास का 'एक सुजान' है कुछ समय उपरान्त सेठजी भी अपने पौत्रों ऋद्धिनाथ और निधिनाथ को छोड़कर स्वर्ग सिधार गये; ऋद्धिनाथ चौदह वर्ष

---

१ पंचमावृत्ति, सं० १९८५ वि०, प्रकाशक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, २९-३० अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ।

२. 'सहसा किसी रहस्य का उद्घाटन उपन्यास लेखकों की रीति के विरुद्ध है, इससे इस प्रस्ताव को यहीं समाप्त करते हैं।' (छठा प्रस्ताव)

३. पृ० ८

का था और निधिनाथ बारह वर्ष का। कुछ ही दिनों में 'सेठ की दौलत पर गीध के समान ताक लगाए बैठे हुए मीरशिकार, भांडभगतिए दूर-दूर से आ जमा होने लगे, खुशामदी चुटकी बजाने वाले मुफ्तखोरों की बन पड़ी। चंदू की शिक्षा के अनुसार चलने की कौन कहे, उसके नाम की चर्चा भी चित्त में दोनों को बिच्छू के डंक की भांति व्यथा उपजाने लगी'[1]। 'इस तरह वहां अजान लोगों का दल इकट्ठा होते देख और इन दोनों को कुढग और कुचाल की ओर बढता देख चन्दू-सा सुजान अचानक अन्तर्द्धान हो गया'[2]। दोनों बाबू सदा इसी चेष्टा में रहते थे कि इन सब सजावटों में आसपास के अमीर ताअल्लुकेदार और बाबुआनों में कोई हमारे आगे न बढने पावे, और इसी चढा-उतरी में लाखो रुपया ठिकरी कर डाला'[3]। 'अपने घर का सब काम-काज देखना-भालना तो बहुत दूर रहा, बड़े बाबू साहब को हुंडी-पुरजों पर दस्तखत करना भी निहायत नागवार होता था'[4]। इन अजानों का सिरताज पुरोहित-कुल का 'बसन्ता' था; 'इन बाबुओं को तो इसने ऐसा फसा रखा था कि इसके बिना उन्हे एक दम चैन न पड़ती'[5] थी। 'इस किस्से के कई एक नायक-प्रतिनायकों में चन्दू का प्रतिनायक यही होता रहेगा। चन्दू-सा सुपात्र भलामानुस और बसन्ता के समान नटखट कुपात्र कहीं विरले पाओगे'[6]। एक बार जब बसन्ता 'स्त्रियों का भेष धर बइय्यरबानियो में जा मिला था' तब वह पुलिस के चगुल मे पड़ गया और उसको छः मास की कैद हुई। इस बीच चन्दू ने बडे बाबू को सुधारने की कुछ कोशिश की, परन्तु बिरादरी के भाई नन्दू ने फिर उसको घसीट रखा। नन्दू मामूली मुख्तार था, और 'साधारण लियाकत मे तो बृहस्पति और शुक्राचार्य को भी अपना चेला' समझे बैठा था। एक दूसरा सभासद् रग्घू था जो 'अमीरों का रुख पहचान उन्हें खुश करने के हुनर मे बहुत प्रवीण था'। एक सभासद् 'हकीम साहब' था जो 'बाहर तो बड़े तूमतडाग और लिफाफे से रहते थे, पर भीतर मिया के सिवा एक टूटी खाट और तीन सनहकी के कुछ न था'। इसकी बहिन 'हुमा बेगम' 'खूबसूरती और शऊर मे एकता न थी किन्तु गाना बजाना इत्यादि कई तरह के हुनर मे भी अपना सानी न रखती थी'[7]। बसन्ता के जेल से छूटने पर उसने और नन्दू ने एक जालसाजी की और हीरानन्द के कुटुम्बी वृद्ध मानिकचन्द के कागज और नोट गायब करके बडे बाबू के पास दिये। साथ में एक जाली दस्तावेज बना लिया। पुलिस ने सब को गिरफ्तार कर लिया सब अजान धीरे-धीरे किनारा करने लगे, चन्दू ने 'उपन्यास के मुख्य दोनो बाबुओं' को बडी कठिनाई से बचाया। अदालत ने नन्दू को 'सात वर्ष की सख्त सजा का हुक्म दिया'।

१. पृ० १८
२. पृ० १९
३. पृ० २२
४. पृ० २४
५. पृ० २९
६. पृ० ३०
७. पृ० ५५
८. पृ० ६३

"नन्दू का बुरा परिणाम देखकर इन बाबुओ को कुछ ऐसा भय-सा समा गया कि उसी दिन से इन्हें चेत हो गई।'[1]

ऊपर यह कहा जा चुका है विट्ठलराव पर लेखक (बालकृष्ण) के व्यक्तित्व की छाया है। यह भी सर्वमान्य है कि 'परीक्षागुरु' के लाला ब्रजकिशोर लाला श्रीनिवासदास के ही प्रतिनिधि हैं। क्या इस उपन्यास के चन्द्रशेखर में भट्टजी का व्यक्तित्व झलकता है? पं० शिरोमणि मिश्र के विषय में भट्टजी लिखते हैं; 'इनमें न केवल विद्या ही, किन्तु तपस्या भी पूरी थी, स्वभाव के अत्यन्त गम्भीर और देखने में साक्षात् गणेश की मूर्त्ति मालूम होते थे'[2]। आगे चन्द्रशेखर के विषय में लिखा है : 'शिरोमणि महाराज के सब उत्तम गुण इनमे देखे गये अन्तर केवल इतना ही पाया गया कि स्वभाव का यह अत्यन्त तीक्ष्ण और क्रोधी था, लल्लोपत्तो और जाहिरदारी इसे आती न थी, बल्कि ऐसे लोगो पर इसे जी से घिन थी। उन ब्राह्मणो और पंडितो में न था कि केवल दूसरों ही के उपदेश के लिए बहुत-से ग्रन्थो का बोझ लादे हों, पर काम में पतित महामन्द शूद्र से भी अधिक गये-बीते हो'[3]। शिरोमणि और चन्द्रशेखर के चरित्रों को मिला कर देखा जाय तो पता लगता है कि ब्राह्मण का आदर्श भट्टजी की दृष्टि में यही था और इस आदर्श मे लेखक का रूप भी झलक रहा है। आगे बतलाया गया है कि 'चन्दू इस बात को जान गया था कि लोग हमसे खार खाते है—फिर भी अपना कर्त्तव्य-काम समझ ...बालको को सिखाने और उन्हें ढंग पर चढाने से यह विमुख न हुआ'[4]। परन्तु कुछ दिन बाद 'इस तरह वहां अजान लोगो का दल इकट्ठा होते देख और इन दोनों के कुढग और कुचाल की बढती देख चन्दू-सा सुजान अचानक अन्तर्द्धान हो गया'[5]। लगभग इसी प्रकार भट्टजी ने अध्यापकी से त्याग-पत्र दे दिया था। अस्तु चन्द्रशेखर उनका आदर्श ब्राह्मण, सुजान अथवा सत् का प्रतिनिधि है। ब्राह्मण होने के कारण चन्दू अकारण उन कुमारो का इतना हित करता है, यदि कोई दूसरा होता तो मास्टर शिभुदयाल (परीक्षा-गुरु' मे) के समान स्वयं गुलछर्रे उडाता; परन्तु वह यथावसर एवं यथावश्यकता नायको की सहायता करता है और ब्रजकिशोर के पदचिह्नो पर चल कर अदालत से नायको को बचा लेता है। यहा दो बाते स्वभावतः आ खटकती हैं—एक, ब्राह्मण चन्दू वकील तो नही था, फिर 'पचानन' की सहायता से भी अदालत के दाव-पेच उसने कैसे सीखे, दूसरे, अकस्मात् अन्तर्द्धान हो जाने पर भी चन्दू की रुचि नायको मे क्यों रही? इन प्रश्नों का उत्तर ब्रजकिशोर (परीक्षागुरु') के जीवन में है। निष्कर्षतः यह कहना अनुचित न होगा कि 'एक सुजान' की सृष्टि मे भी भट्टजी श्रीनिवासजी के ऋणी हैं, यद्यपि प० चन्द्रशेखर लाला ब्रजकिशोर की समता के योग्य नही मालूम होते।

---

१. पृ० १२५
२. पृ० १०
३. पृ० १६
४. पृ० १७ (यहां 'हम से' शब्द ध्यान देने योग्य है)।
५. पृ० १९

'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' से 'सौ अजान और एक सुजान' की तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस 'कहानी' का 'प्रथम खेल' ही प्राप्त है, फिर भी उसके अंकुरों में इस उपन्यास की समता है। 'कहानी' का नायक 'जवानी की उमगों में चूर...दुनिया के मुफ्तखोरे सिफारिशियो से घिरा हुआ' है ऋद्धिनाथ के 'जी में नई उमंगो का समुद्र' उमड रहा है, जिससे 'खुशामदी, चुटकी बजाने वाले मुफ्तखरो की बन पड़ी'। भारतेन्दु ने इन मुफ्तखोरो में 'एक मीर साहब' का। वर्णन किया है, भट्टजी ने भी सबसे पहिले 'मीर शिकार' मीर साहब का। 'हुमा' दोनों मे है, वहाँ पक्षी और यहा नर्तकी। भारतेन्दु ने रंडी के भडुए' का वर्णन किया है,। इस उपन्यास मे 'हुमा बेगम' का सगा भाई 'हकीम साहब' बना हुआ रईसो से मेल-जोल बढा कर उनको अपनी बहिन का 'उपासक' बनाता और धन इकट्ठा करता है। भारतेन्दु का प्रधान अजान 'होली' नाम का कुनबी है; 'नाटा खोटा...सावले रग का आदमी है...छोटी आखें, कछाडा कसे, लाल पगडी बाधे...रहता है'; प्रस्तुत उपन्यास का बसन्ता 'रगीन कपडा सिर पर' बाधे है उसकी 'आंख घुच्चू-सी...रग काला है' है, और नन्दू की 'आख चुन्धी, गाल फूले, ...पस्त कद' है, और बुद्धदास का 'रग काला, आख घुच्चू-सी, डील ठिगना' है। 'होली' के लिए भारतेन्दु लिखते है: 'रेवडी के वास्ते मसजिद गिरानी इसी का काम है'; 'सौ अजान और एक सुजान' उपन्यास के बाईसवे प्रस्ताव मे पचानन ने अदालत मे बयान देते हुए इन अजानो के विषय में अतिम वाक्य यही कहा था—'ये लोग रेवडो के लिए मसजिद ढहाने वाले है'। अस्तु. भारतेन्दु का 'होली' इस उपन्यास मे अनेक अजानो के रूप में प्रकट हुआ है। 'परीक्षागुरु' से इस उपन्यास की तुलना ऊपर हो चुकी है। इन उपन्यासो का साम्य संयोग-जन्य भी हो सकता है। कम से कम यह निश्चय है कि १९वीं शताब्दी की अतिम दशाब्दियो मे भारत के रईसो का यही हाल था, जिसको तत्कालीन साहित्यिकों ने उपन्यास के लिए कथानक के रूप में ग्रहण किया।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भट्टजी को सफलता कम मिली है। इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट नही है कि नायक-पद किसको मिले। छठे प्रस्ताव मे 'इस किस्से के कई एक नायक-प्रतिनायको मे चन्दू का प्रतिनायक' बसन्ता होने से चन्दू नायक और बसन्ता प्रतिनायक बतलाये गये हैं; 'चन्दू-सा सुपात्र भलामानुस और बसन्ता के समान नटखट कुपात्र' अन्यत्र नही हैं। आठवे प्रस्ताव में चन्दू को स्पष्टत. 'सौ अजानो मे एक सुजान' कह कर नायकत्व का सकेत है। तेरहवे प्रस्ताव के अनुसार 'इस उपन्यास के मुख्य नायक दोनो बाबू' है। इक्कीसवे प्रस्ताव मे चन्दू ने दोनो बाबूओ से कहा: 'तो अब आगे मे प्रण करो कि अब अजान न बनें'। तब क्या दोनो बाबू भी सौ अजानो मे से हैं? यदि बाबुओ को भी अन्य अजानो के साथ जोड़ा जाय तो नायकत्व किसे प्राप्त होगा? सुजान तो चन्दू है। परन्तु अजानों का मुखिया कौन है? लेखक के अनुसार बसन्ता मुख्य अजान है। किन्तु उपन्यास के अन्त में नन्दू को सात वर्ष की सख्त कैद मिलती है उसका बुरा परिणाम देखकर बाबुओं को चेत हो जाता है। बसन्ता का पता ही नही चलता। लगता है लेखक कुछ स्पष्ट नहीं कर पाया। हमारा अनुमान यह है कि चन्दू तो अजकिशोर के स्थान पर है और बड़ा बाबू मदनमोहन के स्थान पर। शेष

दुष्ट लोग अजान हैं जिनका जाल उनको स्वयं जकड़ लेता है; भयभीत नायक सन्मार्ग पर आ जाते हैं। सुजान का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी बसन्ता और नन्दू का संयुक्त रूप है। असत्य के अनेक रूप हैं इसलिए वह फलता-फूलता दिखाई पड़ता है परन्तु सत्य एक ही अटल एव दृढ़ होने के कारण अन्त में विजयी होता है।

इस उपन्यास के पात्र वर्ग-प्रतिनिधि एवं गुण-दोषो की मूर्त्ति होने पर भी गहरे रंगों से अंकित नहीं किये गये, उनकी रूपरेखा तो लेखक ने खींच दी है परन्तु रग पाठक की कल्पना पर छोड दिया गया है; इसलिए दूर से उनका रूप धुधला दिखलाई पड़ता है। कई बार पाठक की मसि बाहर फैल कर दूसरे पात्र पर भी कुछ धब्बे डाल देती है। चरित्र के विकास का तो प्रश्न ही नही आता। स्त्री पात्रों का अभाव भट्टजी के पहिले उपन्यास मे भी था। मदनमोहन की सन्तान के समान इस उपन्यास में छोटे बाबू की दो वर्ष की पुत्री सरस्वती है। मुसलमान-पात्र हकीम साहब और उनकी हमशीरा नर्त्तकी हुमा है; मुसलमानों में यह एक चलन है कि जो लोग कुछ पढ़े-लिखे होते हैं, और उन्हे कही कुछ जीविका का डौल न लगा, तो वे या तो हकीम बन जाते हैं, या मौलवी हो लड़को को पढ़ा अपना पेट पालते हैं'।[1] कोतवाल भी मुसलमान है, जिसमें उसकी जाति और व्यवसाय दोनो के दुर्गुण झाक रहे है। लेखक ने मुसलमानो को मज़हबपरस्त दिखाया है; अपनी सगी बहिन को पेशेवर नर्त्तकी बनाने वाला हकीम हर समय हाथ मे तस्वीह लिए रहता है, और कोतवाल जब 'सवेरे की नमाज़ से फारिग़' होता है तब भी 'अफीम के नशे मे झोक में ऊघता' हुआ है।

भट्टजी के दोनों उपन्यासो में कथोपकथन विरल है। उनके उपन्यास कथा-प्रधान हैं, उनमें वर्णन जितने अधिक हैं कथोपकथन उतने ही कम। भाषा सामान्यत: बैसवाड़ी प्रभाव से अंकित व्यावहारिक खडी बोली है। बुद्धू पाडे अफीम के झोक मे ऊघता हुआ पूर्वी भाषा ही बोलता रहता है। मुसलमानो के पास बैठ कर लेखक महोदय उर्दू-फारसी के शब्दो का प्रयोग कर लेते हैं। अग्रेजी के 'प्रपोजल', 'सैकेंड', 'कैन्डिडेट' जैसे शब्द आ गये हैं। सबसे अधिक सस्कृत का ऋण है। शब्द-समूह, अप्रस्तुत-योजना, वर्णन ही नही श्लोक के श्लोक उठाकर रख दिये गये हैं। श्रीनिवासदास नीति का उपदेश देते हुए विश्व-साहित्य और विश्व-इतिहास से लाभ उठाते थे, परन्तु उनके फुटनोटो में मूल भले ही रहे मूल में केवल अनुवाद होता था, जिससे हिन्दी के पाठक को कोई कठिनाई न हो। भट्टजी यह मान कर चले हैं कि साहित्यिक हिन्दी का पाठक संस्कृत-ज्ञान-शून्य नही होगा। द्विवेदी युग मे तो संस्कृत-ज्ञान का हिन्दी-साहित्य में मिश्रण सा हो गया था, अत. लेखक पाठकों से सस्कृत-ज्ञान की अवश्य ही आशा रखते थे। भट्टजी के इस उपन्यास में संस्कृत पहिले उपन्यास से अधिक है क्योकि यह किशोर युवकों के लिए लिखा गया था। भट्टजी सस्कृत के प्रोफेसर थे, अत सस्कृत-साहित्य उनके लिए हस्तामलकवत् था। कादम्बरी, रघुवश, किरातार्जुनीय, महाभारत आदि के छायानुवाद यहाँ वर्णनो में हैं और नीति-विवेचन में यथातथ्य उद्धरण रख दिये गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज की दृष्टि से यह सस्कृतपन विशेष सुग्राह्य नही है। यदि 'सौ

१. पृ० ५६

अजान और एक सुजान' में संस्कृत छाया का अध्ययन किया जाय तो एक स्वतन्त्र बृहदाकार निबन्ध लिखा जा सकता है। ध्यान एक बात पर जाता है कि किशोरीलाल गोस्वामी में मुख्यतः संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों की छाया है, परन्तु बालकृष्ण भट्ट में संस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थों की।

श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक थी। बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास उस वर्ग में नहीं हैं। निश्चय ही इनका कथानक कल्पित, समकालीन, एवं यथार्थ है, फिर भी लेखक का कवित्व उपन्यास-कला पर हावी हो गया है। उस युग में संस्कृत के विद्वानो ने हिन्दी गद्य मे जो उपन्यास लिखे उन पर संस्कृत कथा-आख्यायिका का अत्यधिक प्रभाव रहा और कवि बाण की शैली उन पर बहुत प्रभाव डालती रही। मराठी भाषा में तो 'नॉवेल' का नाम ही 'कादम्बरी' गखा गया। इन उपन्यासो मे दो बाते स्पष्ट है—'कथा' और 'काव्य'; इनका योग गद्य के माध्यम से व्यक्त होकर 'नॉवेल' के साथ चल पडा। 'सौ अजान और एक सुजान' उपन्यास में नगर-वर्णन, ऋतु-वर्णन, काल-वर्णन, स्थान-वर्णन और आचार-व्यवहार-वर्णन बडी कुशलता से किया गया है। कवि की कल्पना कभी प्राचीन साहित्य मे विचरण करने लगती है, कभी सामयिक जीवन में; कभी उसके सम्मुख आदर्श आता है, कभी यथार्थ; अतिरंजना और भावुकता उसकी दो सहेलियां हैं। भट्टजी की कवित्व-शक्ति ऐसे ही स्थलों पर देखने योग्य है। ग्यारहवे प्रस्ताव में 'हुमा बेगम' का वर्णन, पन्द्रहवे प्रस्ताव में 'वर्षा-वर्णन' और आठरहवें प्रस्ताव में कोतवाली का वर्णन देखने योग्य है। 'प्रस्तावो' के अलग शीर्षक नही हैं, परन्तु संस्कृत या हिन्दी के शीर्षोद्धरण अवश्य है। बीच-बीच में लेखक कभी-कभी पाठकों से बात कर जाता है। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक प्रस्ताव कथा को आगे बढ़ा ही दे। वस्तुतः उपन्यास-कला की दृष्टि से यह उपन्यास निर्दोष नहीं कहा जा सकता। परन्तु उपन्यास के शैशव-काल में साहित्यिकता का सिन्दूरी टीका धारण करने के कारण इस उपन्यास का कवित्व भी दोष-रूप में न ग्रहण करना चाहिए।

इस उपन्यास में देश-काल का समुचित प्रतिबिम्ब इसके नाम और कथानक से ही स्पष्ट है। उस युग में मतिलाल, मदनमोहन और ऋद्धिनाथ जैसे बहुत-से रईस थे और बसन्ता, नन्दू आदि अजान भी अनेक थे जो '.....आपस में मिले हुए..... (थे).....और यही पेशा इन लोगों का.....(था).....कि नई उमर वाले रईस लड़कों को फंसाया करें'[1]। इन लोगों का 'हमेशा से यही ढंग चला आया है'[2]। यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक[3] इनमें से यदि एक भी हो तो अनर्थ कर सकता है; जब चारों मिल जायँगे तो क्या बनेगा—इसकी कल्पना भी कठिन है। १९वीं शताब्दी के उपन्यासकारों ने इसी अनर्थ का चित्रण किया है—टेकचन्द ठाकुर ने 'आलालेर घरेर दुलाल' में, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'एक कहानी, कुछ आपबीती कुछ जगबीती' में,

१. पृ० १२४
२. वही
३. दे० चौथा प्रस्ताव।

श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' में, बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान और एक सुजान' में, और किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो विशेषत: 'रंगमहल में हलाहल'[1] में। इस शाश्वत सत्य के अतिरिक्त इस उपन्यास में सामयिक संकेत भी उपलब्ध होते हैं उनमें से मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(क) सरकारी फौज में बैसवारे के सिपाहियो का दर्जा अव्वल समझा जाता है। (पृ० ४)

(ख) आपस की नाइत्तिफाकी के बीज, दूसरे की तरक्की पर जलने ने ही हिन्दूस्तान को मुद्दत से कबाब कर रक्खा है। (पृ० १७)

(ग) ब्राह्मण ही, जो हिन्दू जाति का सिरा और हिन्दुस्तान के सब कुछ हैं, इस लक्षण के हुए, तो औरो की कौन कहे। (पृ० १७)

(घ) सेठ की दौलत पर गीध के तमान ताक लगाये बैठे हुए...खुशामदी चुटकी बजाने वाले मुफ्तखोरो की बन पड़ी। (पृ० १८)

(ङ) जो अनन्तपुर सेठ जी सरीखे विद्यारसिक...के समय...काशी का नमूना बना हुआ था, वही अब भांड-भगतिए, कत्थक-कलावंतो के भर जाने जाने से लखनऊ और दिल्ली की अनुहार करने लगा। (पृ० १६)
जो अनन्तपुर काशी और मथुरा का एक उदाहरण था वह इन बाबुओं के जमाने मे दिल्ली और लखनऊ का एक नमूना बन गया। (पृ० ६०)

(च) साहब लोगो के पदाघात का रसिक पखाकुली अपने प्रभु के पाद-पद्म को मानो बारंबार झुकझुक प्रणाम करता-सा ऊघ रहा है। (पृ० २७)

(छ) पुरोहिती कर्म से जीने वाले सौ-पचास इकट्ठे किए जायँ तो बिरले एक-दो उनमें ऐसे निकलेगे जो आवारगी, उजड्डपन और छिछोरेपन से खाली होंगे (पृ० २८)

(ज) पानी चार बार छान कर पीता था दूसरे की थाती समूची की समूची निगल जाता था। (पृ० ७५)

(झ) अदालत तो रुपया की है। (पृ० १०६)
बड़े-बड़े बैरिष्टर और वकील जो हजारो एक दिन की बहस का मुअ-विकल से पुजाय बेचारे को उलटे छुरा मूड़ अपना मतलब गांठते हैं। (पृ० ११६)
कानून की बारीकियां ही बेईमानी और फरेब लोगों को सिखा रही हैं। अग्रेजी राज्य में अदालत और कानूनों की पेचीदगी इसीलिए है कि जाल रचे जायँ। (पृ० १२५)

'सौ अजान और एक सुजान' उपन्यास के मुख-पृष्ठ पर लेखक ने संस्कृत का जो पद्य उद्धृत किया है उसका अर्थ है कि हे जीव तू शीघ्र ही दुष्टों की संगति छोड़

१. 'रंगमहल मे हलाहल वा सुल्ताना रजिया बेगम' उपन्यास के मुख-पृष्ठ पर यह कथन सिद्धांत-रूप से अंकित है।

और सत्संग को प्राप्त कर। पहिले प्रस्ताव का शीर्षोद्धरण भी यही बतलाता है कि खोटे व्यक्ति की संगति कोयले के स्पर्श के समान है, यदि गरम होगा तो हाथ को जला देगा और यदि शीतल होगा तो हाथ को काला कर देगा। जिन लोगो में अपना विवेक नहीं है वे दुर्बल पात्र हैं, उनका गुण सगति के अनुसार बदलता है। चन्दू और बसन्ता जिसका साथ रहे उपन्यास के नायक तत्काल वैसे ही बन जाते हैं। मन का स्वभाव जल के समान तरल एवं अधोगमन है, इसलिए 'सौ अजानो' का दुर्बल व्यक्ति पर प्रायः प्रभाव पड़ता रहता है। इस अधोगमन मे मोड लाने वाली दैवी आपत्तियां हैं, जो एक ओर तो दुर्बल मन को भयकम्पित करने मे अंकुश का काम करती हैं और दूसरी ओर सच्चे मित्र की पहिचान सिखा देती हैं। श्रीनिवासदास ने इसीलिए अपने उपन्यास का नाम 'परीक्षागुरु' रखा था। भट्टजी ने भी विपत्ति की अवतारणा ही नहीं की उन्नीसवें प्रस्ताव का शीर्षोद्धरण भी 'विपदि सहायको बन्धुः' रखा है। प्रसगतः इस उपन्यासका अन्त 'सत्यमेव जयति नानृतम्' मे हुआ है जिसकी परम्परा बाद के उपन्यासों में प्रेमचन्द तक चलती रही। तेईसवें प्रस्ताव मे उपसहार करते हुए लेखक ने इस उपन्यास के तीन उद्देश्य बतलाये हैं.—

(क) 'देखिये सौ अजान मे एक सुजान कैसा गुणकारी हुआ कि सब अजानों को फिर राह पर अंत को लाया ही.....।'

(ख) 'दूसरे, यह कि जो सुकृति है उनके सुकृत का फल अवश्यमेव औलाद पर आता है।'

(ग) 'आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़ आशा करते है सुजान बने; इस किस्से के अजानो को सुजान करने को चन्दू था आप लोगो को हमारा यह उपन्यास होगा।'

सुन्दर सरोजिनी

सन् १८९३ ई० में रामनगर (चम्पारन) राज्य के पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय ने 'सुन्दर सरोजिनी' नाम का एक रोचक उपन्यास लिखा, जो सन् १९०७ ई० में काशी से दूसरी बार मुद्रित हुआ। इस उपन्यास की साहित्यिकों एवं समाचार-पत्रों ने बडी प्रशंसा की। लेखक की अपनी दृष्टि में 'सुन्दर सरोजिनी' प्राकृतिक मनोहरता, प्रेम-मैत्री, और लका-भ्रमण का अत्यन्त रोचक संयोगान्तक उपन्यास' है; इसमे 'सती-धर्म' की जय 'आश्चर्य-रूप घटनाओं' अन्तराल में चित्रित की गई है। 'भारत जीवन' के अनुसार '.....इसमें कुशलचन्द्र की मित्रता, सरोजिनी का पातिव्रत-धर्म, उसके माता-पिता का वात्सल्य प्रेम, तथा कई एक आश्चर्ययुक्त घटनाओ का चित्र.....'[1] प्रस्तुत किया गया है। 'हिन्दी बगवासी' के अनुसार 'सरोजिनी' अपनी चाल-ढाल की हिन्दी मे पहिली ही पुस्तक है.....इसके प्रत्येक पृष्ठ से लेखक की विद्या बुद्धि और जानकारी का परिचय मिलता है'[2]। 'शुभ चिन्तक' ने इस उपन्यास को 'अत्युत्तम हिन्दी

१. भारत-जीवन, २ जून १८९३

२. हिन्दी बंगवासी, १९ जून १८९३

गद्य पद्य में'[1] लिखी हुई रचना माना है। 'हिन्दोस्थान' के मत में यह उपन्यास 'प्रेम-प्रीति-मित्रता, पातिव्रत-धर्म, ईश्वर-महिमा, और आश्चर्य-घटनावलियों के वर्णन से पूरित ऐसी सुन्दर रीति पर लिखा गया है कि जिसके पढने से चित्त को अधिक आनंद मिलता है'[2]। 'राजस्थान समाचार' ने लिखा है कि पं० देवीप्रसाद ने यह 'उपन्यास रच आर्य-भाषा के भंडार में वृद्धि की है'।[3]

इस उपन्यास की मुख्य कथा नायक 'सुन्दर' और नायिका 'सरोजिनी' के स्वप्न-दर्शन-जन्य सफल प्रेम की कहानी है। इसके साथ मैत्री-सम्बन्ध से उपनायक 'कुशल' और उपनायिका 'अबला' की कथा जुड़ी हुई है। नायक-नायिका के नाम पर, बंगाली लोक-कथा 'विद्या-सुन्दर' के समान ही, इस रचना का नाम 'सुन्दर-सरोजिनी' रख दिया गया है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है यह उपन्यास संयोगान्त है, स्वप्न में एक-दूसरे को देख कर नायक और नायिका के मन में जिस तुल्यानुराग का प्रारम्भ हुआ वह अनेक बाधाओं-विपत्तियों को झेल कर भी अन्त में सुखावसायी बना। कथा का कलेवर मध्ययुगीन लोककथाओं के समानान्तर है; लेखक 'सिंहलदीप पदमिनी रानी' की कथा से प्रभावित न हुआ हो, यह सिद्ध करना कठिन है। लेखक मिथिला-वासी है, इसलिए इस कथा के माध्यम से उसने यह प्रमाणित करने का भी प्रयत्न किया है कि 'बगाले के इतिहास' के लेखक ने विजयबाहु को बगाली बतलाया है पर यह भ्रम है, वे बिहारी थे···ये बाते महावंश' नामक सिंहल के इतिहास में लिखित हैं...सन् ईसवी से ५४३ वर्ष पूर्व विजय लकाविजयी हुए'[4]।

भारतवर्ष के बिहार प्रदेश मे सुन्दर का जन्म एक वैश्य परिवार मे हुआ था। एक दिन सुन्दर ने स्वप्न में देखा कि समीप ही 'एक बालवनिता खडी है जिसके शरीर का रंग काकेशियन स्त्री का सा है'[5]। स्वप्न देख कर वह जग गया, परन्तु उस प्रियतमा के प्रेम मे वह व्याकुल रहने लगा। अर्ध विक्षिप्त अवस्था में उसने एक अंग्रेज के पास उसी युवती का एक चित्र देखा, बहुत पूछने पर अंग्रेज ने बतलाया कि'···इटना कहने सेकटा कि अमरा एक लेडी डोस्ट ने सिलोन से भेजा हाय'[6]। अस्तु, यह निश्चय करके कि स्वप्न की सुन्दरी लका में रहती है, नायक अपने अभिन्न मित्र कुशल के पास कलकत्ते आया, और बहुत समझाने पर भी लंका के लिए जहाज पर चढ दिया। मार्ग में एक ठग-योगी ने सारा धन छीन कर उसे समुद्र मे डुबो दिया परन्तु नायक बह कर लका के किनारे लग गया. जहां सुखेन के वंशज वैद्य ने उसका उपचार किया और उसे स्वस्थ कर दिया। उधर सरोजिनी सेठ गगननाथ की एकमात्र सन्तान थी, उसके रूप की सारे देश

---

१. शुभचिन्तक, २ सितम्बर, १८८१
२. हिन्दोस्थान, १६ दिसम्बर, १८९३
३. राजस्थान समाचार, २१ दिसम्बर, १८९३
४. पृ० ६४-६५
५. पृ० ८
६. पृ० २१

में चर्चा थी। एक बार उसने सुन्दर नामक व्यक्ति को स्वप्न में देखा और उसे वरण कर लिया। उसने निश्चय किया कि 'जब सपने के महात्मा सचमुच मिल जायँगे और तिस पर भी हमारे विवाहोपयुक्त वैश्य कुल में होंगे, तब तो विवाह होगा'; उसे विश्वास था कि 'ऊषा के पति अनिरुद्ध सपने में ही मिल कर यथार्थ पति हुए विशेषतः इस लकापुरी मे तो और भी स्वप्न सत्य होता है'[1]। अन्त में 'सत्य प्रेम, ईश्वर भक्ति और धर्म्म-महिमा'[2] के प्रभाव से नायक-नायिका मिल गये और सुख से जीवन बिताने लग। इस मूलकथा के साथ 'सरोजिनी' की सखी 'अबला' और सुन्दर के मित्र 'कुशल' के विवाह का भी प्रसंग है। नायक के आगमन का समाचार पा कर अबला और सरोजिनी पालकी पर चढ़कर उससे मिलने गईं। मार्ग में डाका पड गया। इसमें इन महिलाओ ने बड़ी वीरता से काम लिया। सुन्दर का शत्रु ठग-योगी मारा गया। कुशलचन्द्र का अबला के साथ विवाह हो गया।

इस कथानक में कथा की प्रवृत्ति मुख्य हैं, सामाजिक चित्रण गौण। सारी घटनाएं किसी अव्यक्त संकेत पर नाचती हैं। स्वप्न पर विश्वास करके उसे प्रत्यक्ष में परणित करना विचित्र ही है। यद्यपि तिलिस्म, जासूसी, या ऐयारी द्वारा कुतूहल उत्पन्न करने की लेखक ने आवश्यकता नही समझी, फिर भी घटनाओ की योजना कम आश्चर्य-मयी नहीं। वस्तुतः मध्ययुगीन कथा पर कुछ आधुनिकता चढा कर लेखक उसमें सुधार करता है। तस्वीर के कारण अंग्रेज पात्र की योजना, जहाज पर चढते समय धर्म-संकट, पति मान लेने पर भी जाति पर जोर और बिहारी व्यापारियो का लंका जा कर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना—ये कथानक को आधुनिक रूप देने वाले सूत्र है। सब मिला-कर कथानक सरल एव प्राथमिक है, आधुनिक उपन्यास के लिए उसमे सभी उपकरण नहीं मिलते।

कथा में नायक और नायिका ही मुख्य हैं। नायक नितान्त प्रेमकथा जीवी होने के कारण आज की दृष्टि से निर्दोष नहीं है। उसकी एक ही विशेषता है—प्रेम, जिसकी प्राप्ति के लिए वह सब कुछ करता है। परन्तु प्रेम ही जीवन मे सब कुछ नही, यह जीवन का एक महत्वपूर्ण अग है, उसका पर्याय नहीं, प्रेम को जीवन की पूर्णता मानना जीवन को लुंज-पुंज कर देना है। वह भी विश्वप्रेम नही, केवल एक व्यक्ति के साथ प्रेम। स्वस्थ समाज का कोई भी युवक एक व्यक्ति को प्राप्त करने के लिए ही पृथ्वी और आकाश को एक नही कर बैठता, उसके सामने समाज-कल्याण के अनेक मार्ग सर्वदा खुले हुए हैं। नायिका नायक से अधिक गुणवती है। एक व्यक्ति को अपना सर्वस्व मानते हुए अपने निश्चय पर अडिग रहना सीता-सावित्री आदि देवियों का आदर्श गुण है। जिस समय का यह उपन्यास लिखा जा रहा है उस समय नारी के गुण की महिमा गाई जाती थी। सरोजिनी में यह गुण विपुल मात्रा में विद्यमान है। वह डाकुओं का सामना करके आत्मसम्मान की रक्षा भी करती है। अस्तु, नायिका अपने गुणो में नायक से

१. पृ० ४२
२. पृ० ५६

उज्जवल बन गई है। शेष पात्रों के चित्र अति सामान्य हैं। वस्तुतः चरित्र-चित्रण इस उपन्यास का उद्देश्य नहीं।

इस रचना में दो आधुनिकताएँ दृष्टिगत होती हैं—वर्णन तथा कुछ समस्याओं पर विचार। लेखक ने भूगोल और इतिहास का समुचित ज्ञान प्राप्त करके ही इस उपन्यास की रचना की थी। यह कहा जा चुका है कि इतिहास के भ्रम का निवारण भी इस उपन्यास की रचना का एक दूरारूढ़ उद्देश्य था। बिहार, बंगाल और लंका के वर्णन बड़े सूचनात्मक एवं भावनापूर्ण हैं। मुख्य सामाजिक समस्या विवाह की है। लेखक ने नायक-नायिका के आदर्श प्रेम का वर्णन करते हुए उसका आधुनिक कोर्टशिप से भेद किया है; 'पाठक भ्रम में न पडे कि ये आजकल के नये नायक-नायिका हैं और यहां कोर्टशिप का अवसर इन्होने पाया है'; क्योंकि कोर्टशिप प्रेम नही काम का प्रभाव है : 'जिस प्रकार तेज शराब के नशे में कोई हत्या करे तो उसका प्रेरक मुख्यतः मद्य ही समझा जाता है उसी प्रकार युवावस्था में महात्मा मदनदेव के अधिकार से जो प्रेम उपजता है वह यथार्थत. मैत्रीकृत नही है किन्तु कामकृत है'[1]। तर्क बडा हास्यास्पद है प्रत्यक्ष दर्शन मे काम का प्रभाव होता है जिसे कोर्टशिप कह सकते हैं और स्वप्न-दर्शन में प्रेम होता है जो काम के प्रभाव से रहित है। लेखक ने उस विचार को स्वीकार नही किया जिसके अनुसार समुद्र पार करके विदेश जाने से धर्म भ्रष्ट हो जाता है, प्रत्युत विदेश मे विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने का भी उसने सुझाव दिया है; नायक की विदेश-यात्रा के अवसर पर उसके मित्र को आपत्ति होती है परन्तु आगे चल कर वह स्वयं विदेश जाता है और वहा सुन्दरी अबला से उसका विवाह भी होता है। एक बात अवश्य है कि लेखक जाति के बाहर विवाह का अनुमोदन नही करता। नायिका स्वप्न के प्रिय से विवाह की प्रतिज्ञा करती है परन्तु इस शर्त पर कि वे 'हमारे विवाहोपयुक्त वैश्य कुल मे होगे'।[2] इस प्रकार की विचारधारा लेखक को सुधारवादी सनातन धर्मावलम्बी ठहराती है। वह जन्म से जाति मानकर विवाहादि के लिए उसे आवश्यक समझता है, परन्तु विदेश के बन्धन नहीं मानता। कोर्टशिप का तो उस समय के सभी गंभीर साहित्यिको ने विरोध किया था।

उस युग की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार लेखक ने राजनीति पर विचार नहीं किया परन्तु देश की आर्थिक दशा की उपेक्षा भी नही की। उसे अंग्रेजों की व्यापार-नीति और भारतीयो की दरिद्रता का ध्यान है। नील की खेती उस समय का महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न था। भारतीय मजदूर क्षुधातुर होकर विदेश में पेट पालने के लिए जाते थे। लेखक ने दोनों प्रश्नों की चर्चा की है। 'परिश्रम चाहे जो करें पर संसार भर के फल-भोगी अंगरेज ही है, भारतवर्ष के नील, चाय, रेल की आय की भी वही दशा है'। यह वाक्य सनसनी उत्पन्न करने वाला है, इसमें अंग्रेजों को ही नहीं समस्त पूंजीपति वर्ग को चेतावनी दी गई है। 'सिंहल' ही क्या 'मारिश', ट्रिनिडाड', 'जमेका', 'गाएना',[3] जहां-

---

१. पृ० ३६ ३. पृ० ६६
२. पृ० ४२

जहां देखिये क्षुधातुर दरिद्र भारती पहुँचे हैं, हमें यह दशा देख कर घोर शोक होता है।' इन्हीं वाक्यो में भावी उपन्यासों का उद्देश्य छिपा हुआ है।

शैली की दृष्टि से 'सुन्दर सरोजिनी' महत्त्वपूर्ण नही है; यह गद्य-पद्यमयी रचना है। ब्रजभाषा की स्वरचित कविताएँ इसमें आवश्यकता से अधिक है। कथोपकथन कम है। कहीं-कही वर्णन स्वाभाविक नही रहे। 'मन रूपी समुद्र में परस्पर प्रेमी पूर्णचन्द्र के दर्शन से किन-किन भावों की तरंगमालाएँ (लहरे) उठ रही हैं' जैसे काव्यमय वर्णन उपन्यास के लिए उपयुक्त नही है। कही दोहा, कही सवैया, कवित्त, वसन्ततिलका, रोला आदि केवल कवित्व-प्रदर्शन के लिए हैं। उपन्यास मे कुल ८७ पृष्ठ है जिनको सात परिच्छेदो में विभक्त कर दिया गया है, प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक भी है। कर्म-फल तथा मित्रता-प्रेम को इतिहास-भूगोल की झांकियो में दिखाना ही लेखक का अभीष्ट है, जिसमें वह सफल है। भाषा की दृष्टि से भी यह उपन्यास स्वच्छ है तथा वर्णन की दृष्टि से भी सराहनीय। पं० देवीप्रसाद ने इस उपन्यास के द्वारा समकालीन दलदल से ऊँचे उठने का प्रयत्न किया है और उसमें सफल भी हुए हैं। कला की दृष्टि से अधिक सराहनीय न होने पर भी यह रचना समग्र प्रभाव में प्रशंसनीय है।[1]

नव आन्दोलन के उपन्यास

यह ऊपर कहा जा चुका है कि उद्गम मे भिन्न होते हुए भी ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज का व्यावहारिक प्रभाव समाज पर एक-सा ही पड़ रहा था, फलतः इनके विरोध मे प्रतिक्रियावादियो ने 'सनातन धर्म' का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। हिन्दी क्षेत्र मे आर्यसमाज को एक ओर विधर्मियो से और दूसरी ओर स्वधर्मियो से लोहा लेना

१. नव-आन्दोलन के उपन्यासों से पूर्व दो उल्लेखनीय पुस्तकें और हैं—'नूतन चरित' तथा 'निस्सहाय हिन्दू'। श्री ब्रजरत्नदास के अनुसार सन् १८८१ में बा० राधाकृष्णदास ने 'एक उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' मौलिक लिखा यह दु:खान्त उपन्यास सन् १८८१ मे लिखा गया था पर नव वर्ष बाद प्रकाशित हुआ'। 'गोवध-निवारण इसका मूल विषय है, जिसके प्रतिपादन के लिए एक बहुत ही कमजोर कथा-सूत्र तैयार किया गया है। इसका अन्त बच्चों के खिलवाड-सा लगता है' (श्री विजयशकर मल्ल)। 'दो मित्र गोबध बन्द करने के लिए एक आन्दोलन करते हैं, उनका साथ एक मुसलमान सज्जन भी देते है। अन्य कट्टरपन्थी मुसलमान षड्यन्त्र करके इन लोगों को मार डालना चाहते हैं और अन्त में दोनों ही ओर के कुछ लोग मारे जाते हैं' (भारतेन्दु-युग, पृ० १३०)। रत्नचन्द ग्लीडर कृत 'नूतन चरित' (सन् १८८३) मे 'एक व्यक्ति ट्रेन में एक सुन्दरी को देखकर उस पर आसक्त हो जाता है और फिर उसे प्राप्त करने के प्रयत्न मे जो विघ्न उपस्थित होते हैं वे कथा का ढांचा तैयार कर देते है। बीच-बीच में अस्वाभाविक ढंग से नीति-वाक्य चिपका दिये गये हैं। अन्त में जो जैसा करता है वैसा फल पाता है और नायक-नायिका का विवाह सम्पन्न हो जाता है। इसमें नवाबों की विलासिता और भटियारिनों की लीलाएं विस्तार से वर्णित हैं। वैसे उपन्यास मनोरंजक है, पर आधुनिक उपन्यास के यथार्थोन्मुख स्वभाव का परिचय इससे नहीं मिलता' (आलोचना, उपन्यास विशेषांक, उदयकाल : प्रेमचन्द के आगमन तक, पृ० ६९)। इन पुस्तकों को आधुनिक उपन्यास की विकास परम्परा में स्थान मिलना कठिन है।

पडा। किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओ से जिन उपन्यासो का सूत्रपात होता है उनमें रूढि और सुधार का ही संघर्ष चित्रित मिलता है। आर्यसमाज की एक निश्चित नीति थी, उससे सहमत न होने वाले भी उसके भिन्न-भिन्न सिद्धान्त स्वीकार करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और राधाचरण गोस्वामी सनातन धर्म के अनुयायी थे, परन्तु उन्होने स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तावित सभी सुधारो को स्वीकार किया है; भारतेन्दु ने स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धा भी प्रदर्शित की है और उनके सत्कार्य मे रचनात्मक सहयोग भी दिया है। प० प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर के ब्राह्मणो को उनकी हठधर्मिता के लिए खूब लताडा है। प० सुधाकर द्विवेदी 'जन्म से वर्ण' नही मानते। प० किशोरीलाल गोस्वामी ने शुद्धि का समर्थन किया है। श्री रामरामजीदास वैश्य विदेश यात्रा मे पाप नहीं समझते। श्री मन्नन द्विवेदी अनमेल विवाह को मिटा देना चाहते है। श्री राधाचरण गोस्वामी ने लिखा है कि आर्यसमाज के देशोन्नति करने मे किसी को सन्देह हो, तो वह पशु है[1]। भारतेन्दु बाबू की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' पर सम्पादको की नामावली मे स्वामी दयानन्द का नाम भी था। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'स्वर्ग में महासभा का अधिवेशन' में भारतेन्दु ने परमेश्वर द्वारा जो सिलेक्ट कमेटी[2] बनवाई है उसकी रिपोर्ट मे वे सभी सामाजिक दोष आ गये है जो सुधारको का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे। सक्षेप में वे निम्नलिखित हैं.—

(क) स्त्रिया 'जन्म भर सुख नही भोगने पाती' 'लाखों गर्भ नाश होते और लाखो की बालहत्या हो जाती है'।

(ख) 'जन्मपत्री की विधि के अनुग्रह से जब तक स्त्री-पुरुष जिएँ, एक तीरघाट एक मीरघाट रहे, बीच मे इस वैमनस्य और असन्तोष के कारण स्त्री व्यभिचारिणी पुरुष विषयी हो जायें, परस्पर नित्य कलह हो, शान्ति स्वप्न मे भी न मिले, वश न चले।

(ग) 'विधवा गर्भ गिराये···पर विधवा का विधिपूर्वक विवाह न हो।'

(घ) 'सवर्ण पात्र न मिलने मे कन्या को वर मूर्ख, अन्धा वरच, नपुसक मिले तथा वर को काली कन्या मिले।'

(ङ) 'कोई भी दुष्कर्म किया तो छिपके क्यो नही' किया, इसी अपराध पर हजारो मनुष्य आर्यपक्ति मे हर साल छूटते है।

(च) 'मुसलमानी पीर, पैगम्बर, औलिया, शहीद, वीर, ताजिया, गाजीमियां जिन्होने बडी-बडी मूर्त्ति तोडकर और तीर्थ पारकर आर्यधर्म विध्वंस किया, उनको मानने और पूजने लग गये।'

इन सुधारो में से भी कुछ तो कट्टर सनातनियो ने स्वीकार किये परन्तु अधिकांश छोड़ दिये। मुसलमान और ईसाइयों की पोपलीला का सबने खडन किया है परन्तु

१. भारतेन्दु-युग, पृ० १०५
२. वही, पृ० १०३

पुराणपंथियों की पोल को कट्टरपंथी श्रद्धा से ही देखते थे। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने 'सनातन' समाज से इतर को 'नव्य समाज' कह कर 'चपला' उपन्यास में उसकी दुर्गति कराई है। 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास में एक स्त्री-पात्र की दुर्दशा देखकर पं० लज्जाराम शर्मा को इसी बात का सन्तोष है कि पति-पत्नी 'दोनों की जाति भी एक न थी'। किशोरीलाल गोस्वामी और लज्जाराम शर्मा इस प्रवाह के सबसे सशक्त लेखक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में धर्म का यही रूप छिपा हुआ है। अद्यावधि सनातनधर्मी उपन्यासों के नेता के रूप में उनका अध्ययन भी नहीं हुआ। उनके समकालीन दूसरे लेखक बहुत सामान्य लगते हैं। अस्तु किशोरीलाल गोस्वामी और उनके सनातनधर्म का विवेचन अपेक्षित है, शेष उपन्यासकारो के विचार तुलना के लिए यथास्थान आएँगे।

किशोरीलाल गोस्वामी

यह सनातन-धर्म गोस्वामी जी में तीन रूपों में देखा जा सकता है। धर्म में आस्था, खडन का विरोध और सुधारों की स्वीकृति। धर्म मे आस्था से अभिप्राय इस अखण्ड विश्वास से है कि संसार में धर्म ही सार है, धर्म की रक्षा से और विनाश से व्यक्ति का विनाश हो जाता है, तथा धर्म ही ऐहिक एव पारलौकिक सुखो का एकमात्र साधन है। धर्म में आस्था के लिए पुराणो, स्मृतियो और नीति-ग्रन्थो के उद्धरण लेखक ने दिये हैं। साथ ही धर्म और पाप का संघर्ष दिखाकर धर्म की पाप पर विजय उनके ऐतिहासिक और सामाजिक दोनो प्रकार के उपन्यासो मे दृष्टिगत होती है। बार-बार आने वाले कतिपय सिद्धान्त-वाक्य निम्नलिखित है —

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।[1]
फल कर्मानुरूप हि, प्राप्नोत्यत्र नरः सदा।[2]
धर्माद् अर्थश्च कामश्च, मोक्षश्चैवेत्यसशयम्।
एतस्मान् मनुजव्याघ्र धर्म चर सुखी भव॥[3]
यथाकरोति कर्माणि तथैव फलमश्नुते।[4]
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः।[5]

धर्म में आस्था के लिए लेखक ने प्राचीन साहित्य की शिक्षा और विदेशी साहित्य के त्याग पर जोर दिया है; क्योकि जो लोग···सनातन धर्म के सूक्ष्म तत्व जानने की इच्छा करेंगे, सनातन आर्यों की महिमा पर विचार करेंगे, प्राचीन महर्षियों की विद्वत्ता और गवेषणा की खोज करेंगे और जीवन का सच्चा आनन्द लिया

---

१. नाश करने पर धर्म नाश करता है और रक्षा करने पर व्यक्ति की रक्षा।
२. निश्चय ही नर सदा कर्म के अनुरूप फल प्राप्त करता है।
३. धर्म से अर्थ, काम और निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए हे राजन् धर्म का आचरण करो और सुखी रहो।
४. मनुष्य जैसे कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है।
५. दुष्ट हिंसक अपने पाप द्वारा स्वयं ही मारा जाता है।

चाहेंगे तो उन्हें संसार की सभी बातों में हिन्दुओं को सबसे श्रेष्ठ और हिन्दू धर्म को सब से प्राचीन और प्रधान मानना पड़ेगा।.....'वे सनातन धर्म के उद्धार करने में तत्पर होकर अपने देशवालों की मूढता को दूर करें...'[1] इसलिए...'पाठक ! तुम अपनी विदेशीय पुस्तकों को भाड में डालो, हम लोगों के घर में निज की पुस्तकें इतनी हैं कि समस्त आयु के व्यतीत करने पर भी उनका अन्त होना दूरूह है'[2]।...वस्तुतः प्रेम का तत्व यदि जाना है तो केवल हिन्दुओ ने ही जाना है'...'कौन कहता है कि हिन्दू-धर्म प्राण-सम्मेलन की शिक्षा नहीं देता। एक-प्राणिता का उज्ज्वल दृष्टान्त यहां की अपेक्षा और कहा है ?'[3] लेखक ने सनातन धर्म का इतना पक्षपात किया है कि उसकी दृष्टि में धर्म साध्य बन गया है और साहित्य साधन; 'आजकल हिन्दी भाषा उन्नति व अवनति की ओर धावित है, बुद्धिमान् व्यक्ति स्वयं इस बात को विचार सकते हैं। हिन्दी की जो कुछ उन्नति हुई व होगी वह तभी, जब सनातन रीत्यानुसार सनातन-धर्ममय देवदेवियो की उन्नति होगी.....।'[4]

विद्यमान हिन्दू धर्म मे उस समय बहुत सी ऐसी बातें समाविष्ट हो गई थी जिनको निश्चयपूर्वक वैदिक नही भी कहा जा सकता; कदाचित् वे आवश्यकतानुसार हिन्दू-समाज-ने बाहर से लेकर पचा ली थी; और अज्ञानान्धकार के साथ-साथ उन का विकृत रूप पाखण्ड बन चुका था। आर्य-समाज ने उनका खण्डन किया, सनातन धर्म उनका समर्थक था। गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासो मे खण्डन का विरोध करके उनका समर्थन किया है। वे निम्नलिखित हैं :—

(१) फलित ज्योतिष, (२) श्राद्ध, (३) स्त्री शिक्षा, (४) बाल-विवाह, (५) पौराणिक धर्म।

फलित ज्योतिष की चर्चा एक से अधिक उपन्यासो में है। 'चपला' 'उपन्यास' की 'कामिनी' 'राक्षसी कन्या' है, 'जहा-जहा उसकी शादी जिन-जिन लडको के साथ पक्की की गई, वे लड़के मर-मर गये'[5]। 'लोगो ने समझ लिया कि फलित ज्योतिष और देशी चिकित्सा निरी धोके की टट्टी या ठगी का जाल-मात्र है, पर ऐसी बात नहीं है'[6]। लोग ज्योतिषियो को वंचक और धूर्त्त समझते हैं,' —इसमे जो कुछ अपराध है वह सारा उन्ही कुबडु उजडुो का ही है जो केवल 'शीघ्रबोध' और 'ज्योतिष-सार' के भरोसे ज्योतिषी बने डोलते और भोले-भाले लोगो को ठगते फिरते है'[7]। 'वास्तव

---

१. 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी', पृ० १०
२. वही, पृ० ३५
३. वही, पृ० ३५
४. वही, पृ० ३५
५. चौथा भाग पृ० ८
६. चौथा भाग, पृ० ६०
७. अंगूठी का नगीना, पृ० ८६

में 'गणित' और 'फलित ये ही दो ज्योतिष के प्रधान अंग हैं और सारे संसार में अब तक विज्ञान की जितनी उन्नति हुई है, उन सभों का निदान केवल यही गणित और फलित ही है—'।[1]

श्राद्ध के खण्डन का उत्तर लेखक ने बडे अमर्ष से दिया है : 'आजकल के कोई अत्युत्कट ग्रेजुएट कहेंगे—वह असभ्य हिन्दुओं के आद्य श्राद्ध करने का स्थान कल्पना-कृत होगा। पर उन अद्‌भुत मूर्त्तियों की शुष्क बातें कौन मान सकता है ? जो स्वयं आर्य-शोणित से उत्पन्न होकर भी अंग्रेज-वीर्योत्पन्न बनने का दम भरते हैं और जिनमें कुछ भी आर्य्यत्व का अभिमान नहीं रहा, उन कुल कुठारो का कहा कौन सुनेगा ?'[2] लेखक के मत में लडकियों को अधिक 'न तो पढना ही चाहिए और न ग्यारह वर्ष की उम्र के बाद फिर स्कूल में 'ही जाना चाहिए'—इस 'राय पर स्त्री-शिक्षा के घोर पक्षपाती अवश्य रुष्ट होंगे, परन्तु जो मर्मज्ञ पाठक स्त्री-शिशा की अयोग्यता का प्रत्यक्ष कुफल देख रहे हैं वे इस राय पर खड्ग न उठावेंगे'[3]। कम पढाने का एक कारण यह भी है कि सनातन धर्म के अनुसार रजस्वला लडकी एक छिन भर भी क्वारी रखने लायक नही'[4] होती।

अस्तु, व्यावहारिक जीवन में लेखक ने पौराणिक मत की सभी बातो का समर्थन किया है; तीर्थयात्रा, वर्णाश्रमप्रथा, हरिकीर्त्तन आदि के अनेक छोटे-मोटे प्रसंग हैं। स्त्री को उसने पूज्य दृष्टि से नही देखा; 'यद्यपि संसार में सती-साध्वी नारी भी उत्पन्न होती हैं पर उनकी सख्या इतनी थोडी होती है कि जो अंगुली के पर्वों पर गिन ली जा सकती है'[5]। होना यह चाहिए था कि वह बहुविवाह के दोष दिखा कर एक पत्नीव्रत का उपदेश देता, परन्तु 'पुनर्जन्म वा सौतियादाह' उपन्यास का किसी अन्य ही हास्यास्पद ढंग से उसने उपसंहार किया है : 'क्या हमारे हिन्दू-समाज के लिए भी कभी ऐसा दिन आवेगा कि जब सौतिनें सुशीला और सुन्दरी का सा बर्त्ताव करना सीखेगी और पुरुष सज्जनसिंह की भांति दक्षिण नायक का सा आचरण करेंगे।[6]

इतने पुराणपंथी होते हुए भी गोस्वामी जी ने कतिपय सुधारो को स्वीकार किया है। जिसमे से मुख्य है प्राचीन साहित्य एव विद्याओ की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध। 'जब तक इस देश के प्राचीन साहित्य का उद्धार न होगा और लोगों की रुचि —परिमार्जित रुचि—साहित्यानुशीलन में प्रवृत्त न होगी तब तक इस देश के समाज

---

१. माधवी माधव, पृ० २०६
२. त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी, पृ० ३४
३. माधवी-माधव, पृ० ७५
४. चपला, चौथा भाग, पृ० ३६
५. माधवी-माधव, पृ० ७०
६. पृ० ३८

का सुसंस्कार कदापि न होगा और समाज के सुन्दर संस्कार बिना देश का—रसातल-गत देश का—पुनरुद्धार होना कदापि संभव नही है'[1]। 'माधवी माधव' उपन्यास में उसने 'ज्योतिष वेदांग'[2] का एक कॉलेज खोलने की सिफारिस की है। दूसरा सुधार मुसलमानो को शुद्ध करना और योग्य मुसलमान बालिकाओं से विवाह कर लेना है; शुद्धि की चर्चा ऐतिहासिक उपन्यासो के प्रसंग मे है, शुद्धि-विवाह का उदाहरण इनका उपन्यास 'कनककुसुम' वा 'मस्तानी' है।

लेखक होली और दीपावली उत्साह से मनाना चाहता है। 'जो होली स्व-भावत. परम पवित्र है उसे आजकल के नये सभ्य अपवित्र कहते और अपनी मनमानी 'पवित्र होली' की गढन्त करके 'रिफार्मर' होने का गर्व दिखलाते है'[3] 'दिवाली के ऊपर 'जुआ' खेलने की बुरी और सत्यानासी 'रस्म' इस देश मे फैल रही है उसे रोकना चाहिए, परन्तु मेरे विचार से जब तक न्यायशीला गवर्नमेंट इस जुए के रोकने के लिए कोई कठोर नियम न बनावेगी तब तक इस देश के बेवकूफ अपनी बेवकूफी से कभी बाज़ न आवेगे'[4]।

यद्यपि उपन्यासकार को रिफार्मरो से चिढ है फिर भी वह स्त्री-सुधार को सबसे अधिक महत्व देता है; स्त्री को शिक्षा देने से कोई लाभ नही, हानिया प्रत्यक्ष हैं, परन्तु उसका स्वभाव और चरित्र अच्छा बनाना उचित है। अपने उत्तरकालीन उपन्यास मे लेखक ने लिखा है '.....अपने देश के भाइयों से इस बात के लिए सविनय अनुरोध करता हूं कि वे सब से पहले कन्याओ के सुधार करने का प्रयत्न करें, क्योकि यदि सुकन्या समय पाकर सुगृहिणी होगी तो वही एक दिन सुमाता भी होगी और उसका पुत्र सुपुत्र अवश्य ही होगा[5]।' इन सामाजिक उपन्यासो मे लेखक सनातन-धर्म को कट्टरतापूर्वक मानता हुआ भी सुधारवादी है और उसे जाति-धर्म के उत्थान का ध्यान रहा है, पाठको को बहलाना-मात्र उसका उद्देश्य नही है।

सामाजिक उपन्यासो की कला-विषयक एक विशेषता यह है कि उनमें से अधिकतर उपन्यासों की 'कहानी बिल्कुल सच्ची है और इसमे वर्णित पात्रो के नाम भी 'सही-सही है। केवल जिले और गांव के नाम कल्पित हैं'[6]। अंग्रेजी उपन्यासकार डेफो के समान सचाई की शपथ से उपन्यास अधिक आकर्षक एवं रोचक बन जाया करते है। दूसरी विशेषता यह है कि इनके कथानक अभिजात हिन्दू परिवार से आये हैं; ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य सम्पन्न परिवारो की सामान्य समस्याएं इनका विषय बनी हैं। ये उपन्यास युवावस्था के जीवन का चित्रण करते हैं, इसलिए इनमें स्त्री

१. वही
२. पृ० २०७
३. अंगूठी का नगीना, पृ० २४८
४. माधवी-माधव, पृ० १९६
५. माधवी-माधव, पृ० २२०
६. अंगूठी का नगीना, भूमिका

और पुरुष पात्रों की संख्या बराबर है, और स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध पर ही किसी न किसी रूप में प्रकाश डाला गया है। नायिकाएं सुन्दरी तथा गुणवता हैं, और पुरुष धार्मिक एव सरल। लेखक ने नायकों को भाग्यापेक्षी बनाकर उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं होने दिया, वे देवायत्त घटनाओं के अनुचर बन कर अपना 'पार्ट' निबाह रहे हैं। नायक-नायिका के अतिरिक्त या तो उपनायक-उपनायिका की योजना है, या खलनायक-खलनायिका की; अतः पूर्ति अथवा तुलना का भाव बीज रूप से इन पात्रों में विद्यमान है। सभी उपन्यास सुखान्त हैं, दम्पत्ति-जीवन प्रणय से प्रारम्भ होकर वात्सल्य तक चित्रित किया गया है। सामाजिक उपन्यासों की भाषा सरल परन्तु साहित्यिक है; स्थान-स्थान पर संस्कृत के उद्धरण भी आ गये हैं; वर्णन बहुत सुन्दर है; सामयिक विषयो का प्रतिपादन आकर्षक ढंग से किया गया है; तिलिस्म आदि का स्थान यहाँ धर्मोपदेश ने ले लिया है। दाम्पत्य-जीवन के सार शृंगार को जानकर लेखक ने नख-शिख तथा प्रणय लीला का वर्णन किया है; यह नख-शिख या तो लौकिक संस्कृति का प्रभाव माना जा सकता है, या रीतिकालीन परम्परा का; उदाहरणतः 'माधवी-माधव' उपन्यास में परिच्छेदो के शीर्षक तक कामशास्त्र से गृहीत है, जिनके द्वारा प्रेम का 'अंकुर' से लेकर 'पराग' तक का विकास दिखलाया गया है; 'अगूठी का नगीना' उपन्यास की नायका लक्ष्मी यद्यपि बालिका है, परन्तु उसकी आँखो का 'लड़ना', 'उलझना', 'सिकना', और 'लगना' शृंगारी परम्परा मे ही दिखलाया गया है।

किशोरीलाल गोस्वामी के सामाजिक उपन्यास, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्म की जय और पाप की पराजय दिखाने के लिए लिखे गये है। कर्म का फल मनुष्य को अवश्य मिलता है; कर्म अच्छे हुए तो विरोधी असफल हो जाते है; जिनकी कोई आशा शेष नही थी वे मिल जाते हैं ('त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी') कर्म बुरे हुए तो आदमी गल-गल कर बुरी तरह से पानी के लिए तड़प-तडप कर मर जाता है ('चपला')। जिस प्रकार अच्छे कर्म का फल मिलता है उसी प्रकार कुकर्म का भोग भी अनिवार्य है, वस्तुतः भोग के बिना कर्म पूरा नहीं होता। कुकर्म का भोग दो प्रकार का है —प्रायश्चित और दण्ड; प्रायश्चित स्वयं निर्धारित दण्ड का नाम है। उपन्यासकार क्षमा का पक्षपाती नहीं है, प्रत्युत अपराध रोकने के लिए कठोर दण्ड का विधान चाहता है। 'पाप कभी भी छिपाये से नही छिपता और वह कभी न कभी ससार म प्रकट हो ही जाता है·····पाप का प्रकट कर देना भी पाप से मुक्त होने का एक प्रायश्चित है।'[1] यदि प्रकट करके या स्वीकार करके पाप का प्रायश्चित न किया जाए तो पाप पापी को जलाता रहता है, और पापी का जीवन जल-भुन कर या चेहरा बिगड कर या शरीर गल-गल कर उसे यातनाएं देता रहता है। गोस्वामी जी अपने सामाजिक उपन्यासो में पाप का ऐसा ही भीषण परिणाम दिखा कर पाठक को धर्म में प्रवृत्त करना चाहते हैं— 'धर्मचर, सुखी भव'।

गोस्वामी जी के उपन्यासों की कतिपय स्वकीय विशेषताएँ भी हैं। अधिकतर

---

१. माधवी-माधव, प० १४४

उपन्यासों के नाम नायिका के नाम पर हैं; ये नाम सविकल्प हैं अर्थात् नाम दो-दो हैं, परन्तु दोनों 'वा' से जोड़कर साथ-साथ लिखे जाते हैं; जैसे लवगंलता वा आदर्शबाला', 'गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह', 'चपला वा नव्य समाज चित्र'; इन दो नामो मे से एक तो कथानक में वर्णित व्यक्ति (प्रायः नायिका) की संज्ञा है, जैसे लवंगलता, गुलबहार, और चपला; और दूसरा उस कथानक का वर्ण्य गुण वा उद्देश्य है, जैसे 'आदर्शबाला', 'आदर्श भ्रातृस्नेह', और 'नव्य समाज चित्र'। अधिकतर उपन्यासो के कई-कई भाग हैं, और प्रत्येक भाग में पूर्व-वर्णित वृत्त एव आगामी कथा का संकेत फुटनोट में यथास्थान प्रसगपूर्वक लिख दिया गया है, जिससे पाठक को स्वयं सोचने के लिए अधिक मानसिक व्यायाम न करना पड़े, साथ ही अन्य भागो को पढ़ने के लिए भी वह उत्सुक हो। इन फुटनोट सकेतो के अतिरिक्त कही-कही मूल में और कही-कही फुटनोट में सामयिक, सैद्धान्तिक, या प्रासगिक विषयो की चर्चा है। 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी (सन् १९०७) मे सनातन धर्म, अग्रेज़ी राज्य, श्राद्ध प्रथा, हिन्दी भाषा, 'लवंगलता वा आदर्शबाला' (सन् १९०४) में राजा शिवप्रसाद, सेठ अमीचंद आदि की चर्चा उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती है। प्रत्येक उपन्यास परिच्छेदो में विभक्त है, प्रत्येक परिच्छेद का एक विशेष शीर्षक वर्ण्य वस्तु को ध्यान मे रखकर दिया गया है। प्रायः सभी उपन्यासो के मुख पृष्ठ पर कोई (प्राय. सस्कृत की) सूक्ति लिखी हुई है, जो उपन्यास के उद्देश्य की सूचना देती है; प्रत्येक परिच्छेद का मस्तक भी सूक्ति से चर्चित है, जो उस परिच्छेद के उद्देश्य की सूचक है। उपन्यास का शरीर भी नीति-विषयक सूक्तियो से सुरभित है, जिनसे लेखक के विशाल अध्ययन की सूचना भी मिलती है और पाठकका मन भी उत्फुल्ल रहता है। गोस्वामी जी की साहित्यिक रुचि तो ऐसे ही स्थलों पर चमकती है, और इन्ही गुणों के कारण उनके उपन्यास साहित्यिक उपन्यास की कोटि में आते हैं। वे अपने पाठक से बहुत निकट थे, उसके मन को तुष्टि और रंजन के साथ-साथ आदर्श की ओर भी प्रेरित करते थे। उनके कुछ उपन्यासों के नामों में भी 'आदर्श' शब्द सम्मिलित है, जैसे 'लीलावती वा आदर्श सती', 'लवंगलता वा आदर्शबाला', 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी', 'गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह'; पाठक से वे अपने नायक-नायिकाओं के 'उदार चरित्र' को 'पूज्यदृष्टि से अवलोकन'[1] की आशा[2] रखते हैं। ये उपन्यास पाठक के मन पर सात्विक प्रभाव छोडते हैं, उसे भटका कर पथभ्रष्ट नही करते। इसीलिए उनका अन्त सुखमय है। जो लोग इन सामाजिक उपन्यासों का उद्देश्य नवयुवकों को पाप का आकर्षक चित्र दिखाकर उनको पथभ्रष्ट करना समझते हैं। वे लेखक के प्रति न्याय नहीं करते। लेखक ने समाज की कुत्सा, दुर्गन्ध एवं अभद्रता का वर्णन किया है, परन्तु वहां भी लेखक का उद्देश्य पाठक के मन को बहकाना नहीं सावधान करना है; 'असत काव्य

---

१. दे० 'लवंगलता वा आदर्शबाला' की भूमिका।

२. 'तारा' उपन्यास का समर्पण है:—"आप ही को समर्पित है 'तारा'।" यदि आप इसे अपनी छोटी बहिन की दृष्टि से न देखते हो तो, अपनी प्यारी सखी के भाव से भी ग्रहण करलें तो हम निश्चिन्त हो जायेंगे।

को छोड़ि, सबै कवितारस पागैं[1] का प्रचार करने वाले गोस्वामी जी नवयुवकों को भटका कर पथभ्रष्ट कर भी कैसे सकते थे। सबसे बदनाम, जिसको स्वयं लेखक ने भी 'वर्त्तमान समाज की घृणित अवस्था का ज्वलंत चित्र' कहा है, उपन्यास 'चपला' में नायिका चपला की मनस्विता ध्यान रखने योग्य है—*मैं अब अपने को उस योग्य बना ऊँगी कि जिससे मैं मरते दम तक इस निगोडी विपत्ति का सामना दृढ़ता के साथ कर सकूँ और अपने निर्मल शरीर मे किसी तरह का धब्बा न लगने दूँ।*[2]

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास

त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी

'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी' किशोरीलाल गोस्वामी के प्रारम्भिक उपन्यासो में से हैं। यह सन् १८९० ई० के 'बिहार-बन्धु' नामक पत्र मे एक वर्ष में आद्यन्त छापा गया, और सन् १९०७ ई० में काशी से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। नायिका का नाम 'त्रिवेणी' है, और उपन्यास मे प्रथम दृश्य भी त्रिवेणी का ही है। इस उपन्यास में ३ परिच्छेद और ४१ पृष्ठ है। कहानी मनोहरदास नामक एक धार्मिक व्यक्ति की है जो अपनी पत्नी से वियुक्त होकर कुछ समय बाद फिर मिल जाता है। प्रथम परिच्छेद का नाम 'हृदयोच्छ्वास' द्वितीय का 'मानसिक मोह', और तृतीय का 'प्रेम-परिणाम' है। आदि में, वियुक्त नायक के भाव दिखाये गये है; मध्य मे, उसकी पुरानी कहानी है; और अन्त में, मिलन है।

महानुभाव मनोहरदास सच्चे धर्मात्मा और प्रेमी व्यक्ति थे। उनका विवाह आगरा के लाला प्रेमदास की गुणवती पुत्री त्रिवेणी के साथ हुआ था। एक बार मनोहर-दास पत्नी-सहित यात्रा को निकले। काशी आते-आते व्याघ्रसर (बक्सर) के समीप उनकी नौका डूब गई, त्रिवेणी कही बह गई, मनोहर कही और जा पड़े। उधर प्रेमदास को मुसलमानो ने राजद्रोह के जाल मे फंसाया, परन्तु दुष्टो का षड्यत्र खुल गया और वे छूट गये। उनको त्रिवेणी मिल गई, परन्तु मनोहर नही मिला वह त्रिवेणी की खोज में ही घूमता रहा। तीन वर्ष बाद त्रिवेणी के किनारे अकस्मात् सब का मिलन हो गया।

इस उपन्यास में प्राथमिक अवस्था के कई चिह्न पाये जाते हैं। इसमे न सुग-ठित कथानक है, और न किसी भी चरित्र का चित्रण, कथोपकथन का आश्चर्यजनक अभाव है। नायक का अकेले बैठकर 'मन ही मन बडबडाना' और स्थान-स्थान पर कथाकार का स्वयं उपस्थित होकर उपदेश देने लगना, उपन्यास-कला के अविकास के परिणाम हैं। लम्बे-लम्बे वर्णन एक ओर कवि-हृदय का परिचय देते हैं दूसरी ओर साहित्यिक रुचि का भी। त्रिवेणी पर पहुँच कर 'त्रिवेणी' का स्मरण, और दूर से उसका गीत सुन कर वियोगाग्नि का सुलगना काव्य के लिए अधिक उपयोगी है। तीन परिच्छेद नाटक

---

१. दे० 'नाट्य संभव', पृ० ९८

२. 'चपला वा नव्य समाज चित्र', चौथा भाग, पहिला परिच्छेद, पृ० १२

के ३ दृश्य बनकर भावुक भाषा से दर्शकों को अधिक प्रभावित कर सकते थे। मिलन के बाद पर्दा गिरने से पूर्व पाठकों को अशीर्वाद देते हुए मानो लेखक ने भारत-वाक्य ही लिख दिया है। 'वह दीनदयालु ऐसे ही सब बिछुरे हुओं को मिलावे और सुदिन दे, यही प्रार्थना है।'

लेखक की भाषा संस्कृतनिष्ठ और कुत्रचित् पंडिताऊपन से युक्त है। न उर्दू के शब्द हैं और न अंग्रेजी के। सामान्य वार्तालाप में भी भाषा क्लिष्ट हो गई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों में 'ओष्ठागत', 'अनुसन्धान' शब्दों को देखा जा सकता है:—'तुम्हारे लिए हम लोगों के विशेष कर त्रिवेणी के प्राण ओष्ठागत थे। तीर्थयात्रा करते-करते हमने कितना तुम्हारा अनुसन्धान किया—।' (पृ० ३७)

प्रयागराज का लेखक ने जो वर्णन किया है उसको पढकर बाणकवि का लेखक पर प्रभाव लक्षित होता है। संस्कृत के विद्वान् के लिए यह आश्चर्यजनक नहीं कि अपनी शैली को उत्तम बनाने के लिए वह आधुनिक उपन्यास में भी 'कादम्बरी' का अनुकरण करे। कवि किशोरीलाल की वर्णन शैली के दो उदाहरण देखिए:—

(क) कोई कुलटा के कुटिल कटाक्ष से क्षत-विक्षत, कोई सरला के सहज स्वभाव से दग्ध, कोई मुग्धा के मनोहर भाव से विकल और कोई मध्या नायिका के मनोनीत विभाव से विभ्रान्त होकर कन्दर्प की ज्वाला से व्यर्थ अपने मन को जलाकर उभय-लोक को भस्मसात् कर रहे हैं। (पृ० ८)

(ख) कोई समय पाकर अँधेरे-उजेले इधर-उधर कुलकामिनियो मे नैन-मन-प्राण लगाये उन्मत्त होगे, कोई-कोई कुटिल कुलटाओं के सुसंसर्ग में अपने विपुल कुल को कलकित कर रहे होगे—और इधर वैतरिणी की तरिणी वार-वधू-जन अपने-अपने शिकार के संग बहार लेती होगी। (पृ० १२)

इस उपन्यास मे सबसे ध्यान आकृष्ट करने वाला गुण धर्मोपदेश है। इसकी रचना भी इसी उद्देश्य से हुई है कि पाठक के मन पर 'तस्मात् धर्म समाचरेत्' की स्थायी छाप बैठ जाय। सभी पात्र ईश्वर की आज्ञा को शिरोधार्य कर अपना कर्तव्य-पालन करते है जिससे कुछ दुःख आ पडने पर बदले मे दीर्घ-सुख उनको प्राप्त होता है। इस धर्म को लेखक ने 'आर्य्यधर्म', 'सनातन धर्म', 'हिन्दू धर्म', 'अचल धर्म' नामों से पुकारा है। दूसरी रचनाओं के देखने से पता लगता है कि लेखक का यह 'आर्य्य धर्म' वस्तुतः 'सनातन धर्म' ही है। प्रसंगतः वर्णाश्रम-प्रथा, हरिकीर्तन, और श्राद्ध का भी समर्थन है। इस उपन्यास में भारतीय साहित्य के अध्ययन और विदेशी साहित्य के त्याग का उपदेश है। 'अत्युत्कट ग्रेजुएट' लोगो पर लेखक की विशेष अप्रसन्नता मालूम पडती है, उनको 'आर्य्यशोणित से उत्पन्न होकर भी अंग्रेज-वीर्य्योत्पन्न बनने का दम भरते',[1] देखकर लेखक उनसे रुष्ट है लेखक का विश्वास है कि सनातन धर्म का

---

१. पृ० ३४

कभी विनाश नहीं हो सकता, कुसस्कारों के प्रवेश कर लेने पर भी धर्म की 'मौलिक प्रकृति अभी तक सर्वथा विशद और उन्नत है'[1]। धर्म के ही कारण उपन्यास का अन्त मंगलवाक्य और 'ओम् तत्सत्' में हुआ है। लेखक इस उपन्यास मे शृंगार की योजना नही कर सका, जिससे उसको भय है कि 'यह उपन्यास सर्वसाधारण को रुचिकर न होगा और आश्चर्य नहीं कि विशिष्ट जन भी इससे चिढ जाएँ'[2]। धर्म और शृङ्गार का यह पारस्परिक सम्बन्ध उस युग की सामान्य रुचि पर अच्छा प्रकाश डालता है। उपन्यास के अन्त में लेखक ने विश्वास दिलाया था कि यह सच्ची घटना का वर्णन है, काल्पनिक नही; 'अभी त्रिवेणी के सन्तान वर्तमान है, इसलिए इनका नाम न लिखा, आशा है कि पाठकगण क्षमा करेगे'।

लीलावती वा आदर्श सती

गोस्वामी किशोरीलाल के सामाजिक उपन्यासों में 'लीलावती वा आदर्शसती' का भी विशेष स्थान है। यह उपन्यास सन् १९०१ ई०[3] मे पहिली बार छपा था। सन् १९०७ में इसका दूसरा सस्करण निकला। इसमे ५४ परिच्छेद और २५४ पृष्ठ हैं। गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यास सामान्यत: दो वर्गों मे रखे जा सकते हैं; एक निवर्त्तक वर्ग जिसमे प्रधानता नव्य समाज के घृणित चित्र को दी गई है, दूसरा प्रवर्तक वर्ग जिसमें पात्रो का कष्टों को पारकर सुख-समृद्धि-भोग वर्णन का विषय है, यद्यपि दोनो वर्गो की रचनाओ में धर्म की पाप पर विजय होती है और कर्म के अनुसार सब लोग फल भोगते हैं, फिर भी निवर्त्तक वर्ग के उपन्यास घृणित दृश्यो को उपस्थित करके उनसे पाठक का मन फेरते हैं जबकि प्रवर्त्तक वर्ग के उपन्यास आदर्श जीवन का चित्रण करके पाठक का मन उधर प्रवृत्त करते है। जिन उपन्यासो के नामों मे 'आदर्श' शब्द जुडा हुआ है वे इसी पिछले प्रवर्तक वर्ग के है। 'लीलावती' उपन्यास इसी वर्ग का एक विशेष प्रतिनिधि है।

उपन्यास के मूल में लीलावती और कलावती नाम की दो स्त्रिया हैं जो प्रारम्भ मे तो सत्यनारायण की कथा का स्मरण दिलाती है परन्तु अन्त मे एक दूसरे के विपरीत सिद्ध होती है। लीलावती भारतीय महिला है, जिसका चरित्र स्वच्छ और जीवन पवित्र है, उसे समाज की ऊच-नीच का ध्यान है, प्रत्येक व्यक्ति के साथ उचित व्यवहार उसे आता है और वह अपनी और दूसरे की मर्यादा का पूरा निर्वाह करती है। ललित-किशोर के साथ उसका प्रेम उसी प्रकार का है जैसे सत्यवान् के साथ सावित्री का, उसमें वासना नही आत्मिक प्रेरणा है, इसलिए उसमे धैर्य एव विश्वास भी है। सतीत्व के कारण ही धर्म अनेक व्यक्तियो के रूप मे आकर लीलावती की सहायता करता है और अन्त में ललितकिशोर एव लीलावती सुख-समृद्धि का गृहस्थ जीवन बिताते हैं। इसके विपरीत लीलावती की दूर के सम्बन्ध की बहिन कलावती कुछ काल तक तो

१. पृ० ३२ २. पृ० ४०

३. 'अंगूठी का नगीना' उपन्यास की भूमिका, पृ० १

लीलावती के समान ही बनी रही, परन्तु नव्य जीवन की मृगतृष्णा ने उसके मनको भटका दिया, फलतः वह लम्पट बालकृष्ण के हाथ पड गई, उसने प्रेमी के साथ भाग कर सिविल मैरिज की। जब पति-पत्नी इलाहाबाद चले गये तो इन्होंने 'पूर्ण रीति से विलायती समाज की नकल करनी प्रारम्भ की', बालकृष्ण 'इधर-उधर की हड्डिया चाटा ही करता था', कलावती ने भी 'दूधिया के रंग-ढंग की तरफ अपनी नज़र फेरी'। कलावती एक नौकर के साथ भाग गई, फिर दूसरे आदमी के साथ, और फिर तीसरे के साथ। अन्त मे कुल-कलकिनी कलावती बदशकल भिखमंगिन बन गई; 'उसके सारे शरीर में कोढ़ फूट निकला था, हाथ-पैर की कई उंगलिया गल गई थीं, नाक भी एक रोग से गल गई और चेहरा बहुत ही भयावना बन गया था[1]। यमुना मे कूद कर उसके अपने पापी जीवन का अन्त किया।

नायिका लीलावती और खलनायिका कलावती के जीवन की तुलना करते हुए लेखक ने पाठको से गम्भीर अपील की है : 'अभी भी कुछ नही बिगडा है और अभी भी अपने समाज की रक्षा हो सकती है, यदि अंग्रेजी-बाज ज़रा बाज़ आवे और अपने समाज को उसी पुरानी रीति से सस्कृत करें, जो वैदिक और वर्त्तमान-काल के उपयुक्त हो'[2]। इस अपील मे 'वैदिक' और 'वर्त्तमान-काल के उपयुक्त' दो विशेषणो पर ध्यान देना आवश्यक है। जो कुछ वैदिक है वह ज्यो-का-त्यो ग्रहण करने योग्य आज नही भी हो सकता, उसमे देश काल-पात्र के अनुसार परिवर्त्तन तो करना ही होगा; परन्तु परिवर्त्तन इतना न हो कि मूल को आत्मसात् कर बैठे। आदर्श सर्वांशतः प्राचीन वैदिक ही होगा, परन्तु उसमें यत्किंचित् हेर-फेर हो सकता है। लीलावती और कलावती के जीवन से इस परिवर्त्तन का भी उदाहरण मिल जाता है। लीलावती का ललितकिशोर से प्रेम उस जाति का है जिसे 'लवंगलता' उपन्यास मे 'कोर्टशिप' कहा गया है; कोर्टशिप भी दो प्रकार की होती है—'विलायती'[3] और देशी। देशी कोर्टशिप सावित्री-सत्यवान्, ऊषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती का पूर्व-राग, इसमे चचलता नहीं स्थिरता है, वासना नहीं आत्मसमर्पण है। इसके विपरीत कलावती ने बालकृष्ण से जो कोर्टशिप की, वह पश्चिमी ढग की वासनात्मक है, उसमें धैर्य नही वासना का उबाल है, इसीलिए तो अपनी इच्छा का पति प्राप्त करके भी कलावती दूसरे-तीसरे व्यक्तियो के साथ भागती रही। ललितकिशोर के गुणों से आकृष्ट होकर भी लीलावती ने प्रेम-निवेदन नही किया, और प्रेम-निवेदन करके उस समय तक विवाह न किया जब तक कि उसके विधिपूर्वक सम्पन्न होने की सभावना न थी। परन्तु कलावती आकृष्ट हुई कि घुलमिलकर बात करने लगी, प्रेम की बात हुई कि साथ भाग चली, माला बदल कर विवाह हुआ कि इधर-उधर निगाह फेकने लगी। उपन्यासकार ने महिलाकुल की प्रमुख विशेषता सतीत्व मानी है जो भार-

१. पृ० २५१ २. पृ० १२३

३. 'भारतवर्ष के भले घर की क्वारी लड़कियों को इस तरह विलायती 'कोर्टशिप' करना अच्छा नहीं है, इसमे लोग नाम धरते है।' (लीलावती, ग्यारहवां परिच्छेद, पृ० ३९)

तीय संस्कृति के अनुकूल ही है, इस सतीत्व के स्थान पर 'अवैध स्वाधीनता और अयोग्य शिक्षा का प्रचार' वह समाज के लिए घातक समझता है।

उपन्यास में चरित्रों का विकास तो नही है, परन्तु लीलावती-ललितकिशोर और कलावती-बालकृष्ण दो दम्पत्तियों के तुलनात्मक चित्र उपस्थित कर 'नव्यसमाज' और सनातन समाज का महत्व आंकने का सफल प्रयत्न किया गया है। इस चित्रण के लिए जितना उलझा हुआ कथानक लेखक ने बनाया है उतने की आवश्यकता नहीं थी। प्रारम्भिक ३ परिच्छेदो तक तो नायिका का नाम भी नही है, चौथे मे केवल एक वाक्य है; 'इसी बीच में कालिन्दी को एक लड़की हुई जो इस समय केवल ग्यारह महीने की है, जिसका नाम लीलावती है,और यही हमारे उपन्यास की प्रधान नायिका है'। पचम परिच्छेद से ४०वें परिच्छेद तक मूल कथा है, ४१वें से ५४वे परिच्छेद तक का भाग लीलावती के परदादाओं का इतिहास है जो अनावश्यक है। १०८ वर्ष के सुजनकुमार की सारी कहानी कथानक को शिथिल बना देती है। लेखक का उद्देश्य कथा को 'पूर्ण' बनाना है, इसलिए आगरा निवासी परसराम के वश की ५ पीढी की कहानी लिखकर सारी घटनाओं का विवरण देकर अन्त में लीलावती को रानी और पुत्रवती बनाकर ही कलावती के जीवन का अन्त दिखाया गया है। सुजनकुमार का चमेली से असफल प्रेम एक अलग कथानक का आधार हो सकता था, इसी प्रकार राजा विजयकृष्ण और चन्द्रकला का सफल प्रेम भी इस कथानक को बोझिल बना देता है। कला की दृष्टि से तो ये प्रासगिक विवरण अनावश्यक एव व्यर्थ है, परन्तु लेखक की दृष्टि समाज मे सर्वत्र कर्म-फल दिखाने की रही है इसलिए मुख्य कथानक से जिन लोगो का भी सम्बन्ध हो सकता था उन सबके कर्मों का फल भी स्वतत्र रूप से लेखक ने दिखा दिया है।

कथानक मे ध्यान देने की एक विशेषता यह है कि इसमे घृणित चित्र एक भी नहीं है। किशोरीलाल के उपन्यासो मे दो प्रकार के घृणित चित्र पाये जाते हैं; वे जो तिलिस्म आदि में भयानक एवं आतंककारिणी घटनाओ का प्रदर्शन करे,और वे जो समाज के वासनात्मक जीवन को अकित करे। सामाजिक उपन्यास मे भी सती नारी को डाकुओं से उठवा मंगा कर, आजीवन कारावास में, भाति-भांति की यातनाएँ देने के वर्णन है, जैसे 'चपला' उपन्यास में; यहां भी लीलावती को चपला के समान भी कष्ट दिलवाये जा सकते थे, परन्तु उपन्यासकार ने वातावरण को शान्तिप्रिय बनाया है, शायद इसलिए कि इस घटना के समय अग्रेजी राज्य दृढ हो चुका था, और अव्यवस्था की सभावना बड़े-बड़े नगरों में नहीं रह गई थी। इस अव्यवस्थापूर्ण रोमांचकारी वातावरण के स्थान पर अदालत और मुकद्दमे का चित्र है, जिसको किसी सीमा तक प्रेमचन्द ने भी अपनाया है। दूसरे घृणित चित्र समाज के वासनात्मक जीवन के भी इस उपन्यास मे नही आये, लेखक बनारस की गलियों में से निकला अवश्य है परन्तु चन्द्रकला का उद्धार करने के लिए या निहालचन्द की दुर्दशा कराने के लिए ही, उनके पतन को अंकित करने के लिए नहीं। राजा विजयकृष्ण की परित्यक्ता पत्नी पेट की ज्वाला और कर्ज से परेशान होकर चकले में पहुँच जाती है, परन्तु उसकी दिव्य मूर्त्ति को देखकर जुआरी प्रमोदकुमार उसे बहिन

मानकर उसको अपनी समस्त पूंजी—सौ रुपये—दे देता है—एक ही घटना से दो व्यक्तियों का उद्धार बड़ा आश्चर्यजनक है। परन्तु इस घटना में 'सेवासदन' का संकेत छिपा हुआ है; सामाजिक मजबूरिया प्राय: आदमी को पतन के गर्त्त मे ढकेल देती हैं—वेश्या के स्वभाव में वासना और निर्लज्जता हो, ऐसी बात नही, परन्तु उसकी आखो के सामने आकर अंधकार भी तो उसे घृण्य जीवन के लिए बाध्य कर सकता है।

'लीलावती' उपन्यास में लेखक ने तीन स्थानो पर उपन्यास-कला के विषय में भी लिखा है। पृ० २० पर लीलावती और कलावती के व्यक्तित्व का भेद बतलाते हुए उपन्यासकार ने लिखा है कि कलावती 'शृगाररस के चुहचुहाते नाटक, उपन्यास और काव्य पढती' परन्तु लीलावती '·····नाटक उपन्यासो के बदले अकेले मे बैठ कर सूई का काम करती, या धर्म सम्बन्धी वा ज्ञान की पुस्तकें पढा करती थी'। इस सकेत से विदित होता है कि लेखक की दृष्टि मे भी उपन्यास पढना 'भले घर की' लडकियो के लिए उचित नही है, क्योकि वे विशेषत शृंगार रस के वासनात्मक चित्र होते थे। पृ० ४२ पर उपन्यासकार ने उपन्यास के पाठको के तीन वर्ग बनाये है—(१) जो लोग उपन्यास के पेचपाच को जानते हैं, (२) जो कानून से वाकिफ हैं, (३) केवल किस्से के ही शौकीन हैं; 'उपन्यास के पेचपाच' और 'कानून' के मिश्रण से 'लौकिक घटना' का निर्माण होता है। गोस्वामी जी के मत मे उपन्यास का कथानक दो प्रकार की घटनाओ से बनता है···अलौकिक और लौकिक; अलौकिक घटना दैवयोग, कर्मफल और कालचक्र की गति पर निर्भर है, लौकिक घटनाएँ समाज का व्यावहारिक जीवन है जो धर्म और विधि (कानून) पर निर्भर है। पृ० २३८ पर लेखक ने बतलाया है कि 'उपन्यास मे बहुतायत से नायक नायिकाओ के नख-शिख का वर्णन रहता है'। इस रीतिकालीन विशेषता का निर्वाह किशोरीलाल गोस्वामी ने स्वय भी अपने अधिकतर ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासो मे किया है।

राजकुमारी

'राजकुमारी' किशोरीलाल गोस्वामी का 'सामाजिक उपन्यास' है। यह सन् १९०२ ई० मे श्री सुदर्शन प्रेस से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास बहुत पसन्द किया गया; सन् १९१५ में श्रीमती कमलाबाई किवे ने इसका मराठी मे अनुवाद किया; सन् १९१६ मे इसका दूसरा सस्करण (हिन्दी) प्रकाशित हो गया। इस संस्करण में नायिका का सुन्दर चित्र भी आर्ट पेपर पर बना हुआ है। उपन्यास की कहानी मनोरंजक, भाषा परिष्कृत एव वर्णन मनोहर है। परिच्छेदो के शीर्षक हिन्दी में हैं, परन्तु प्रत्येक के साथ संस्कृत की एक सूक्ति भी जुड़ी हुई है। मुखपृष्ठ पर 'नीतिरत्नावली' का जो छन्द अंकित है उससे पता लगता है कि उपन्यास का उद्देश्य यह दिखाना है कि भगवान् की कृपा से ही सद्गुणवती साध्वी[1] भार्या की प्राप्ति होती है।

मुगेर के जमींदार राजा हीराचन्द बडे धर्मात्मा और प्रजापालक थे। दीवान

१. साध्वी भार्या गुणार्या जगति शृणु हरे त्वत्कृपाया विपाकः।

रामलोचन पर उनका बडा विश्वास था। रानी के कोई सन्तान नहीं थी, कुछ दिनों बाद उनके मरी बेटी हुई जिसको गिरिजा ने अपनी बहिन मालती के पुत्र मानिक से चुपचाप बदल लिया—मानिक का बाप पहिले मर चुका था और मां जन्मते ही मर गई थी। जब रानी को दूसरी सन्तान होने वाली थी एक महात्मा ने गिरिजा को बताया कि 'अब की बेर रानी को जो सन्तान होगी उसका मुख दस वर्ष तक राजा को न देखना चाहिए'। देवयोग से रानी के पुत्री जन्मी, उसी समय दीवान की पत्नी जमना ने मरे हुए पुत्र को जन्म दिया; गिरिजा ने चुपचाप वही पुत्री मरे पुत्र से बदल डाली। इस प्रकार मानिक राजा का पुत्र बन गया और सुकुमारी दीवान की पुत्री। दीवान का मन राजा से फिर गया, उसका सहायक हुसैनी था। राजा जब शिकार को गये तो उनको आजन्म कारावास में रखकर दीवान ने प्रजा मे घोषणा कर दी कि राजा को सिंह उठा ले गया। मानिक बालक था, इसलिए रियासत दीवान के हाथ मे आ गई। इतनी कथा पूर्वपीठिका के रूप में है।

कथानक का प्रारम्भ मानिक और सुकुमारी के प्रेम-व्यापार से होता है और परिपाक लाट साहब की सहायता से राजा के छुटकारे, राज्य-प्राप्ति और मानिक-सुकुमारी के विवाह से। हुसैनी मारा जाता है और रामलोचन आत्म-हत्या कर लेता है। बीच में एक ब्रह्मचारी और कलकत्ते के सेठ अमीचन्द की सहायता मे सारी कथा की कुजी है। रामलोचन का प्रायश्चित, और ग्लानिपूर्ण पत्र बडी भावुकता के प्रसंग हैं। 'ढाई-तीन-सौ वर्ष के योगी बाबा' का प्रकट होकर फिर अन्तर्धान होना जितना आश्चर्य-जनक है उतना ही राजा हीराचन्द का हिमालय की ओर चला जाना। मानिक और सुकुमारी ने 'बालेपन की लागी लगन' की गाठ[1] को बडे ही हौसले से खोला, और जगदीश्वर ने उन सभो के दिन बडे आनन्द से व्यतीत कराये।'[2]

इस उपन्यास को 'सामाजिक' कहने का यही अभिप्राय है कि लाट साहब, मुंगेर और कलकत्ता का नाम होते हुए भी स्पष्टतः किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या घटना से इस कथानक का कोई सम्बन्ध नही। कथा-वस्तु समाज की किसी समस्या या किसी अग का चित्रण नही करती, प्रत्युत अन्य उपन्यासो के समान इन दो सिद्धान्तो का प्रतिपादन करती है कि भाग्य के कारण अच्छे-बुरे दिन आते रहते है, और कर्म का फल मनुष्य को अवश्य मिलता है। पृष्ठभूमि की कथा में दो बार मरे बच्चों से दूसरे बच्चों का बदलना भी चतुराई की अपेक्षा सयोग पर अधिक आश्रित है। अन्त मे रहस्यपूर्ण भवन और पीपल के पेड की सुरंग से उसका रास्ता जितना अद्भुत है उतना ही अलौकिक भी, और 'वहा की सारी वस्तुएं ही किसी अद्भुत शक्ति द्वारा वहां ही जमीन के अन्दर'[3] समा कर पाठक के सामने जादू का सा तमाशा करती हैं। इस उपन्यास के मूल में, छिपा कर काम करने का विशेष महत्व है। गिरिजा दो बार राजकुल के

---

१. छत्तीसवां परिच्छेद, पृ० १७२ २. वही

३. चौतीसवां परिच्छेद, पृ० १६५

बच्चों को बदल देती है, और जीवन भर इस बात को कोई नहीं जानता। रामलोचन वर्षों तक राजा को कारावास में रखता है और किसी को कानों-कान खबर नहीं मिलती।

उपन्यास का नाम नायिका की वास्तविकता पर 'राजकुमारी' रखा हुआ है, फिर भी पाठक को यह ध्यान नहीं आता कि नायिका सुकुमारी ही राजकुमारी होगी। अन्त में जब रहस्य का उद्घाटन होता है तो कथा में एक नवीन रस उत्पन्न हो जाता है। अन्त के सारे परिच्छेद रहस्यों के ही तन्तु हैं। मुख्य कथा मानिक और सुकुमारी के भाग्य का अपूर्व खेल है। पहिले परिच्छेद में ही मानिक कहता है 'मैं निर्धन का बेटा हू और तुम धनी आदमी की बेटी हो।' और सुकुमारी उत्तर देती है : उनकी बातों से मैंने जाना कि तुम गरीब के लडके नहीं हो, तुम्हारे पिता बहुत बडे आदमी थे',[1] तो कुछ रहस्य की गन्ध आने लगती है; आगे चल कर पाठक सोचता है कि मानिक राजा का पुत्र होगा, परन्तु अन्त में सुकुमारी राजा की पुत्री सिद्ध होती है। 'लवगलता या आदर्शबाला' उपन्यास के समान यहा भी लेखक ने विवाह-पूर्व प्रेम का चित्रण किया है, और इस सीमा तक कि एक तेरह-चौदह वर्ष की बालिका और एक पन्द्रह-सोलह वर्ष का किशोर 'एक दूसरे का हाथ पकडे हुए' गगा तीर पर इधर-उधर टहलते है। यह कोर्टशिप का प्रभाव है जिसकी चर्चा ऊपर[2] हो चुकी है, परन्तु 'चपला' उपन्यास में जो लेखक इतनी सयानी लडकी के एक क्षण भी 'क्वारी'[3] रखने के पक्ष में नहीं है वह यहा इतनी स्वतन्त्रता दे दे—इसे सन्धियुगीन सस्कृति का ही प्रभाव कहा जाएगा।

नायिका की पदवी पर उपन्यास का नाम होने पर भी घटनाओं का नायक दुष्ट रामलोचन है। केवल उसी के चरित्र का विकास या परिवर्तन इस रचना में दिखाया गया है। वह राजा का कृपा-पात्र और हितैषी था, परन्तु नीच हुसैनी की कुसंगति से उसके मन में मैल आता गया और उसने नमकहरामी करके राजा के साथ बुरा व्यवहार किया। उसकी पत्नी की तुलना लेखक ने रावण की भार्या मन्दोदरी से की है। हुसैनी की मृत्यु के बाद शायद रामलोचन बदलता परन्तु जो पाप उसने किये उनको छिपाने के लिए वह और भी कठोर होता गया। अन्त मे उसके पाप उसको खा बैठे और चारों ओर अन्धकार देखकर रामलोचन ने प्रायश्चित किया और ग्लानिवश आत्म-हत्या कर ली। उसका पतन बड़ा मनोवैज्ञानिक है।कुसगति और स्वर्णावसर किस को नहीं गिरा देते। आत्मा से डर तो उसको होगा जिसकी आत्मा में बल हो, अन्यथा अधिकतर लोग राजभय से पाप नहीं करते और कुछ लोग समाज-भय से भी पाप से दूर रहना चाहते हैं। जब राजा अपनी क्रिया-शक्ति सचिव को सौप देगा तो सचिव को किसी के मन्त्रित्व की आवश्यकता होगी, और उसका मन्त्र अच्छा नहीं भी हो सकता।

---

१. पहला परिच्छेद, पृ० ५ २. दे० पृ० १७१

३. चौथा भाग, पृ० ३६

'राजकुमारी' उपन्यास की कुछ विशेषताएं हैं जिनके कारण यह लोकप्रिय बना। इनमें से मुख्य यह है कि इसकी भाषा बहुत ही परिष्कृत एवं परिनिष्ठित है, उर्दू का उस पर प्रभाव नहीं है, बल्कि पात्रों के सामाजिक स्तर के अनुसार भाषा का स्तर कुछ बदल-सा जाता है। दूसरी विशेषता यह है कि आदि से अन्त तक कहीं भी दुर्गुण का वर्णन खुलकर नही किया गया, फलतः पाठक के ऊपर इस रचना से कोई बुरा प्रभाव नही पड़ सकता। तीसरी यह कि यह वस्तुतः सुखान्त है; रामलोचन की आत्महत्या और जमुना का सती होना—इतना ही दुःख का चिन्ह है, परन्तु यह भी व्यर्थ हो जाता है क्योकि नायिका उनकी पुत्री नही है, इसलिए उनकी मृत्यु पर दुःखी होने वाला उपन्यास-भर मे कोई पात्र नही मिलता। पूर्वपीठिका की कष्टमयी स्थिति में एक निश्चय एवं महान् सुधार करके यह उपन्यास पाठक के मन मे सुख की वृद्धि करता है। चौथी, इस उपन्यास मे तिलिस्म या ऐयारी के भयंकर दृश्य नही के बराबर हैं, रहस्यमय भवन का दृश्य पीडा देने वाला नही है। पाचवीं, इस उपन्यास का कथानक सुलझा हुआ है, केवल एक कथा, कोई प्रासंगिक कथा नही, कोई विशेष प्रसग अपेक्षित नही। अस्तु, जो किशोरीलाल 'लखनऊ की कब्र' जैसा रोमांचकारी, और 'चपला' जैसा घृणित दृश्यों से भरा हुआ उपन्यास लिख सकते थे उनके हाथो से 'राजकुमारी' जैसे साफ-सुथरे उपन्यास की रचना उनकी अपूर्व साहित्यिक प्रतिभा की द्योतक है।

चपला वा नव्य समाज चित्र

गोस्वामी किशोरीलाल के सामाजिक उपन्यासो मे सबसे मुख्य स्थान 'चपला वा नव्य-समाज-चित्र' को दिया जाता है। यह उपन्यास सन् १९०३ मे चार भागो में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने स्वय भी इस उपन्यास को 'वर्तमान समाज की घृणित अवस्था का ज्वलंत चित्र' माना है; आलोचको का मत है कि 'चपला' का चपल आकर्षण युवक-हृदयो के लिए मंगलमय नही। उसमे उच्च वासनाए व्यक्त करने वाले दृश्यों की अपेक्षा निम्नकोटि की वासना प्रकाशित करने वाले दृश्य अधिक है और चटकीले'[1] भी। लेखक और आलोचक का मतैक्य होने पर यह देखना आवश्यक है कि इस प्रकार का चित्र अकित क्यो किया गया है। लेखक की दृष्टि मे 'नव्य समाज चित्र' और 'वर्त्तमान समाज की घृणित अवस्था का ज्वलत चित्र' एक ही बात है; अर्थात् वे 'नव्य समाज' और 'वर्त्तमान समाज' को एक समझते थे, इसकी अवस्था 'घृणित होने में 'ज्वलन्त' है। यह ऊपर कहा गया है कि समाज के दो भाग हैं—सनातन-समाज (या आर्यसमाज), और नव्य समाज; 'नव्य समाज' या 'आधुनिक समाज' (माडर्न सोसाइटी) वस्तुतः 'सनातन समाज' (ऑर्थोडोक्स सोसाइटी) का विपरीत है। लेखक को उन 'अत्युत्कट ग्रेजुएट' 'अद्भुत मूर्त्ति' 'कुल-कुठार' 'रिफार्मरो' से चिढ़

१. हिन्दी उपन्यास, पृ० ८१

है, 'जो स्वयं आर्य्यशोणित से उत्पन्न होकर भी अंग्रेज़-वीर्य्योत्पन्न बनने का दम भरते हैं'[1]; जिनमे कुछ भी आर्य्यत्व का अभिमान' शेष नहीं। नाम और भावना की दृष्टि से देखा जाए तो हिन्दी का यह 'नव्य समाज चित्र' बंगला का 'नव बाबु-विलास' (सन् १८२३) ही तो है; देशकाल के भेद से दोनों में अपनी संस्कृति से अपरिचित नई फैशन के बाबुओं के शिश्नोदर-पूर्त्ति-मय जीवन का घृणित वर्णन पाया जाता है। नई फैशन और पुरानी संस्कृति में अनेक भेद होते हुए भी भारतीय दृष्टि से मुख्य अन्तर यह है कि नई फैशन स्वछन्द विहार में विश्वास करती है जब कि पुरानी संस्कृति की धुरी सयम थी, प्रेमचन्द तक के हाथ से २५-३० वर्ष बाद नव्य समाज के यथार्थवादी चित्र स्त्री-पुरुष के स्वच्छन्द जीवन को प्रधानता देकर ही उतरे है, उदाहरण के लिए 'गोदान' मे 'मालनी' और 'मिस्टर खन्ना' को देखा जा सकता है। अस्तु, किशोरीलाल का विश्लेषण यह है कि प्राचीन-साहित्य से अपरिचय और नवीन फैशन के आकर्षक में पड कर जब व्यक्ति कर्म-फल से न डर कर धर्म के स्थान पर पाप की शरण जाता है तो जीवन भर कुकर्म करता और उनके फल को भोगता रहता है। कुकर्म का घृणित चित्र खीच कर अन्त मे उनके दारुण फल का भी भयावह वर्णन कर लेखक ने पाठक के मन को पाप से हटा कर धर्म मे प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है। अत यह निष्कर्ष गलत होगा कि ये विलासी चित्र नवयुवकों को फसाने के लिए है, उनके उद्धार के लिए नहीं। चौथे भाग का उपसहार करते हुए लेखक ने इस रचना का उद्देश्य कर्म-फल ही माना है —

(क) यह उपन्यास आदि से अन्त तक कैसा लिखा गया और इसमे वर्णित व्यक्ति-विशेषो का उनके कर्त्तव्यानुसार कैसा परिणाम दिखलाया गया, इस विषय के निर्णय का भार हम उपन्यास-प्रेमी विद्वानो के ऊपर ही छोड़ देते हैं। (चौथा भाग, पृ० ८६)

(ख) कौन कहता है कि ससार मे पापियो को उनके पापो के अनुसार जगदीश्वर दण्ड नही देता ? (वही, पृ० १०९)

अस्तु, इसमें सन्देह नही कि इस उपन्यास मे 'घृणित अवस्था का' चित्र—'ज्वलन्त चित्र'—है, लेखक तो इस विशेषता की सबसे प्रथम घोषणा कर रहा है। परन्तु देखना यह है कि उस घृणित अवस्था मे सक्रिय भाग लेने वालो का परिणाम क्या होता है, अगर परिणाम है अच्छा तो पाठक का मन प्रवृत होगा, यदि परिणाम बुरा है तो मन उससे घृणा करेगा। सिम्भु, चमेली, पत्ती और कमलकिशोर के जीवन का अन्त स्वयं उपन्यास के उद्देश्य का परिचय देगा।

'चपला' उपन्यास की कथा अवध के सम्पन्न परिवार की कहानी है। संस्कृति और धर्म से दूर रह कर धन-सम्पत्ति का स्वच्छन्दतापूर्वक भोग करने वाले मॉडर्न युवक किन-किन बुराइयों में फस कर अपने कुल का नाम डुबाते और अपने जीवन को कलं-

१. त्रिवेणी व सौभाग्य श्रेणी, पृ० ३४

कित करके किस प्रकार जीवित नरक भोगते हैं—यही लेखक ने एक यथार्थवादी कथा के माध्यम से दिखाया है। गोरखपुर के राजा राधिकाकिशोर के दो पुत्र थे, कमलकिशोर और ब्रजकिशोर; बड़ा पुत्र कमलकिशोर 'बदमाश' और छोटा ब्रजकिशोर नेक था। उधर बाबू हरप्रसाद के तीन भाई और तीन बहिनें थीं, बहिनों के नाम कामिनी चपला, और कादम्बिनी थे। उपन्यास के अन्त मे कादम्बिनी का ब्रजकिशोर के साथ विवाह हो जाता है। ब्रजकिशोर दोनों परिवारों को मिलाने वाला है, वह धार्मिक है, अपने अग्रज के विपरीत; उसका विवाह तीनो मे सबसे छोटी बहिन कादम्बिनी के साथ होता है। कमलकिशोर की दुष्टता भी दोनो परिवारो को साथ लाती है, वह 'खून, जाल, फरेब, डकैती, राहजनी आदि कई भयानक-भयानक[1] कुकर्म करने के साथ-साथ 'भले घर की स्त्रियो को खराब' करता रहता है; उसने चपला को अपने चगुल मे फंसाने के लिए तिलिस्मी मकान मे बंद रखा। कमलकिशोर की सहायता मुख्यत: पत्नी और सिम्भु नौकर करते है; पत्नी बडी खराब औरत है, वह गलत रास्ते पर चलती है और उससे हटना नही चाहती, उसने निश्चय किया कि उसके जीवन का उद्देश्य पाप और बुराई होगा। (लैट ईविल बी माई गुड); 'तमाम दुनिया को मैं यह बात दिखला दूंगी कि मुझ जैसी बदकार औरते भी आन आने पर कहा तक क्या-क्या कर गुजरती हैं'[2]। एक दिन आधी रात के समय हथियार लिए और अपने-अपने चेहरे पर नकाब डाले हुए सदर दरवाज़ा तोड़कर दस-बारह डाकू घर मे घुस पड़े और चपला के मुह मे कपडा ठूंस कर उसे उठा कर देखते-देखते गायब हो गये। चपला घनश्याम के साथ विवाह करना निश्चय कर चुकी थी। इसलिए दुष्ट कमलकिशोर ने घनश्याम को भी पकड मंगाया और उसे भी तिलिस्मी मकान मे बन्द कर रखा। चपला को अनेक प्रकार के लालच दिये गए; एक बनावटी कलाई उसके सामने लाई गई जिसके विषय मे बतलाया गया कि घनश्याम मर गया है, और यह कलाई उसी की है। अन्त में एक ओर तो कमल के पाप का घडा भर जाता है, 'लखनऊ के मजिस्ट्रेट, पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट, दस गोरे सर्जन और कोतवाल तथा सौ कान्स्टेबल' आकर उसे गिरफ्तार कर लेते है; दूसरी ओर चपला एक हाथ मे कटार और दूसरे मे बेहोशी की गोलियो का कटर लिए छतवाली कोठरी की राह से नीचे दालान मे पहुँच कर घनश्याम से मिल जाती है। कमलकिशोर और पत्नी आत्महत्या करते हैं; सिम्भु कोढ़ी हो जाता है।

उपन्यास की आधिकारिक कथा राजा राधिकाकिशोर के परिवार की कहानी है। उनके दो पुत्र कमलकिशोर और ब्रजकिशोर क्रमश: 'नव्यसमाज' और 'सनातन समाज' के प्रतिनिधि हैं। लेखक की दृष्टि में उन दोनो के गुणो की विषमता सर्वत्र रही है। कमलकिशोर का घृणित जीवन समाज का गन्दे सा गन्दा चित्र उपस्थित करता है, दूसरी ओर ब्रजकिशोर के आदर्श विचार विजयी होकर पाठक को शान्ति प्रदान करते हैं। कमलकिशोर बड़ा था, उसको सम्पत्ति की सारी सुविधाएं प्राप्त थीं; उसके चारों ओर

---

१. चौथा भाग, पृ० ७५ २. वही, पृ० २१

खुशामदी और स्वार्थी नीच लोग घिरे रहते थे; उसने मदनमोहन की पत्नी 'चमेली को खराब किया' जो अन्त मे 'डाकू शेरअली द्वारा बादी रंडी के हाथ बेची' गई; गाजीपुर में उसने कामिनी और सौदामिनी पर अत्याचार किये; अन्त मे चपला पर अत्याचार करने की पूरी कोशिश करके उसके पापी जीवन का अन्त हुआ। पुरुष पात्रो मे कमलकिशोर का जीवन सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है; उसका अपना कोई अलग व्यक्तित्व नही, वह एक वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि है। उसके चरित्र का विकास या ह्रास उपन्यास में नही दिखाया गया, वह बना-बनाया ही पाठक के सामने आता है और कुकर्म ही उसको खा जाते है। गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे भी इस प्रकार के नायक है; सलावत खां और सिराजुद्दौला से कमलकिशोर की तुलना हो सकती है; अन्तर केवल यह है कि ऐतिहासिक पात्र निज का व्यक्तित्व भी रखते है कमल केवल दुर्गुणो की ही मूर्त्ति है।

कमलकिशोर का जीवन मुख्य होने पर भी उपन्यास का नाम नायिका चपला के नाम पर है, क्योकि कमल के पापो का घडा चपला पर अत्याचार करने के प्रयत्न से ही भरता है और चपला का चरित्र इतना दृढ है कि लोभ या भय उसको अटल निश्चय से डिगा नही सकते। 'चपला' उपन्यास मे चपलता हो सकती है, परन्तु चपला नायिका में नही। वस्तुत बाबू हरप्रसाद की तीनो ही बहिने रूप मे सुन्दर और गुण मे स्थिरमति हैं। चपला के साथ जो कुछ दुर्घटना हुई उस पर तो बेचारी का वश ही क्या, परन्तु उस कठिन परिस्थिति मे चपला ने जितनी दृढता, साहस, बुद्धिमत्ता और आस्था का परिचय दिया उतना कम ही महिलाएं दिखा सकती हैं। इन गुणो में चपला जगन्माता सीता की ही अवतार है; उसका कारावास, प्रलोभन, यातना, प्रियतम की मृत्यु की झूठी सूचना आदि सब सीता के जीवन से ली गई है; अन्तर केवल यह है कि चपला का प्रेम पूर्वानुराग है पतिव्रत धर्म नही, और चपला स्वय तिलिस्म का रहस्य जानकर साहस दिखाती है सीता के समान निष्क्रिय नही रहती। इस प्रकार चपला में आधुनिकता है, जिसका लेखक ने स्वागत किया है। चपला की दो प्रतिज्ञाएं हैं; 'मैं अब निगोडो विपत्ति का सामना दृढता के साथ कर सकूं और अपने निर्मल शरीर में किसी तरह का भी धब्बा न लगने दूं'[1], और 'किसी बिगडे-दिल अमीर ने अपनी किसी वाहियात ख्वाहिश के रफा करने के लिए मुझे मेरे घर से उडा मगाया है, पर तब मेरा नाम चपला है कि जो मैं उसे उसके पाजीपन का पूरा मजा चखाऊ'[2]। उपन्यास में चपला के गुण उन स्त्रियों की तुलना में और भी स्पष्ट हो जाते हैं जिनको कमलकिशोर ने खराब किया था। गोस्वामी जी के अन्य स्त्री पात्रो मे चपला की तुलना केवल तारा से की जा सकती है; परन्तु चपला तारा से भी विकसित है, कठिनाइयों में उसका चरित्र विकसित होता है और वह वर्ग-प्रतिनिधिमात्र नही है, उसका व्यक्तित्व स्पष्ट और तुंग है।

१ चौथा भाग, पृ० १२ २. चौथा भाग, पृ० १३

गोस्वामी जी ने अपने सामाजिक उपन्यासों में चरित्रों का विकास नहीं दिखाया, पात्र गढ़े-गढ़ाये ही सामने आते हैं, आगे होने वाली घटनाओं का उनके चरित्र पर केवल तुला हुआ प्रभाव पडता है उथल-पुथल लाने वाला नहीं। किसी व्यक्ति की अच्छाई या बुराई का उपन्यास में कारण नहीं दिखाया गया, मानो स्वभाव जन्मजात होता है। सत् में असत् का अंश और असत् में सत् की झलक दिखाकर व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक निर्माण उस युग तक न होता था। कथाएँ बनी बनाई-सी उठा ली जाती हैं, उनको स्वयमागत नहीं कह सकते। आज उपन्यास की कला कथानक को बडी सावधानी से संवारती है, परन्तु उस समय इसका कर्त्तव्य पाठक का कुतूहल शान्त करना भर था। 'चपला' उपन्यास में ये सारी बाते प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं।

पुनर्जन्म वा सौतियादाह

सन् १९०७ ई० मे काशी से गोस्वामी किशोरीलाल का सामाजिक उपन्यास 'पुनर्जन्म वा सौतियादाह' छपा था। यह ९ परिच्छेद और ४२ पृष्ठो का छोटासा उपन्यास है। कथानक मे तीन ही पात्र है—नायक और दो नायिकाएँ, एक विवाहिता, दूसरी रक्षिता। इसकी समस्या नायक का दो स्त्रियो के प्रति प्रेम है, विवाहिता स्त्री के प्रति उसका प्रेम प्रणय है, अविवाहिता के प्रति स्नेह। कथानक के तीन भाग है—प्रथम मे कर्त्तव्यमूलक स्नेह, दूसरे में घरेलू संघर्ष, तीसरे में विवाह द्वारा समस्या का समाधान। सज्जनसिंह अयोध्या के प्रतिष्ठित जमीदार थे। उनकी पत्नी सुशीला अभिमानिनी, मुखरा और कुटिल स्वभाव वाली थी। सज्जनसिह का स्नेह सुन्दरी से था, वह शान्त, मधुभाषिणी और स्नेहमयी थी, उसके पिता अंग्रेजी सेना मे कर्नल थे, जो 'बलवे मे बागी होने के कारण कैद हुए और कैद मे उन्होने आत्महत्या की'। सुशीला का अपने पति के ऊपर अविश्वास उत्पन्न हुआ, जिसके कारण घर मे कलह रहने लगा। सुन्दरी सज्जनसिह को प्रेम करती थी, परन्तु घरेलू सुख मे काटा बनना उसे स्वकार्य न था, उसे विश्वास था कि 'यदि मेरा सच्चा प्रेम तुम पर होगा तो मैं किसी न किसी जन्म मे तुम्हारी दासी अवश्य होऊंगी'। एक दिन सुशीला ने उन दोनों की बाते सुनीं. फलत उसके 'चित्त का कुछ भाव बदल गया और वह सुन्दरी तथा सज्जनसिह मे जैसे कुव्यवहार का होना समझती थी वह भ्रम उसका जाता रहा'। उस दिन उसका 'पुनर्जन्म' हुआ, और हठ करके उसने सुन्दरी का विवाह सज्जनसिंह के साथ करा दिया, 'इस विवाह में सुशीला ने सुन्दरी को उसी भांति सम्प्रदान किया था, जिस प्रकार वासवदत्ता ने रत्नावली को'।

इस छोटे-से सामाजिक उपन्यास का महत्व दो कारणों से है। प्रथम तो सुशीला के स्वभाव में परिवर्त्तन बड़े मनोवैज्ञानिक ढग से चित्रित किया गया है। सौतियादाह सदा स्त्री के प्रति होता है और उसका मूल सन्देह है। सुशीला के मन में सन्देह हुआ, अतः तत्काल ही सुन्दरी के प्रति दाह भी उत्पन्न हो गया। परन्तु जब उसके सन्देह का निवारण हो गया, तो फिर दाह कैसा, वह सुन्दरी को अपने मार्ग का कांटा नहीं समझती; सुशीला, सुशीला ही रहेगी, सुन्दरी कभी सुशीला नहीं बन सकती। मूल में सुधार करते

हुए उसने हठ करके सुन्दरी का विवाह अपने पति से करा दिया; 'धर्मशास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह की व्यवस्था है, पर पुरुष असख्य विवाह कर सकते हैं'[1]। स्त्री के मन के सत्य का उपन्यासकार ने बडी सफलता से चित्रण किया है।

दूसरी विशेषता हिन्दू घरों की मुख्य समस्या का व्यावहारिक सुझाव है। जब एक विवाहित व्यक्ति किसी अविवाहित स्त्री से स्नेह मानने लगे तो पुरानी संस्कृति के अनुसार उसका परिपाक विवाह में ही होना चाहिए। नव्य समाज का पुरुष तो विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त अनेक अविवाहिताओं और परस्त्रियो से प्रेम कर सकता है, परन्तु सनातन समाज विवाह के बिना एक स्त्री और एक पुरुष में प्रेम नहीं चाहता। फिर भी समाज मे इस प्रकार के सम्बन्ध विकसित हो जाते हैं। हिन्दू-समाज इसका परिणाम विवाह ही मानता है। ऐसी ही विषम स्थितियो में पुरुष के लिए एक से अधिक विवाहों की व्यवस्था है। उपन्यासकार का भी यही सुझाव है। उसने प्राचीन इतिहास से क्षत्रियों के उदाहरण लेकर इस सुझाव का आपत्काल समर्थन किया है। 'सौतिने सुशीला और सुन्दरी का सा बर्ताव करे और पुरुष सज्जनसिंह की भांति दक्षिण नायक का सा आचरण करे'—यही उपन्यास का प्रतिपाद्य है।

उपन्यास का नाम बडा उपयुक्त है। लेखक के मत मे 'सौतियादाह' की अपेक्षा 'पुनर्जन्म' सराहनीय है; विकल्प है 'सौतियादाह' और 'पुनर्जन्म' मे, और 'पुनर्जन्म' व्यक्तियों के लिए भी अच्छा है और समाज के लिए भी। 'पुनर्जन्म' सुशीला और सुन्दरी दोनो का हुआ है, इसलिए सज्जनसिंह का भी हो गया। सुशीला के सन्देह का जब निवारण हुआ, तो वह बिल्कुल बदल गई, उसका कायाकल्प हो गया, वह सुशीला मर गई, यह दूसरी सुशीला है'[2]। सुन्दरी का तो सज्जनसिंह से 'किसी जन्म मे तुम्हारी दासी अवश्य'[3] बनने का प्रण था, जब उसका विवाह हुआ तो मानो उसका नया जन्म था। यह 'पुनर्जन्म' मन का बदल कर अनुकूल बन जाना है, जो आज के मनोवैज्ञानिक युग में भी आकर्षक लगता है।

इस उपन्यास की भाषा साहित्यिक है, बीच-बीच मे सस्कृत-साहित्य के भी उद्धरण हैं, धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र मात्र से ही नही। कथानक अत्यन्त सक्षिप्त और पात्र-सख्या कम है। लेखक की वर्णन मे, विशेषत. प्रकृति के वर्णन मे, विशेष रुचि दिखाई पडती है, ऋतुराज की गोद मे सारी घटनाएं होने से ऋतुराज का दो बार वर्णन आया है। बीच में गीत और कथोपकथन भी सुन्दर हैं। उपसहार करते हुए लेखक ने देश के प्राचीन साहित्य का उद्धार' करके 'समाज के सुसस्कार'[4] की अपील

---

१. राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी भारतीय नारी का यही आदर्श अंकित किया है :—
'वे सर्वस्व हमारे भी हैं
यही ध्यान में लाती है।' (पंचवटी)

२. पृ० २५ ३. पृ० २८
४. पृ० ३८

उपन्यास विस्तार पाकर कथा-प्रधान हो गया है।

इस उपन्यास में अन्य सामाजिक उपन्यासों के समान, पाप की पराजय और धर्म की जय ही दिखलाई गई है। 'पाप कभी भी छिपाए से नहीं छिपता और वह कभी न कभी संसार में प्रगट हो ही जाता है·····पाप का प्रगट कर देना भी पाप से मुक्त होने का एक प्रायश्चित है ·····'[1]। लेखक ने तीन प्रश्न और उठाये हैं—स्त्री-शिक्षा, समाज का सबसे बडा पाप, और मांसभक्षण। यह ऊपर कहा जा चुका है कि गोस्वामी जी स्त्रियों को स्कूलों में बड़ी अवस्था तक पढाने के पक्ष में नहीं हैं, माधवी का मिडिल पास, करते ही स्कूल से उठा लेना इसका उदाहरण है, १२ वर्ष बाद कन्या रजस्वला हो जाती है, उसका जाति-भाव स्फुट होने लगता है, फिर उसे पुरुषों के सम्पर्क से अलग रहना चाहिए, वह घर में माता-पिता की देख-रेख में रहे। 'अपने माता-पिता के आचरणों से जो कुछ सीखेगी'[2], उसी 'शील, भाव, आचरण और गुण किंवा अवगुण की आदर्श' वह बनेगी। इसलिए 'सबके पहिले कन्याओं के सुधार करने का प्रयत्न' करना उचित है, उनको पाठशाला में शिक्षा दिलाकर ग्रेजुएट बनाने से कोई लाभ नही। समाज के अंग स्त्री-पुरुष हैं, इसलिए उनके पारस्परिक स्वस्थ आचरण से समाज सुसस्कृत बनता है और अस्वस्थ आचरण से समाज में दोष आते हैं। अतः समाज का सबसे बडा दोष स्त्री-पुरुष का असंयत जीवन है—स्त्री का कुलटा और पुरुष का व्यभिचारी बनना। कुलटा स्त्री समाज का सबसे बड़ा कलंक है, वह कुल को डुबोकर समस्त समाज को उजाड देती है, 'देश और समाज को रसातल भेजने के हेतु ऐसी-ऐसी कुलटा स्त्रियां ही है न कि हरिहर सरीखे दुराचारी पुरुष, क्योंकि यदि स्त्री भली हो तो उसे कोई नारकी पुरुष नहीं बिगाड सकता'[3]। चपला, लीलावती आदि के चरित्रो में उपन्यास-लेखक ने यह दिखाया भी है कि यदि स्त्री दृढ है तो कोई दुष्ट पुरुष उस पर कलक का एक धब्बा भी नहीं लगा सकता। और स्त्री के लिए उत्तरदायी हैं उसके माता-पिता। 'माता-पिता या अभिभावकों को ही स्त्रियो के बिगडने का मूल कारण समझकर उन्ही को इस दोष का दोषी और इस अपराध का अपराधी समझना चाहिए'[4], यदि वे बालकपन से अपनी पुत्रियों के सामने अच्छे उदाहरण रखे तो उनका जीवन सुमार्ग पर चलकर विकसित हो। मांस भक्षण का खण्डन करने के लिए स्मार्त धर्म के अनुसार पूरी व्याख्या टीका-टिप्पणी के सहित की है, जो उपन्यास-कला की दृष्टि से एक दोष है। इस उपन्यास मे फलित ज्योतिष, स्वप्न-फल, नागरीलिपि के पक्ष में और दीपावली पर जुआ खेलने, मांस आदि सेवन करने के विरोध में लेखक ने अपना प्रासंगिक मत प्रकट किया है। प्रौढ़ोत्तर काल की रचना होने के कारण लेखक की विचारधारा जानने के लिए ये प्रसंग बडे महत्व के हैं और इसी हेतु इस उपन्यास का भी एक विशेष मूल्य है।

---

१. दूसरा भाग, पृ० १४४
२. वही, पृ० २१६
३. दूसरा भाग, पृ० २०१
४. वही, पृ० २१६

अंगूठी का नगीना

'अगूठी का नगीना' उपन्यास सन् १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ था। मुखपृष्ठ पर इसको 'सत्य-घटना-मूलक-गार्हस्थ्य उपन्यास' कहा गया है, परन्तु प्रथम पृष्ठ पर 'सामाजिक-उपन्यास'; 'गार्हस्थ्य उपन्यास' सामाजिक-पारिवारिक उपन्यास का एक उपभेद ही माना जा सकता है। भूमिका से विदित होता है कि 'इस उपन्यास की कहानी बिलकुल सच्ची है, और इसमें वर्णित पात्रो के नाम भी सही-सही हैं; केवल जिले और गांव के नाम कल्पित हैं; इस कहानी का समय सवत् १८९४ वैक्रम है'। सन् १९०१ में 'उपन्यास' मासिक पुस्तक के एक विशेष ग्राहक पधारे और अपने घराने की एक सच्ची घटना सुना कर गोस्वामी जी से उसके आधार पर एक उपन्यास लिखने का उन्होंने आग्रह किया। कुछ दिनो मे इसके ५ फार्म छप गये, परन्तु बीच मे कुछ रुकावट आ गई, फलत: १६-१७ वर्ष बाद ही यह उपन्यास-पुस्तकाकार छप सका। इस उपन्यास का नाम केवल एक ही है, लेखक के अन्य उपन्यासो के समान सविकल्पक नहीं। इसका कथानक बहुत सुगठित है, घटनाओ मे कोई प्राथमिक प्रवृत्ति नही मिलती, घटना और चरित्र दोनों का समान चित्रण है, एक भी चरित्र घृणित नही है, धर्म-पाप का संघर्ष न दिखाकर लेखक ने सयोग के सामान्य चमत्कार का चित्रण किया है।

मगलपुर ग्राम के जमीदार कन्दर्पमोहन का पुत्र मदनमोहन कथा का नायक है, और उसी ग्राम के स्व० प० कृष्णगोविन्द की कन्या लक्ष्मी नायिका। पडित जी की मृत्यु के बाद लक्ष्मी और उसकी माता कालिन्दी बडी गरीब हो गई, उनकी भूमि पर रामसरन पाडे ने, कुछ कर्ज दिखाकर, अधिकार कर लिया। इधर मदन, किशोर ही था कि उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई। एक दिन वर्षा में मदन ने लक्ष्मी के घर शरण ली और उसके घर की दशा से वह परिचित हुआ। लक्ष्मी के गुणों से आकृष्ट होकर उसने प्रतिज्ञा की कि वह लक्ष्मी से ही विवाह करेगा। रामसरन पाडे खलनायक है वह चाहता था कि कालिन्दी मर जाए तो वह लक्ष्मी को अपने घर में डाल ले। उसने कन्दर्पमोहन के कान भर कर उनको इस विवाह के विरोध मे कर दिया। मदन को विरह में सन्निपात हो गया, उसकी माता योगमाया और बहिन मालती कारण जानती थी परन्तु करतीं भी क्या? उधर मकान गिर जाने से रामसरन और उसकी पत्नी को बडी चोट पहुँची, वे मर गये, मरते समय रामसरन ने अपना पाप स्वीकार किया।

रामप्रकाश मिश्र मदन की दिवंगता पत्नी सरस्वती के पिता थे। वे कृष्ण-गोविन्द के अनन्य मित्र भी थे। जब ग्रामवासियो से तग आकर कालिन्दी और लक्ष्मी गंगा मे कूद पड़ी तो संयोगवश रामप्रकाश के आदमियो ने उनको बचाया। रामप्रकाश ने स्वप्न देखा कि कृष्णगोविन्द पिछले जन्म मे उनके अग्रज थे, वे सारी सम्पत्ति छोड़-कर सन्यासी हो गये थे, इसलिए रामप्रकाश इस जन्म में उनका ऋणी है। स्वप्न में सरस्वती ने कहा कि पिछले जन्म में लक्ष्मी और वह सौतिनें थी; और मदनमोहन उनके पति थे। रामप्रकाश के कोई सन्तान नही थी, ज्योतिषियों के कहने से उन्होंने लक्ष्मी को गोद ले लिया और उसका विवाह मदन से कर दिया। मदन तैयार न था,

परन्तु माता पिता की आज्ञा उसे माननी पड़ी। विवाह के बाद भेद खुल गया कि राम-प्रकाश की दत्तक पुत्री लक्ष्मी वास्तव में मदनमोहन की प्रेयसी लक्ष्मी[1] ही है। पूर्वजन्म और स्वप्न एवं ज्योतिष के प्रमाण से कन्दर्पमोहन भी इस विवाह से प्रसन्न थे।

उपन्यास का नायक मदनमोहन सच्चरित्र, आज्ञाकारी, दृढ़व्रत, स्वस्थ एवं सुन्दर है। प्रथम दर्शन से अंतिम मिलन तक उसका चरित्र उज्वल है। सयोगवश लक्ष्मी के घर पहुँच कर यद्यपि उसकी आंखे लक्ष्मी की आखों से फँस गई थी परन्तु दोनों ओर इतना सकोच है कि पाठक नायक-नायिका के शील की सराहना करता है। मदन ने कालिन्दी की सहायता उदारता-वश ही की थी। उसका प्रेम मानसिक सम्बन्ध है, वासना-जन्य नही। विरह मे सन्निपात का सूत्रपात मदन के चरित्र का एक विशिष्ट अंकुर है। इसके बाद उसके सामने एक विषम परिस्थिति आ गई; एक ओर एकनिष्ठ प्रेम जो प्रगट भी हो चुका है, दूसरी ओर पिता की आज्ञा। यह सघर्ष उसके चरित्र को और भी चमकाता है; 'मैंने अपनी इच्छा से यह विवाह नही किया है, केवल पिता की आज्ञा का पालन किया है'[2]। 'मेरा हृदय किसी दूसरी के पास है, इसलिए अब इस जिन्दगी में सिवाय उस सुन्दरी के, मैं किसी नारी का मुह कभी भी नही देखूंगा'[3]। उपन्यासकार ने इस सघर्ष को एक अलौकिक संयोग की सहायता से सुलझाया है, क्योकि यदि विवाहिता लक्ष्मी कोई और होती तो प्रेयसी लक्ष्मी के लिए पत्नी लक्ष्मी को ठुकराना मदन के चरित्र का दोष माना जाता। अस्तु, विद्यमान कथानक मे नायक का चरित्र उज्ज्वल है। अन्य उपन्यासो से भिन्न इस उपन्यास मे नायक के चरित्र का कथा के साथ-साथ कुछ विकास भी होता है।

लक्ष्मी उपन्यास की नायिका है। उसमें कुल-शील और रूप-सौन्दर्य दोनो का सुन्दर योग है। वैयाकरण एव दार्शनिक परन्तु धनापेक्षी पिता की यह पुत्री आदि से अन्त तक भारतीय बालिका है। इसका प्रेम पूर्व-जन्म का संस्कार-मात्र है। बादल उसको छेड़ने के लिए छींटे मारता और पवन उसकी साड़ी सरकाता था[4], परन्तु किसी मनुष्य ने उससे कभी आख नही मिलाई। पूर्व जन्म के पति मदनमोहन को पाकर उसका हृदय मचला परन्तु शील ने उसके मन को बाध लिया। जब दोनो ने विवाह का निश्चय किया तो मानो लक्ष्मी वाग्दत्ता पत्नी बन गई। मदन को सन्निपात हुआ तो लक्ष्मी

---

१. बंकिमचन्द्र के 'इन्दिरा' उपन्यास में वियुक्त नायक उपेन्द्र और नायिका एक दूसरे से परस्त्री और परपुरुष के रूप में मिलते हैं, परन्तु संयोगवश वे पति-पत्नी ही निकलते हैं। इसके विपरीत इस उपन्यास में अपनी प्रेयसी को भी इतर स्त्री (प्रेयसी से भिन्न) समझकर नायक उस की ओर आंख नहीं उठाता—अपनी विवाहिता को भी परस्त्री मानता है, क्योंकि यद्यपि उसने पिता की आज्ञा से विवाह कर लिया परन्तु उसने तो प्रेयसी को ही अपनी असली पत्नी मान रखा है।

२. पृ० १०४ ३. पृ० १०६

४. पृ० २

उसकी सेवा को प्रस्तुत हुई। परन्तु हताश होकर उसने गंगा को आत्मसमर्पण किया; यह आत्महत्या का प्रयत्न उसके मन के संघर्ष का फल है—मदन से प्रेम और समाज से संकोच दोनों की गुत्थी न सुलझ सकी क्योंकि लक्ष्मी भारतीय महिला है। संयोग ने लक्ष्मी के भाग्य को पलट दिया और उसके प्रेम एव शील दोनो की रक्षा हो सकी। लक्ष्मी के चरित्र का भी इस उपन्यास में विकास हुआ है।

मुख्य कथा और इन दो पात्रों के अतिरिक्त किसी को उपन्यास में कोई विशेष स्थान नही मिला। खल-नायक रामसरन पांडे संघर्ष को तूल देकर—मदन को सन्निपात-ग्रस्त और लक्ष्मी को समाज के हाथ में पटक कर—मर जाता है। लक्ष्मी के गंगा मे कूदने से विवाह तक की कथा में सामाजिक घटना कम है; अलौकिक स्वप्न, ज्योतिष और पूर्वजन्म के हाथ सयोग ही संघर्ष को सुलझाता है। विवाह के बाद का कथानक कथा को पूर्ण करने के लिए ही बढाया गया है। मालती-गुलाबचन्द्र, श्यामा-जवाहिर के सुख का वर्णन अनावश्यक है। श्यामा का जवाहिर के साथ विवाह से पूर्व ही मिल-जुल कर क्रीडा करना पाठक को खटकता है। मदन-लक्ष्मी विवाह से पूर्व जितने सयत मन से मिलते है वह उनकी विशेषता तभी मानी जाएगी जब कोई दूसरे प्रेमी (श्यामा-जवाहिर) उस दशा में सयत न रह सकें—यह दृष्टि नायक-नायिका को उठाने के साथ-साथ उपनायक उपनायिका को नीचे भी तो गिराती हैं। लेखक गृहस्थ के सुख को सामाजिक सुख की कुजी मानता है और गृहस्थ का सुख पति-पत्नी की पारस्परिक तुष्टि है—मानसिक भी और शारीरिक भी। इसीलिए उसकी सब नायिकाएँ गुणवती होने के साथ अनिन्द्य सुन्दरी भी है। चरित्रवती को कुरूपा और सुन्दरी को दुश्चरित्रा बनाकर तो उनकी तुलना नही हो सकती, विशेषता तो यह कि सुन्दरी होते हुए भी नायिका पूर्णत. शीलवती हो। अतः नायक-नायिका का सयोग-सुख रीतिकाल की परम्परा के अतिरिक्त लेखक के दृष्टिकोण के लिए भी आवश्यक बन गया है।

यह उपन्यास परिच्छेदो मे विभक्त है, प्रत्येक परिच्छेद संस्कृत के उद्धरण से सुरभित है। भाषा सस्कृत-निष्ठ और साहित्यिक है। कथोपकथन की अपेक्षा वर्णन अधिक मात्रा में है। प्रारम्भ करते हुए ही नायिका का इतना सुन्दर वर्णन है कि पाठक कथा को भूल जाता है। पृ० ८१ पर ब्रजभाषा की एक कविता भी रख दी है। शृगार का इस उपन्यास में सुन्दर एवं साहित्यिक सामावेश है। सयोग शृगार मे एक उर्दू शेर भी आ गया है। ननद-भौजाई, या 'सलहज-नन्दोऊ' के परिहास कुछ साहित्यिक नही रहे। ३६वें परिच्छेद को 'होली' शीर्षक देकर लेखक उसका समर्थन करने लग गया है 'यह होली कुछ नई नही, बल्कि जब से सृष्टि है तब से होली भी है, और यह होली वेदानुकूल पर्व है, इसका वर्णन गृह्य-सूत्रों में है'·····हमारे यहां उत्सवों की बहुतायत है और उनमें एक भी उत्सव मुहर्रम की तरह शोक का सूचक या उत्तादक नही है'··· 'खेद है कि आजकल के सभ्यताभिमानी अब साल भर में केवल एक दिन भी रंग न डलवाएगे, पिचकारी न मरवाएगे, अबीर न मलवाएगे और गुलाब न लगवाएंगे'·····'जो ली स्वभावत: परम पवित्र है, उसे आजकल के नए सभ्य अपवित्र कहते हैं और अपनी

मनमानी 'पवित्रहोली' की गढन्त करके 'रिफार्मर' होने का गर्व दिखलाते हैं'[1]। यह खीझ आर्यसमाजियों पर है।

विवाह के बाद जब लक्ष्मी अपने प्रियतम से मिली तो उसने उसको वह नगीना दिया[2] जिस पर मदनमोहन का नाम खुदा हुआ था और जो एक दिन हडबडाहट में लक्ष्मी के घर मदन की अंगूठी से गिर गया था। इसी नगीने को लक्ष्मी ने अपने जीवन की अमूल्य सम्पत्ति समझा और मानो अभिज्ञान के रूप में प्रथम मिलन पर मदन को दिया। इसी घटना के आधार पर उपन्यास का नाम 'अंगूठी का नगीना' रखा गया है, जो अनुपयुक्त नही लगता।

लज्जाराम शर्मा के उपन्यास

बिगड़े का सुधार

मेहता पं० लज्जाराम शर्मा ने 'धूर्त रसिक लाल' (सन १८८९), 'स्वतत्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' (सन् १८९९) और 'आदर्श दम्पति' (सन् १९०४ ई०) उपन्यासों के बाद 'बिगडे का सुधार' अथवा 'सती सुखदेवी' उपन्यास लिखा। यह सवत १९६४ (सन् १९०७) में बम्बई से प्रकाशित हुआ था। 'आदर्श दम्पति' उपन्याम मे तो पति-पत्नी एक-दूसरे को असीम प्रेम करते है, परन्तु इस कृति में पति उच्छृङ्खल होने के कारण पत्नी पर अनेक अत्याचार करता है, फिर भी सती सुखदेवी अपना धर्म नही छोडती और सेवा द्वारा अपने कुमार्गी पति को सुधार लेती है। यही इस उपन्यास की पूर्व-रचना से विशेषता है। उपन्यास के मुखपृष्ठ पर कथानक की कुंजी एक वाक्य में अंकित है : 'एक दुराचारी पति सती पत्नी के सतीत्व से सदाचारी बन गया'। भूमिका में मेहता जी ने कान्तासम्मित काव्य का एक नया उपयोग माना है : 'ऐसी दशा में भोग-विलास के समय मनुष्य को मनोविनोद के साथ-साथ शिक्षा देना भी आवश्यक है··· इसी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए काव्यो की रचना हुई है और इसीलिए वे कान्ता-सम्मित शास्त्र कहलाते हैं'। उस समय रोचकता उपन्यास की कसौटी थी, जिसके लिए लेखक ऐयारी तिलस्म आदि की योजना किया करते थे। प्रस्तुत लेखक ने उन लेखकों को चुनौती देते हुए सामाजिक उपकार अपनी रचना का लक्ष्य ठहराया है। वे 'भूमिका' में लिखते हैं : 'जिन सुलेखको को अपने उपन्यासो की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ढल पडें तो हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते हैं'।

'बिगडे का सुधार' ५६ पृष्ठ का छोटा-सा उपन्यास है। इसमे दस प्रकरण हैं, प्रत्येक का शीर्षक उसके भीतर वर्णित वस्तु का सार है। प्रथम प्रकरण 'बाबू की नास्तिकता' है और अन्तिम 'ईश्वर आस्था', जिससे यह स्पष्ट है कि इस रचना में एक बाबू की नास्तिक से आस्थावान् बनने तक की कहानी है। वनमाली बाबू एम० ए०

१. पृ० २४८ २. पृ० १३१

पास थे और थे नई सभ्यता के परम भक्त। उनकी पत्नी सुखदेवी अशिक्षित थी, परन्तु उसमें आर्यमहिला के सब गुण थे। वनमाली को 'पसंद था—भाषा अंगरेजी, भोजन अंगरेजी, भाव अंगरेजी और भेष अंगरेजी'। सुखदेवी उनको बिलकुल पसन्द न थीं: 'उनका जलता हुआ कलेजा भूरी आंखों की गोरी मेम बिना ठंडा नही हो सकता'[1] था। एक बार 'होटेल की एक नौकरानी से बाबू साहब की आंख लग गई'[2], निश्चय हुआ कि मद्रास जाकर उससे विवाह करें; ऐसा ही हुआ और वनमाली अब 'फोरेस्ट गार्डनर' बन गये। सुखदेवी सब सहती रही, परन्तु उसके पिता यह सहन न कर सके। वे जोश में उस मेम के घर पहुँचे और उन्होने लाठी से वनमाली पर प्रहार किया। सुखदेवी बीच में आ गई। जब मेम को यह ज्ञात हुआ कि वनमाली ने पहली पत्नी को छोड दिया है तो वह वनमाली से बोली: 'जैसे तुम ने इस पर जुल्म किया है वैसे ही मुझ पर भी किसी डिन करोगे, लाओ मेरे इकरार के दश हजार रुपये, बस मैं चली जाऊँगी'[3]। इन घटनाओं से वनमाली की आखे खुली · 'तू स्त्रियो की रानी है। मेरे मन में परदेशीपन का जो भूत घुस गया था वह निकल गया—मुझे दुष्ट के हृदय में ऐसा उत्तम विचार केवल प्यारी के पुण्य से ही उत्पन्न हुआ है'[4]।

कथानक मे कोई कला नही, केवल सामान्य घटना का चमत्कार है। यह घटना उस युग में अति सामान्य अवश्य थी, और समाज के सामने सबसे बडी समस्या बनी हुई थी। नायक अपने वर्ग का प्रतिनिधि है। नायिकाए दो है और दोनो अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। सुखदेवी सनातन हिन्दू समाज की सामान्य परन्तु दृढवत महिला है, वह पति की अठवारे तक अनुपस्थिति मे उसके चित्र को भोग लगा-कर स्वय जल ग्रहण करती है; कष्ट उसके लिए तपस्या है या उसके पूर्व कर्मों का भोग है। मेम का लेखक ने नाम नही लिया वह होटल मे काम करती है परन्तु है तो 'कमर मे कमर मिला कर नाचने वाली' गोरी चमडी की। उसने धन इकट्ठा किया और वनमाली को धता बताया। भारतीय नारी और अभारतीय नारी की तुलना करके लेखक इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि प्रतिप्राणा पत्नी बडे सौभाग्य का फल है, यह केवल भारतीय संस्कृति मे प्राप्य है, अन्यत्र नहीं। नारी अपनी सेवा के बल पर ही अपने प्रतिकूल पति को भी अनुकूल बना सकती है; गृहस्थ जीवन की वह एकमात्र कोमल कडी है।

शर्मा जी ने बडी महत्वपूर्ण समस्या उठाई है। आज तक हिन्दू गृहस्थ का सब से बडा अभिशाप यही है कि पति आधुनिक शिक्षा से परिपूर्ण हो और पत्नी उसे भोली-भाली एवं सरल मिले। पति को बाहरी चमक-दमक अधिक प्रभावित करेगी और वह अपनी पत्नी का आदर तो दूर रहा उसका मूल्य भी कम अंकित करेगा। फलतः पति-पत्नी का पारस्परिक असन्तोष गृहस्थ की नींव को खोखला कर देगा। पति इस बात को नहीं सोचता कि जो स्त्री भाव-भंगिमा चाल-व्यवहार से दस आदमियों के

१. पृ० ६ २. पृ० २६
३. पृ० ३९ ४. पृ० ४५

मन को मोह लेती है उसका उपयोग उतना ही है, पत्नी मे जिन गुणो की आवश्यकता है वे उस चुस्त, चालाक औरत मे नही मिलते। लेखक का सुझाव यह है कि स्त्री अपने गुणों से ही पति को निर्मल बना कर उसे सत्पथ पर लावे। इन परिस्थितियो मे इससे बढ़ कर और कोई सुझाव हो ही नही सकता। उस युग में नवचेतना के कारण सीता, सावित्री, दमयन्ती और गान्धारी के आदर्श प्रत्येक आदर्श महिला के सामने थे।

लेखक का दृष्टिकोण सनातनी है, इसलिए उसने नवीन जागृति का स्वागत नही किया। यह निश्चय है कि जिस गृहस्थ में पति से पत्नी और पत्नी से पति सन्तुष्ट रहेंगे वहा सर्वदा कल्याण की वर्षा होगी। परन्तु केवल भोलापन और सेवाभाव ही तो पत्नी के लिए काफी नही है, उसे शिक्षित भी होना चाहिए और सद्गुणो मे किसी भी नारी से कम न रहना चाहिए। लेखक ने कही भी स्त्री-शिक्षा का महत्व प्रतिपादित नही किया। पति मे सुधार होने पर घर मे श्राद्ध तो धूमधाम से होता है परन्तु कन्या-पाठशाला की कही चर्चा नही है। वस्तुत इसी एकांशी दृष्टिकोण के कारण यह पुरानी समस्या आज तक नवीन बनी हुई है। उस समय के सनातनी लेखक स्त्री शिक्षा के पक्षपाती नही थे, उनका भय था कि शिक्षा से स्त्री स्वतंत्र हो जाती है और स्वतत्र होकर बिगड़ जाती है।

शली की दृष्टि से यह उपन्यास सन्तोषप्रद है। इसकी भाषा सरल, सहज एवं आद्यन्त एक सी है। पद्य की योजना या बाहरी उद्धरण इस रचना मे नही। वर्णन और कथोपकथन सन्तुलित हैं। लेखक स्वयं उपस्थित होकर पाठको से बाते करना आवश्यक नही समझता। वर्ग-चित्रण की दृष्टि से कथानक छोटा होता हुआ भी रोचक तथा सफल है।

आदर्श हिन्दू

मेहता लज्जाराम शर्मा ने सन् १९१४ में 'आदर्श हिन्दू'[1] नाम का उपन्यास तीन भागो में लिखा। पहले भाग में २३ प्रकरण और २४२ पृष्ठ है, दूसरे मे छियालीस प्रकरण और दो सौ पैंतालीस पृष्ठ, एव तीसरे भाग मे उनसठ प्रकरण और दो सौ उनचास पृष्ठ। इस नवीन उपन्यास में लेखक ने 'तीर्थयात्रा' के व्याज से एक ब्राह्मण कुटुम्ब में सनातन धर्म का दिग्दर्शन, हिन्दूपन का नमूना, आजकल की त्रुटिया, राज-भक्ति का स्वरूप, परमेश्वर की भक्ति का आदर्श और अपने विचारो की बानगी प्रकाशित करने का प्रयत्न'[2] किया है। लेखक महोदय को 'जगदीशपुरी की यात्रा का अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ था' उसी यात्रा के अनुभव से इस रचना का बीजारोपण हुआ है। 'भूमिका' में लेखक ने सुखपूर्वक तीर्थयात्रा का श्रेय अग्रेज सरकार को दिया है, वे लिखते हैं : 'हम भारतवासियों को ब्रिटिश गवर्नमेंट की उदार छाया में निवास करके हजारों वर्षों के अनन्तर शान्ति-सुख के सच्चे अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।'

१. प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
२. भूमिका।

'आदर्श हिन्दू' उपन्यास की कथावस्तु सामान्य है। पं० प्रियानाथ इसके नायक और प्रियंवदा उनकी आदर्श धर्मपत्नी है। कान्तानाथ नायक का अनुज है, जिसकी पत्नी सुखदा आदर्श पत्नी नही है। आदर्श दम्पति का जीवन तीर्थ-यात्रा आदि सत्कर्मों में बीतता है, यद्यपि उस पर कष्ट भी आते हैं जिनको वह दम्पति ईश्वर की आज्ञा समझ कर सहन करता है। इसके विपरीत सुखदा अपनी कुशिक्षा के कारण घर के लिए दुःखदा सिद्ध हुई। एक सहेली के बहकाने में आकर वह जेठ-जेठानी से कलह करती है, छोटी-छोटी बातो पर पति से लड़ती है। उसका धन मार्ग में लुट गया, व्यभिचार की ओर वह प्रवृत्त होने लगी। अन्त मे सुखदा मे भी सुधार हो जाता है। इस प्रकार आदर्श दम्पत्ति के पुण्य से उनका परिवार आदर्श बन जाता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास महत्वपूर्ण नही है। आदर्श-दम्पति तो मानो सद्गुणो की प्रतिमा है, किसी परिवर्त्तन का वहां अवकाश नही है। सुखदा का जीवन अवश्य ध्यान आकृष्ट करता है। 'माता के दुलार ही दुलार मे पडकर एक-लौती बेटी माथे चढ़ गई थी। मथुरा की कुसगति से वह पहले ही कडुवी करेली और फिर नीम चढी'[1] बनी। उसकी दुष्टा सहेली ने उसको कुमन्त्र पढाया, वह पति से असन्तुष्ट है और परिवार से भी। अन्त मे वह आत्महत्या करना चाहती है परन्तु ठीक अवसर पर उसे रोक दिया जाता है। इस प्रकार कुशिक्षा और कुसगति के कारण कुल-वधू भी कितनी पतित हो सकती है—यह सुखदा के जीवन मे दृष्टिगत होता है। लेखक ने पुरुष के बिगाड-सुधार का कोई चित्र नही खीचा, पुरुष से समाज पर उतना कुप्रभाव नही पड़ता जितना स्त्री से क्योंकि स्त्री गृहस्थ का केन्द्र है और गृहस्थ जीवन सामाजिक जीवन की धुरी है, इसलिए 'बुरे आदमियों से बुरी औरते हजार दर्जे बुरी है'[2]।

नायक पंडित प्रियानाथ को 'आदर्श हिन्दू' चित्रित करके 'सनातन धर्म की उन्नति और सामाजिक दुर्दशा का सुधार करने के विषय मे इनके जो ख्याल हैं वे इस उपन्यास मे समय-समय पर स्थान-स्थान में कार्य-रूप पर व्यक्त किये गये हैं'[3] इस दृष्टि से यह उपन्यास आलोच्य-युग का सबसे प्रतिनिधि उपन्यास है। लेखक ने वल्लभ सम्प्रदाय की प्रशंसा की है ''जितनी बारीकी वल्लभ-सम्प्रदाय मे देखी उतनी किसी में नही। वास्तव में वह अलौकिक है। इसमें जितने भीतर घुसते जाइये उतना ही गहरा-पन है'[4]। उन दिनो आर्यसमाज और सनातन धर्म का तात्विक विरोध इस बात का था कि वेद को अपौरुषेय मानते हुए भी, आर्यसमाज केवल मन्त्र-भाग को अपौरुषेय मानता था—परन्तु सनातन धर्म मन्त्र भाग के साथ-साथ ब्राह्मण भाग को भी। लेखक ने भी अपना मत इसी पक्ष मे अभिव्यक्त किया है : मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भाग अपौरुषेय

---

१. पहला भाग, पृ० २२८
२. वही, पृ० २२९
३. तीसरा भाग, पृ० २४४
४. दूसरा भाग, पृ० १५५

हैं, ईश्वर निर्मित हैं'[१]। हिन्दू समाज में जितनी कुप्रथाएं प्रचलित हैं उनका समर्थन उस साहित्य से होता है जो वेद का अंश न होकर धार्मिक जाति का है, सुधारवादियों का अनुमान है कि उस साहित्य की रचना सामाजिक अवनति के अवसर पर हुई थी इसलिए उसे प्रमाण नही माना जा सकता; स्वामी दयानन्द इसी विचार के प्रचारक थे। मेहता जी ने स्वामी दयानन्द का नाम लेकर उनके मत का खण्डन[२] किया है; वे अन्य सनातनियो के समान संस्कृत में लिखे गये प्रत्येक वाक्य को धर्म-सूत्र मानते हैं।

श्राद्ध प्रथा पर सर्वप्रथम ध्यान जाता है। महाशय श्यामकिशोर वर्मा के 'काशी यात्रा' उपन्यास[3] मे नायक के चाचा शिवशंकर की मृत्यु श्राद्ध में अधिक खा लेने से ही हो गई थी, परन्तु इस उपन्यास का नायक प्रियानाथ श्राद्धविषयक शास्त्रार्थ मे अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करके एक सहस्र मुद्रा पुरस्कार मे प्राप्त करता है, यह उसके जीवन का सबसे बडा श्रेयस्कर्म है। 'श्राद्ध युक्ति-प्रमाणो से, वेदादि ग्रन्थो के मत से सिद्ध हो गया; नोटिस के अनुसार एक हजार रुपया पंडित प्रियानाथ को दिला दिया जावे'[४]। इस शास्त्रार्थ का विस्तृत वर्णन और नायक के व्यक्तित्व का यह उज्वल गुण होने से हम समझ सकते है कि लेखक की दृष्टि मे श्राद्ध का कितना अधिक महत्व है। धर्म का दूसरा अग जन्म से जाति को स्वीकार करना है। आर्यसमाज यह मानता है कि जाति और वर्ण 'गुण-कर्म-स्वभाव' पर निर्भर है, जन्म से न कोई ब्राह्मण है और न शूद्र, इसलिए गुण एवं व्यवसाय के अनुसार ही जाति बनती है। सनातन धर्म इसका विरोध करके जाति का निर्णय जन्म पर छोड़ता है, जो ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ है वह ब्राह्मण है भले ही उसका स्वभाव क्षत्री या वैश्य के समान हो। पं० लज्जाराम ने जन्मत: जाति मानने के लिए बड़ा हास्यास्पद तर्क दिया है कि कोई व्यक्ति ब्राह्मण के घर उत्पन्न ही क्यो हुआ, इसीलिए न कि भगवान् उसको ब्राह्मण बनाना चाहते हैं. 'जब आप पुनर्जन्म मानते है, पूर्वजन्म के शुभ-अशुभ फलो से उच्च और नीच जाति मे जन्म ग्रहण करना मानते है तब आप कैसे इसे नही मान सकते'[५]। इसी प्रकार का एक तीसरा प्रश्न अवतारवाद है। आर्यससाज रामकृष्ण आदि को महापुरुष मानता है, भगवान का अवतार नही, और कृष्ण के सम्बन्ध में रासादि लीलाओं को धर्म का परिहास समझता है। सनातनी सम्प्रदायो ने लीलाओ के दार्शनिक अर्थ किये हैं, वे कृष्ण को सोलह कलाओ का अवतार मानते हैं क्योकि उनमे जीवन-सुख की पूर्णता है। मेहता जी ने परनारियो के साथ कृष्ण की लीला का तात्विक समर्थन किया है: 'व्यभिचार एक पर-स्त्री का दूसरे पर-पुरुष के सम्पर्क से पैदा होता है किन्तु यहां श्रीकृष्ण जगत्पति, उनके परमगति थे'[६]।

, तीर्थयात्रा इस उपन्यास की प्रेरणा भी रही है और इसका वर्ण्य विषय भी।

---

१. दूसरा भाग, पृ० २१४
२. वही, पृ० २१३
३. दे० पृ० १६२-३
४. दूसरा भाग, पृ० २२४
५. वही, पृ० २४१
६ पहला भाग, पृ० १३६

लेखक तीर्थयात्रा को आवश्यक समझता है, परन्तु उसमें होने वाले अत्याचारों से वह अपरिचित नहीं। उपन्यास की नायिका प्रियंवदा की तीर्थयात्रा में जो दुर्दशा हुई वह आतकमयी है; गुडे कम्बल से प्रियंवदा की गठरी बांध कर सिर पर लादे हुए यह गये, वह गये; और पडित जी के ऊपर से देखते-देखते गायब हो गये।[1] किसी की जेब कटती है, किसी का सामान चोरी हो जाता है, स्त्रियों की नाक और कान की बालिया खीच कर खून[2] टपकाते हुए गुडे लोग साफ निकल जाते हैं। किन्तु—'इसमें तीर्थों का दोष नहीं है, मदिर वे ही है, क्षेत्र वे ही हैं, और धाम वे ही हैं किन्तु उस समय के से मनुष्य नही हैं।[3] इसीलिए 'आजकल पहले की सी तीर्थयात्रा नहीं रही।' हिन्दू धर्म मे जो दोष आ गये हैं वे अनधिकारियो के कारण हैं, 'इन्ही मूर्खो की बदौलत हिन्दू धर्म नष्ट-भ्रष्ट हुआ जा रहा है'।[4] परन्तु लेखक ने सुधार की कोई योजना नही बनाई, वह कलि-काल को दोष देकर मानो निरपेक्ष दृष्टा बन गया है।

धार्मिक समस्याओं का तीसरा वर्ग व्यावहारिक प्रश्नो से सम्बन्ध रखता है। लेखक ने बहुत सक्षेप में सम्मिलित कुटुम्ब का समर्थन किया है, परन्तु इसको प्रमाणित करने की आवश्यकता नही समझी। उस काल मे यह समस्या उठ ही रही है, इसने कोई निश्चित रूप ग्रहण न किया था। 'आदर्श दम्पत्ति' सम्मिलित कुटुम्ब के पक्षपाती हैं परन्तु कर्कशा सुखदा जेठ-जेठानी से अलग रहना चाहती है, लेखक का अभीष्ट सुखदा की इच्छा नही मानी जा सकती। एक बार उसने स्पष्ट शब्दो मे सम्मिलित कुटुम्ब का समर्थन भी किया है 'आजकल के लोग चाहे हजार 'सयुक्त कुटुम्ब' की चाल को नापसन्द करे परन्तु जब तक बूढे बाबा के दम मे दम रहा सारा घर उसकी आज्ञा के अधीन सुखी रहा'।[5]

दूसरा प्रश्न वैवाहिक है, जिसके अन्तर्गत लेखक ने अन्तर्जातीय विवाह, बाल विवाह और विधवा विवाह पर विचार किया है। अन्तर्जातीय विवाह की चर्चा एक सामान्य पात्र (स्त्री) के सम्बन्ध मे की गई है जो अपने पति से रूठ कर चली आई थी और जिसकी अन्त मे दुर्दशा हुई। लेखक ने उसकी दुर्दशा पर विचार करते हुए सन्तोष की सास ली है : 'दोनों की जाति भी एक न थी'[6]। आर्यसमाज बाल-विवाह का विरोधी था, उसका मत है कि जब तक वर और कन्या विवाह का उत्तरदायित्व न समझे तब तक उनका विवाह कर देना उनके लिए अहितकर है। सनातनी लोग 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी' की गूंज करते थे। इस उपन्यास के लेखक ने यह तर्क दिया है कि यूरोप मे तो किशोरो का विवाह ठीक है परन्तु हमारे देश में बालको का ही विवाह देशकालानुकूल है : 'उनके यहां जवानी का आरम्भ जिस समय होता है उस समय हमारे देश की स्त्रियां दो-चार बच्चों की माता हो जाती हैं·····हमारे देश के रिवाज से, धर्म-

---

१. दूसरा भाग, पृ० १०६
२. पहला भाग पृ० १६७
३. वही, पृ० ९२
४. वही, पृ० ११९
५. पहला भाग, पृ० २७
६. वही, पृ० १११

शास्त्र की आज्ञा से हिन्दू बालिका का विवाह रजस्वला होने से पूर्व हो जाना चाहिए'[1]। लेखक का मत है कि विवाह हो जाने के बाद स्त्री को यह ज्ञान हो कि विवाह क्या होता है, प्रेम का अनुभव करने योग्य होने से पूर्व उसके प्रेम का निर्दिष्ट पात्र प्रस्तुत रहना चाहिए; 'उनका प्रणय और हमारा परिणय है; उनके यहां प्रणय पहले और हमारे यहां प्रणय पीछे होता है'[2]। विधवा विवाह का खण्डन रोषपूर्ण है। लेखक विधवा-विवाह को व्यभिचार के समकक्ष समझते है और उसको तलाक के समान ही दोषपूर्ण सिद्ध करते हैं : 'वह विवाह नही मेरी समझ मे तो व्यभिचार है, जो हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते है'[3]। यह प्रासंगिक चर्चा है, फिर भी लेखक का तर्क निराधार उनके रोष का प्रदर्शक मात्र है। विधवा विवाह को तलाक के साथ रखना ही गलत है, दोनों अलग अलग परिस्थितियो के प्रश्न है, एक मे अकालकवलित पति के बिना किशोरी अबला के जीवन का प्रश्न है, दूसरे मे पति-पत्नी की अनबन का हल है; जो लोग विधवा-विवाह के पक्षपाती हैं वे तलाक के भी समर्थक हों यह आवश्यक नही। और विधवा-विवाह व्यभिचार कैसे है? जब पत्नी की मृत्यु के बाद प्रौढ़ पति दूसरा विवाह कर सकता है तो किशोरी विधवा को यह अधिकार क्यो न प्राप्त हो। वास्तव में सनातन धर्म ने समस्त बन्धन स्त्री के लिए स्वीकार किये है, पुरुष पर कोई बन्धन नही, वह तो धर्म का शास्ता है—वह अपने शासन द्वारा नारी को धर्मपथ पर रखेगा स्वय चाहे जिधर फिपल पड़े। मेहता जी का यह उपन्यास धार्मिक समस्याओ की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण है, जितनी समस्याएं इसमे हैं उतनी अन्य उपन्यासो में नही।

उपन्यास-कला की दृष्टि से 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास का विशेष महत्व नहीं है, परन्तु समकालीन धार्मिक जीवन का जैसा घटनाशून्य विस्तृत वर्णन इस उपन्यास मे है वैसा हिन्दी के किसी उपन्यास मे नही। यदि इसको 'उपन्यास' न कह कर सामाजिक विवरण कहा जाय तो अनुचित न होगा। सभी मुख्य तीर्थ इसके अन्तराल मे आ गये हैं और लगभग सभी धार्मिक प्रश्नो का लेखक ने अपने दृष्टिकोण से उत्तर दिया है। धार्मिक जिज्ञासा या किञ्चित् श्रद्धा के बिना यह उपन्यास मनोरजन नही कर सकता। जितनी गहराई से श्राद्ध आदि पर विचार किया गया है उतनी सामान्य पाठक को अभीष्ट नही। धार्मिक दृष्टि भी महेता जी की सीमित है। अनाथ समस्या उठाई ही नही गई, पतित स्त्री-पुरुषों की शुद्धि का प्रश्न भी नही है। तीर्थों के दोषो का निवारण किस प्रकार हो, यह लेखक ने नही बताया। अच्छी शिक्षा की कोई रूप-रेखा प्रस्तुत नही की गई। मुसलमानो और ईसाइयो के मोर्चे का लेखक ने कोई हल नही निकाला। इस प्रकार लेखक की दृष्टि में आर्यसमाज की सुधारवादिता से सनातन धर्म को बचाना ही धार्मिक पुरुषार्थ है। खटकने वाली एक बात और है कि सन् १९१४ मे कोई भी लेखक विदेशी शासन की इतनी प्रशंसा क्यों करे। ऐसा प्रतीत होता है कि जलियान वाला बाग काण्ड (सन् १९१८) से पूर्व परतन्त्रता की बेड़ियां समाज-सुधारको को कसकती नही थी।

---

१. वही, पृ० ३०
२. वही
३. वही, पृ० ९५

पुस्तक की भाषा गम्भीर, सरल परन्तु तत्सम शब्दों से युक्त है। कही-कही पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग है। बन्दर चौबे का हास्य मथुरा की विशिष्ट भाषा के बिना उतना सफल न हो पाता। तीर्थो की ठगी जिस भाषा मे वर्णित है उसमें शास्त्रार्थ नही। लेखक ने स्वामी दयानन्द का नाम देकर ऐतिहासिक रग भरने का प्रयत्न किया है। बीच-बीच मे सस्कृत और हिन्दी के भक्तिभावपूर्ण पद्य सुरुचिपूर्ण है। इस उपन्यास में कथोपकथन बहुत कम है, विवरण मात्रा मे अत्यधिक। कथा कहते-कहते लेखक पाठको से भी बात करने लगता है परन्तु अस्वाभाविकता नही आ पाती। रचना का उद्देश्य सनातन धर्म की जय और इतर की दुर्दशा दिखलाना है।

प्रस्तुत उपन्यास के तीसरे भाग मे लेखक ने रेनाल्ड तथा रेनाल्ड से प्रभावित साहित्य को समाज, विशेषत. नारी-जाति, के लिए घातक मानकर स्वच्छ एव स्वस्थ उपन्यास पढने और लिखने की अपील की है। 'आदर्श दम्पति', 'हिन्दू गृहस्थ', 'बिगड़े का सुधार', 'विपत्ति की कसौटी', 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी', आदि अनेक ग्रन्थ आपको मिलेंगे। रेनाल्ड के नावेलो को फेक दीजिए, ये आपके चरित्र को बिगाडने वाले है'[1]। 'हिन्दी के कितने सुलेखक महाशय डिटेक्टिव कहानिया लिखने और अनुवाद करने के साथ यदि पडित दीनबन्धु जैसे सच्चे परोपकारी का किसी उपन्यास मे चरित्र अकित करे तो अधिक उपयोगी हो सकता है। लेखक की यही प्रार्थना है[2]।

गंगाप्रसाद गुप्त के उपन्यास

लक्ष्मीदेवी

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त[3] ने 'गृहस्थ स्त्रियो, पुरुषो, युवतियो और युवको के पढ़ने योग्य' 'एक बहुत रोचक और शिक्षाप्रद उपन्यास' 'लक्ष्मीदेवी'[4] लिखा। यह दस परिच्छेद और चौवन पृष्ठ की एक छोटी-सी पुस्तक है। 'लक्ष्मीदेवी' उपन्यास हमारे आलोच्य काल मे दूसरी बार छपने लगा था। इस मुद्रण पर सन् सवत् अकित नही है, परन्तु 'इन्द्रप्रस्थ वैदिक पुस्तकालय, दिल्ली' की १८-३-२२ की मुहर लगी हुई है; जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह उपन्यास 'दूसरी बार' सन् १९२० ई० तक छप गया होगा।

काशी के बाबू अयोध्यादास की मृत्यु के बाद उनकी सन्तान दोनो पुत्रियो, श्यामा और लक्ष्मी देवी, के नाम सौ-सौ रुपये की पेन्शन सरकार की ओर से नियत हो गई। दोनो को इलाहाबाद के गर्ल्स स्कूल मे डाक्टरी पढने के लिए भेज दिया गया। पढ़ते समय श्यामा पर विलायती स्वतन्त्रता का प्रभाव पड गया और वह बिगडती चली गई। उसने मोतीलाल नामक व्यक्ति से विवाह कर लिया। परन्तु एक-दूसरे से मन भर जाने के कारण अनबन हो गई। तब वह विश्वेश्वरनाथ नामक काश्मीरी युवक की पत्नी

---

१. तीसरा भाग, पृ० ८७ २. वही, पृ० २१५

३. भूतपूर्व प्रधान सम्पादक 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार', 'मारवाड़ी', 'भारतजीवन', 'हिन्दी-केसरी' और 'हिन्दी-साहित्य'।

४. प्रकाशक बाबू निहालचन्द वर्म्मा, नैपाली खपरा, बनारस सिटी।

बनकर रहने लगी। कुछ दिनों बाद उसने एक बंगाली बाबू से प्रेम कर लिया, जिससे विश्वेश्वर ने उसको खूब पीटा। फिर श्यामा अपने अस्पताल के एक क्लर्क के साथ ही फंस गई तब क्रोध में आकर विश्वेश्वर ने दांत से उसकी नाक काट ली। श्यामा की नौकरी बदचलनी के कारण छूट गई और वह दर-दर की मोहताज बन गई। उधर लक्ष्मीदेवी 'योग्य, सरल और कार्यकुशल' डाक्टर सिद्ध हुई, उसका विवाह जन्मकुण्डली मिलाकर अपनी जाति के बा० नारायणप्रसाद के साथ हुआ। लक्ष्मीदेवी ने सुखी गृहस्थ जीवन बिताते हुए चिकित्सा द्वारा देश और समाज की बडी सेवा की और पढी-लिखी युवतियो के सम्मुख उच्च आदर्श रखा।

इस उपन्यास का कथानक एक घटनात्मक कहानी है, जिसका उद्देश्य स्त्री-स्वातन्त्र्य के दोष दिखाना है। एक माता-पिता की एक ही घर में पली हुई दोनो बहिनें दो अलग मार्गों पर क्यो चली—यह लेखक ने नही बतलाया। परन्तु दोनो को दो संस्कृतियो का प्रतिनिधि बनाकर उनके जीवन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर दिया है। किशोरीलाल के 'लीलावती वा आदर्श सती'[1] उपन्यास मे भी यही रूपरेखा है। परन्तु कलावती और लीलावती सगी बहिने नही हैं, इसलिए उनके सस्कारो को उसके चरित्र के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। गगाप्रसाद श्यामा को नाक कटने और बदचलनी के कारण नौकरी छूटने पर उपन्यास से हटा देते है परन्तु किशोरीलाल की कलावती का अंग-अंग गल जाता है और उसके शरीर से भी उसके चरित्र के समान ही दुर्गन्ध निकलती है। इन लेखको ने पापिनी को पाप का दण्ड दिलवाया है, ईश्वर की ओर से कोढ़ और समाज की ओर मे नाक कटना मानो ऐसे घोर पातक का विहित दण्ड है।

श्यामा और लक्ष्मी दो वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है। लेखक का दृष्टि उनके केवल एक गुण पर है—स्वतंत्रता, जिस समय आर्यसमाज महिलाओ को पर्दे से बाहर निकाल कर उनको सामाजिक सम्मान का अधिकारी सिद्ध कर रहा था उस समय पुराण-पंथियो ने 'न नारी स्वातन्त्र्यमर्हति' का शखनाद प्रारम्भ कर दिया; वे सोचते थे कि नारी पर विश्वास किया ही नही जा सकता, यूरोप की नारी स्वतन्त्र है, परन्तु भारत में स्वतन्त्रता से अमंभाव्य अहित होगा। नारी और वासना को एक दूसरे का पर्याय मानने का आदर्श बहुत ही संकीर्ण है। जिस समाज मे नारी का जितना सम्मान होगा उतना ही वह उच्च माना जाएगा। प्राचीन भारत मे नारी की बडी महिमा थी, अनाचारी रावण सीता के सतीत्व से भस्म हो गया, पाञ्चाली के प्रति दुर्व्यवहार करने वाले कौरवों का सर्वनाश हुआ, सावित्री के तेज से आतंकित यम उसके पति के प्राण न हर सका। मध्ययुग में नारी पुरुष की दासी थी, वह पर्दे मे रहकर भय से अनुशासित होती थी। नवोदय के साथ नारी का भी सम्मान बढ़ा जिसको लकीर के फकीर सहन न कर सके। वस्तुत नारी को पुरुष के समान ही आदर देने की भावना शुद्ध भारतीय है; जीवन-यज्ञ में स्त्री और पुरुष दोनो का समान कृतित्व है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं, उनमें सह-

१ दे० पृ० १३०

योगी की भावना होनी चाहिए, स्वामी और सेवक की नहीं। पर्दे का आदर्श न केवल नारी की कैद ही है प्रत्युत उसके व्यक्तित्व का अपमान भी है। प्रस्तुत लेखक ने बड़ी कठोर मर्यादा निश्चित की है; 'पर्दे का यथार्थ मतलब तो यही है कि जहाँ तक सम्भव हो न तो सूरत दिखाई जाय और न आवाज सुनाई जाय और इसी प्रकार यथासम्भव न परपुरुष का मुख देखा जाय न शब्द सुना जाय'[1]।

पर्दे के अतिरिक्त लेखक ने सनातनी दृष्टि से स्त्रियों के विषय में कुछ दूसरी बातों पर भी प्रकाश डाला है। 'लडकियों को चौदह वर्ष की उम्र तक क्वारी रखना' ही लेखक को आतकित कर देता है, 'जमाना बडा खराब है, लोग क्या कहेंगे ?'[2] विवाह आदि के लिए वरकन्या की योग्यता मुख्यत: जाति और जन्मकुण्डली पर निर्भर है, डा० लक्ष्मीदेवी के विवाह के लिए सबसे पहले कुण्डली ही मिलाई जाती है। चरित्र के सम्बन्ध में लेखक सर्वप्रथम महत्त्व 'कुल-जाति' को देते हैं तदनन्तर 'देश और धर्म' को; लक्ष्मी-देवी के शब्दों में 'अपने कुल, जाति, देश और धर्म के विरुद्ध कोई काम'[3] न करना चाहिए। यदि संयोगवश कोई व्यक्ति भ्रष्ट हो जाय तो उसके प्रति घर-वालों का क्या कर्त्तव्य है—इसका उत्तर लेखक के शब्दो में ही देखिए: 'यदि मनुष्य का कोई अंग किसी कारण से सड जाय तो जिस तरह उस अग को काट कर दूर कर देना आवश्यक होता है, क्योकि यदि ऐसा न किया जाय तो उसके ससर्ग से और अंगों के भी सड जाने का डर होता है, उसी प्रकार परिवार भर को कलंकित करने वाले किसी महा दुश्चरित्र के दूर कर देने में भी जिसका किसी तरह सुधार या प्रायश्चित न हो सकता हो कोई हर्ज नही है'[4]। यह शुद्ध मध्ययुगीन दृष्टि है जिसका विधर्मियो ने बहुत अधिक दुरुपयोग किया है।

गंगाप्रसाद गुप्त और किशोरीलाल गोस्वामी की, समान समस्याओं की दृष्टि से, तुलना करने पर गोस्वामी जी समय की गति को समझने वाले और उदार दिखाई पड़ते हैं। उन्होने पर्दे पर इस प्रकार का जोर नही दिया, प्रत्युत नायक नायिका को स्वतन्त्र होकर अपना जीवन-साथी खोजने की अनुमति दी है। अवश्य ही स्त्री के लिए सतीत्व अमूल्य गुण है साथ ही सत्पुरुष के लिए सच्चरित्र भी उतना ही आवश्यक है। गोस्वामी जी ने परोक्ष-रूप से शुद्धि का समर्थन[5] किया है, गुप्त जी पतित को त्याग कर आगे बढ़ जाते हैं। गोस्वामी जी के पुरुष और नारी जीवन का सामना करते हैं और दृढ होकर विजयी बनते हैं, गुप्त जी ने अलग रख कर उनको नवीनता से अछूता दिखाया, जीत कर गोरवान्वित नही होने दिया।

गगाप्रसाद गुप्त उपन्यासकार नही थे। सनातन धर्म के प्रचार की दृष्टि से उन्होने उपन्यास का क्षणिक सहारा ले लिया। अपने उपन्यास में बाबू कृष्णचन्द्र की प्रशंसा करते हुए उनकी 'म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर···औवल दर्जे के आनरेरी मैजिस्ट्रेट···राय बहादुर की पदवी···' योग्यताओं के बाद लेखक कहते हैं कि 'इतना ही नहीं, आप वहां

१. पृ० ६ २. पृ० ५ ३. पृ० २४
४. पृ० २८ ५. दे० पृ० १२५

की सनातन धर्म्म सभा के प्रेसिडेण्ट तथा मुख्य सहायक··· 'भी हैं; मानो सनातन धर्म सभा की अध्यक्षता उच्च जीवन का सबसे बड़ा प्रमाण-पत्र हो। इस सनातन धर्म की मुख्य शक्ति जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्त्री-जाति को बिगडने से बचाना है; मोतीलाल, विश्वेश्वरनाथ, बंगाली बाबू जैसे पुरुष कुछ भी करें समाज और भगवान् उनकी ओर ध्यान नही देते। परन्तु नारी ने माता-पिता की अनुमति बिना विवाह किया कि वह समाज का गलित अंग बन गई। यही सनातन धर्म इस उपन्यास से झलकता है। प्रस्तुत रचना का उद्देश्य पद्यबद्ध करके लेखक ने मोटे अक्षरों मे छपवा दिया है :—

देखा, बेपर्दगी की कु-दशा को ?
इसके परिणाम और अवस्था को ?
हों यहां की जो नारिया स्वाधीन।
दुख सहेंगी, हां कर पाप मे लीन ।।

उपन्यास में केवल घटना का कौतूहल है, स्वाभाविकता नही। प्रारम्भ मे ही पता लग जाता है कि श्यामा और लक्ष्मी अलग-अलग मार्गों पर चलेगी जिनमे लक्ष्मी का मार्ग लेखक का अभीष्ट है। श्यामा का व्यभिचार लेखक ने तमाशे की तरह दिखाया है, वह एक के बाद दूसरे से फंसती गई और पाप का फल भोगती रही। लक्ष्मी का जीवन अस्वाभाविक एवं अविश्वसनीय है; जिधर चरण रखती है उधर ही धर्म और सुख बरसने लगता है। सामाजिक होते हुए भी प्रस्तुत उपन्यास गुणो में घटनात्मक के अधिक समीप है। तिलिस्म आदि कौतुक एवं पापाचार की झाकी न दिखाकर लेखक ने उच्च आदर्श निभाया है, जिनके लिए वे प्रशंसा के भागी हैं।

टीकाराम तिवारी के उपन्यास

पुष्पकुमारी

होशगाबाद निवासी पं० टीकाराम सदाशिव तिवारी ने सन् १९१७ मे 'पुष्पकुमारी' नाम का एक सामाजिक उपन्यास[1] लिखना प्रारम्भ किया जो संवत् १९८० मे ही प्रकाशित हो सका। यह 'पुस्तक सनातन धर्म की शिक्षा, श्रद्धा तथा भक्ति का उत्कृष्ट नमूना है जो कि एक स्वतन्त्र परिश्रम से तैयार हुई है'[2] 'इसमे एक सद्गृहस्थ गृह के आदर्श का पूरा-पूरा विचार रखा गया है जो कि एक परम वैष्णव और सनातन धर्मोपासक है'[3]। पुस्तक दो भागों में है इसमें 'उपसंहार' के अतिरिक्त चौतीस परिच्छेद और दो-सौ बीस पृष्ठ हैं : प्रत्येक परिच्छेद को एक विशेष शीर्षक भी दिया गया है।

प० रामचन्द्र के दो पुत्र और एक कन्या पुष्पकुमारी थी। ज्येष्ठ-पुत्र माधव-प्रसाद की पत्नी का नाम ललिता था। कनिष्ठ पुत्र यमुनाप्रसाद और पुत्री पुष्पकुमारी अविवाहित थे। यमुनाप्रसाद का मित्र कमलकिशोर उपन्यास का नायक है। पं० रामचन्द्र

१. लेखक का दूसरा उपन्यास 'शीलमणि' है, जिसमें 'सती शीलमणि का आत्मगौरव उसका पति को सुमार्गी बनाने का अंतिम प्रयत्न, अन्त में उसकी ही शिक्षा से लाभ, चित्रित किया गया है।
२. विज्ञापन से ३. प्रस्तावना से।

का परिवार बडा धार्मिक, ईश्वर भक्त, सरल एवं सुसंस्कृत था। परन्तु ललिता ने अपनी माता से कुशिक्षा पाई थी। इसलिए ससुराल आकर उसने कलह की। फलस्वरू माधव अपने पिता से अलग हो गया। अन्त में अलग रहकर उसको ज्ञान हुआ कि सम्मिलित कुटुम्ब में लाभ है हानि नहीं, अत पश्चात्ताप करते हुए माधवप्रसाद फिर परिवार में मिलकर रहने लगा। कथानक की मुख्य घटना पुष्पा और कमल के विवाह की है। दैवयोग से बचपन में सहज भाव से मिलने के बाद पुष्पा ने अपने को दैवी आपत्तियों से दो-तीन बार बचाने वाले कमल को अपना पति मान लिया। ज्योतिषियो ने बताया कि पुष्पा पर कडा योग है वह अट्ठारह वर्ष की आयु में विधवा हो जायगी। परन्तु सावित्री के समान नायिका निश्चय कर चुकी थी। उसने नारायण स्वामी के निर्देश से तप किया। कठोर तप के फलस्वरूप कुग्रह टल गया। पति के लिए चिरायु लाभ कर पुष्पा ने उसके साथ विवाह किया। इस विवाह के बाद दोनो परिवारो के सुदिन आ गये और दम्पत्ति ने समाज और जाति की सेवा करते हुए यश एवं सुख से परिपूर्ण जीवन बिताया।

इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य पुष्पा और ललिता के व्यक्तित्वो का तुलनात्मक अङ्कन है। ललिता को अपनी माता से कुशिक्षा मिली थी इसलिए वह सकीर्ण थी, आजकल की युवतियो के समान वह सास-ससुर से अलग अपने पति के साथ स्वतन्त्र रहना चाहती थी। उसने वैसा ही किया, परन्तु अन्त मे वह सुधर गई। लेखक ने यह दिखाया है कि विभक्त परिवार मे दु ख और कठिनाइयां है, सम्मिलित रहने पर सुख बंटता है परन्तु दु:ख भी तो बट जाता है। इसलिए सद्गृहस्थ सम्मिलित कुटुम्ब मे ही रहे। पुष्पा को अच्छी शिक्षा मिली और अच्छे ही सस्कार। फलत. उसका जीवन दैवी उच्छ्वासो से सुरभित है। ईश्वर-भक्ति, बडो का आदर, सद्व्यवहार, उदार भावना, त्याग और तप उसके जीवन की कुजी है। उसने पितृकुल और पतिकुल का उद्धार कर दिया। समाज मे नारी का जीवन बडा उत्तरदायित्वपूर्ण है, उसका प्रभाव कम से कम दो कुटुम्बों पर तो अवश्य ही पडता है।

लेखक धार्मिक विचारों का उदार व्यक्ति है। उसने जिस समाज का चित्रण किया है वह इस युग का बहुत अधिक नहीं है। पुष्पा का जीवन पुरानी देवियो का ही अनुकरण है। सीता के समान गौरी-भक्त, सावित्री के समान दृढ-प्रतिज्ञ, और पार्वती के समान तपस्विनी वह है। तप के द्वारा वैधव्य-योग टल जाना आजकल समझ मे आने वाली बात नही है। कमल पर आपत्ति आती है क्योकि वह पुष्पा का सकल्प पति बन चुका है वे आपत्तियाँ टल जाती हैं क्योकि पुष्पा तप कर रही है। लेखक ने ज्योतिष के अतिरिक्त स्वप्न में भी अत्यधिक विश्वास दिखाया है : 'स्वप्न कभी निरर्थक नहीं होते, ये किसी न किसी प्रकार मनुष्य की भविष्य दशा को सूचित करते हैं'[1]। शिक्षा का अभिप्राय ही धर्म एवं ईश्वर-भक्ति है। 'इधर बालविवाह की प्रथा की दिन-बदिन उन्नति, धार्मिक शिक्षा का अभाव, उनके अन्नकष्ट के निवारण को कोई देशी व्यवसाय

१. पृ० ११५

की देश में न्यूनता आदि-आदि अनेकानेक कारणों से अपने देश की स्त्रियां अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हैं और इतना सब सहन करते हुए भी साम्प्रतकाल में जो नारी तुम समान अपना जीवन हिन्दूधर्म एवं समाज की रक्षा करते हुए व्यतीत कर रही हैं, वे धन्य-धन्य हैं।'[1]

पुष्पा बालिका से किशोरी बनने तक हमारे सामने रहती है एक बार खोई हुई झारी तलाश कर देने वाले कमल से वह इतनी प्रसन्न हुई कि मातामही की अनुमति से उसने 'भगवान को चढ़ाई पुष्पमाला' स्वय न पहनकर कमल को ही पहिना दी। वह सरला है परन्तु 'मा कुछ दूर निकल गयी ऐसी जान बालिका भी पपीहे से इतना कह कर शीघ्र चल दी—प्यारे पपीहा कल फिर तुम इसी स्थान पर मिलना'[2]। यहाँ उसके जीवन में शकुन्तला का रूप झांक रहा है। जब मृगनाथ-यात्रा में कमल ने उसकी रक्षा की तो पुष्पा कितने अर्थगर्भित वाक्य कहती है—'मेरी आज विधाता ने रक्षा आपके ही पवित्र अङ्क मे सौप कर की'—और आगे—'अपने इस भविष्य जीवन को आपके चरणों की सेवा मे ही अर्पण कर ससार मे कृतकृत्य होने का साहस करू और आपको अब प्राणनाथ कहके शाति दू'[3]। लेखक ने गान्धर्व विवाह ही दिखा दिया है, परन्तु शायद किशोरीलाल गोस्वामी के समान वे इस पद्धति को आधुनिक 'कोर्टशिप' से भिन्न समझते थे। इस मे प्रणय के अनन्तर तप है, तप के अभाव मे वह न तो पूर्ण है और न विधेय है। यहा ध्यान रखना चाहिए कि गान्धर्व विवाह क्षत्री कुमारियो के लिए ही शास्त्रोचित माना गया है।

लेखक ने 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' के भाव को लेकर इस पुस्तक की रचना की है। इसमे नर्मदा-तटवर्ती प्रदेश का बडा भावपूर्ण वर्णन है। लेखक का उद्देश्य कथा या चरित्रचित्रण तो है ही नही वातावरण का अकन भी नही है। वह तो धर्म-शिक्षा अथवा ईश्वर-भक्ति का उपदेश देना चाहते है और उस प्रसग मे धार्मिक स्थानों का उन्होने भक्ति भावपूर्ण वर्णन किया है। 'पुष्पाकुमारी' उपन्यास रूप मे अधिक सफल न भी हो, इसकी दो विशेषताए हैं। एक तो इसके वर्णन बड़े भावभय एव सात्विक हैं। दूसरे इसका घटना-स्थल मध्यप्रदेश का नर्मदा-तट है जो सामान्यतः अन्य सामाजिक उपन्यासो में नही मिलता।

रुद्रदत्त शर्मा के उपन्यास

स्वर्ग में महासभा

समाज-सुधार के लिए 'विधवा विलाप' (सन् १८८४), 'पाखण्ड मूर्ति' (सन् १८८८) तथा 'आर्यमत मार्तण्ड' (सन् १८९५) नाटक लिखकर 'सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा' ने अवैदिक मतो पर चुटकी लेते हुए एक छोटी-सी व्यंग्य-कथा लिखी जो शर्म्मा मैशीन प्रिटिग प्रेस मुरादाबाद' में छपी थी। लेखक ने इसको उपन्यास या कहानी

१. पृ० १९०
२. पृ० १३
३. पृ० ८७

नाम तो नही दिया और स्वर्ग की कल्पित घटनाओं से पूर्ण होने के कारण इस कृति में आधुनिक उपन्यास के गुण नहीं माने जा सकते। फिर भी सामयिक जीवन और उसकी सामाजिक समस्याओं के 'स्वर्ग की महासभा' में यथार्थ चित्र रहने के कारण हम इस रचना को उपन्यास-कोटि मे स्थान दे सकते है ' शब्द 'पब्लिक मीटिंग' का अनुवाद[1] है; लोकतंत्रीय संसदीय शासन-प्रणाली पर भी इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है।

ससार में बहुत गडबड देखकर जब देवता लोग घबरा गये और उनका कोई वश न चला तो एक दिन उन्होने एक पब्लिक मीटिंग की। कुमार जयन्त उसके सभापति चुने गये। सब देव अपनी-अपनी शिकायत सभा के सम्मुख रखने लगे। उनका कहना था कि भूतल के लोग उनका नाम ले-लेकर अनेक प्रकार का वितण्डावाद फैला रहे हैं। एक के बाद दूसरा प्रस्ताव आता चला गया। अन्त मे 'मोहम्मद साहब ने यूरोपीय लोगों को अपनी तेग दिखाकर धमकाया कि···आप लोग कैसे बन्दे खुदा हैं जो खुदा की इबादत में खलल डालना चाहते है'[2]।

इस पुस्तक का उद्देश्य है कि 'जगत् में ईश्वर की भक्ति बढे और मनुष्यो की श्रद्धा सत्य धर्म में बढे'[3]। अत धर्म के विषय मे जो 'फाल्स-रिपोर्ट'[4] दी जाती हैं उन पर सभा मे विचार किया गया है। सबसे प्रथम कर्मफल है। भारतीय दर्शन कर्मफल में विश्वास करता है, परन्तु पैगम्बरी मत देव-विशेष की दया से सुगति और कोप से कुगति मानते हैं, फलत: उनके अनुयायी अच्छे कर्म आवश्यक नही मानते प्रत्युत विशिष्ट सम्प्रदाय की रक्षा के लिए बुरे से बुरा काम करने को तैयार रहते हैं। सभा मे इस पैगम्बरवाद का खण्डन करके कर्मफल पर जोर दिया गया है; 'सुकर्म और कुकर्म करने वालों को स्वर्ग मे एक ही स्थान मिलता है तो हम लोग क्यो सुकर्म करते'[5]·····। यह आक्षेप इस्लाम और ईसाइयत पर है, वे न पुनर्जन्म मानते हैं और न कर्मफल; उनका एकमात्र सहारा तो ईश्वर का दूत अथवा ईश्वर का पुत्र है जो अपनी कृपा से अपने अनुयायियों को अखण्ड स्वर्गभोग एवं दूसरो को घोर नरक मे स्थान दिलाता है।

दूसरा आक्रमण पुराणपथियो पर है। 'इन देव-कुल-कलंककारी पुराण पुस्तकों को इतिहासों की लिस्ट से अवश्य काट दीजिए'[6]। इनके मिथ्या प्रचार से ईश्वर भी भयभीत है; आप 'लोग पुराणों को खारिज कीजिए नहीं तो मैं ईश्वरपन से इस्तीफा देता हूँ'[7]। एक ओर 'सनातन धर्म की रीति'[8] और दूसरी ओर सुधारवादिता यही तो उस युग का सघर्ष था। सनातन धर्मी पौराणिक मतो को ही सनातन एवं आर्य धर्म मानते थे, वे पुराणो को वेद से भी अधिक महत्व देना चाहते थे। परन्तु पुराणों के वर्णन बुद्धिसंगत नही थे। इसलिए बुद्धिवादी आर्यसमाजियों को पुराणों की 'लबड़धोंधो'[9]

---

१. पृ० २ २. पृ० ६६ ३. पृ० २०
४. पृ० १६ ५. पृ० ३ ६. पृ० ४६
७. पृ० ४५ ८. पृ० १६ ९. पृ० ३

स्वीकार्य न थी। 'नारद पंचरात्रादि पुस्तक रद्दी खाने मे फेंक दिये जायँ'[1] यह सभा का निश्चित मत लेखक ने प्रकट किया है। अस्तु, पैगम्बरियो के बाद पौराणिक के प्रति भी लेखक का रोष इस पुस्तक में अनेक स्थानो पर व्यक्त हुआ है।

प्रसगवश लेखक ने अंग्रेजी राज्य पर भी कटाक्ष किया है जो उस युग के लिए सामान्य बात नही थी। रिपब्लिकन गवर्नमेंट[2] अथवा प्रजातन्त्र के साथ-साथ लेखक ने 'साम्यवाद' भी स्वीकार किया है, जिससे उसका अभिप्राय जन्म से ही ऊँच-नीच, जाति अथवा वर्ग को न मानकर मानव-मात्र के प्रति समभाव से है। युग के अनुकूल वह प्रजातन्त्र का समर्थन करता है, और प्रत्येक नागरिक को एक वोट का अधिकार देना चाहता है। अंग्रेजी शासन की तुलना उसने असुरराज बलि के शासन से की है। राजा बलि का साम्राज्य विस्तृत था, उनकी प्रशसा दान के लिए की जाती है। यहाँ लेखक ने अंग्रेज सम्राट को राजा बलि बनाकर विदेशियो को असुरो के समकक्ष तो रख ही लिया, यह भी सकेत कर दिया है कि उनका यत्किञ्चित् उपकार (रेलगाडी आदि) आपकी तो अप्रत्यक्ष बलि ले लेते है, भारतीय समझते है कि अंग्रेजो न जीवन की नवीन सुविधाये देकर देश का बडा उपकार किया है वे यह भूल जाते है कि इनकी वेदी पर भारत का बलिदान हो गया — उसका व्यापार, उसकी कला, उसका साहित्य, उसकी सस्कृति सब कुछ ही तो स्वाहा होता गया है। अत देवो ने स्वराज्य को सर्वसम्मति से स्वीकार किया है, जैसी उन्नति हम आप लोगो की कर सकते है वैसी उन्नति विदेशीय राजा बलि नही कर सकते[3]।

सामाजिक चित्र के नाते 'स्वर्ग मे महासभा' एक उपयोगी पुस्तक है। इसकी भाषा समाचारपत्रोपयोगी एव शैली व्यग्यमयी है। यद्यपि इसको कहानी अथवा उपन्यास के घेरे मे रखना निर्विवाद न होगा, फिर भी सामयिक जीवन के यथार्थ चित्रो की रूपरेखा इसमे भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। प० रुद्रदत्त शर्मा सशक्त आर्यसमाजी पत्रकार थे। उनकी लेखनी से समाज की धार्मिक दुर्दशा का चित्र आकर्षक एव प्रभावशाली बन गया है।

इस पुस्तक को पढते हुए सहसा 'यमलोक की यात्रा' तथा 'स्वर्ग मे विचार-सभा का अधिवेशन' निबन्धो की याद आ जाती है। सन् १८८० ई० के 'सार सुधा-निधि' मे प० राधाचरण गोस्वामी ने 'यात्रा' का लिखना प्रारम्भ किया था, उसमे राजनीतिक और सामाजिक विषयो पर व्यग्य है, गोस्वामी जी सुधारवादी सनातन धर्मी थे। 'स्वर्ग में महासभा का अधिवेशन' भारतेन्दु का निबन्ध है, जिसमे 'उन्होने स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्रसेन के प्रति अपनी धारणा को स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया है'।[4] भारतेन्दु का निबन्ध भी हिन्दू-समाज में फैली हुई कुरीतियो और अन्ध-विश्वासों का वर्णन करता है। रुद्रदत्त शर्मा ने प्रथम तो उस शैली को पुस्तक-रूप दिया है, दूसरे धार्मिक विवेचन करते हुए अवैदिक मतों का खण्डन किया है।

१. पृ० २०
२. पृ० ५
३. पृ० ५
४. भारतेन्दु युग, पृ० ९८

श्यामकिशोर वर्मा के उपन्यास

काशी यात्रा

केवल धर्म-प्रचार की दृष्टि से लिखे गये उपन्यासो में महाशय श्यामकिशोर वर्मा का 'काशी यात्रा' भी है। यह सन् १९१६ में लाहौर से प्रकाशित हुआ था। मुख पृष्ठ पर ही इसको 'एक धार्मिक उपन्यास' लिखा गया है। 'प्रारम्भिक वचन' में वर्मा जी ने लिखा है कि ईसाई धर्म की उन्नति के जहाँ और कई कारण हैं वहाँ एक कारण यह भी है कि धर्म के प्रचार के लिए वह अपने टरैक्ट उपन्यास और कथा शैली पर ऐसे मनोरजक और रोचक छपवाते हैं कि जिनको पढकर जनता का मन ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हो जाता है—इस समय जब कि लोगो के मनो मे धर्म-ग्रन्थों मे अरुचि हो रही है वह विधि बहुत ही उत्तम है और उसी का अनुकरण करते हुए यह टरैक्ट जिसम सत्य सनातन वैदिक धर्म के सिद्धान्तो की महिमा दर्शाई गई है जनता की भेट किया जाता है। इस वचन' से यह स्पष्ट है कि इस उपन्यास का उद्देश्य समाज मे से उन दोषो का बहिष्कार है जिनके कारण ईसाई हिन्दुओ को धर्म-परिवर्तन कर, अपने मे मिला लेते हैं।

'काशीयात्रा' पाँच परिच्छेद और ५५ पृष्ठ का उपन्यास है। पौराणिक चचा शिवशकर और आर्यसमाजी भतीजे रामनारायण की कथा के व्याज से हिन्दू-समाज के उन अंधविश्वासो का वर्णन है, जिनके कारण हिन्दू ईसाई बनते चले जा रहे है। रामपुर ग्राम मे शिवशकर नाम का एक ब्राह्मण था, जिसके भतीजे का नाम रामनारायण था। शंकर अपने भतीजे को 'उत्तम-उत्तम कथा सुनाया करता था और देश की कुरीतियो पर घटो उसके साथ वार्तालाप किया करता था।[1] 'धर्म' और 'कुरीति' का शकर का अपना पोपलीला वाला अर्थ था। उसके मत मे बुद्धि का विकास करने वाली सभी बाते 'कुरीतिया' है, और बाबा-परम्परा से चलने वाली प्रथाए ही 'धर्म' है। वह कहता है कि 'रेल तो माओ अपने पहियो के नीचे हमारे धर्म और नियमो को कुचलती है', या 'ब्रह्मा ने ब्राह्मणो को इस वास्ते बनाया कि वह इस ससार मे और जातियो पर शासन करें'।[2] अन्त मे अति भोजन के कारण चाचा की मृत्यु हो गई, तब भतीजा अनाथ हो गया। आर्यसमाज ने उसको अनाथालय मे रखा और योग्य विद्वान् पडित बनाया। रामपुर से काशी तक की यात्रा मे चचा की मृत्यु और भतीजे का अनाथ बनकर रहने का ही चित्रण है।

उपन्यास-कला की दृष्टि से तो नही परन्तु सामाजिक समस्याओं की दृष्टि से 'काशी यात्रा' का भी विशेष महत्व है। लेखक ने छोटी-छोटी चर्चाओ द्वारा जिन कुरीतियो का वर्णन किया है वे ही आर्य जाति के पतन का कारण हैं। इन कुरीतियों को पाँच वर्गों मे रखा जा सकता है। प्रथम है ब्राह्मणत्व का पतन। जब वर्ण या जाति कर्म के स्थान पर जन्म से निर्धारित किए जाने लगे तभी से समाज का पतन

१. पृ० ४ २. पृ० २६

हुआ—इस पतन में ब्राह्मणों का विशेष स्थान है। ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर ही जब कोई व्यक्ति ब्राह्मण कहला सकता है तो उसे योग्य बनने की क्या आवश्यकता है। अस्तु, मूर्ख, पेटू, दुर्व्यसनी तथा अहकारी ब्राह्मणकुलांगारों ने समाज को डुबो दिया। वे मूर्ख यजमान के घर खा-खाकर उनको स्वर्ग का प्रमाण-पत्र देने लगे। श्राद्ध की पथा केवल पेट भरने के लिए ही है। ब्राह्मण भूखा मरेगा, चोरी करेगा, परन्तु मजदूरी नहीं कर सकता। इस उपन्यास मे इन्ही दुर्गुणो का चित्र है। कुरीतियो का दूसरा वर्ग अज्ञान से सम्बन्ध रखता है। जिसके कारण स्वय वेद-शास्त्र पढने में असमर्थ हिन्दू कपोल-कल्पित किस्सो में विश्वास करने लगा है। उसके देवी-देवता असख्य और विचित्र हैं। गणेश हाथी हैं, तो हनुमान बन्दर। कोई बलि चाहता है तो कोई श्मशान-सेवन। तीसरा वर्ग अन्धविश्वासो का है, जिसके अन्तर्गत शकुन एव शुभाशुभ विचार है। चतुर्थ वर्ग सामाजिक कुप्रथाओ का है जिनमें से इस पुस्तक में केवल अछूतो के प्रति दुर्व्यवहार का वर्णन है। अन्तिम वर्ग नवीन वैज्ञानिक सुविधाओ को धर्म के धक्के से बहा देना है। लेखक ने केवल रेल-यात्रा की चर्चा की है। ध्यान देने की एक बात है कि स्त्री-सम्बन्धी किसी कुरीति पर यहाँ प्रकाश नहीं डाला गया, न विधवा-समस्या है, न बाल-विवाह, न परित्यक्ता ललना है न अन्तर्जातीय सम्बन्ध। लेखक समाज के मोटे-मोटे दुर्गुणो को देख सका है उसके सूक्ष्म तन्तुओं को नही। उन्होंने मुसलमानों और ईसाइयो से अपने धर्म को रक्षित करने की युक्ति बतलाई है, परन्तु शुद्धि की कही चर्चा नही की। सारांशत: यह उपन्यास पुराणपथी की पोल खोलने के लिए लिखा गया है।

इन कुरीतियो का उपचार 'राजकुमारी देवी आर्याजाति का विवाह ऋषि वेद के शिष्य आर्यसमाज से कर'[1] देना है। लेखक के मत में 'सर्पो' से भयकर और विषैले संसार के सर्पों में से एक यह क्रिश्चियनिटी भी है—इस सर्प से डसा हुआ मनुष्य अपने धर्म को तिलांजलि देने के साथ ही अपने इस लोक और परलोक दोनो ही का नाश कर बैठता है'।[2] 'एक अति बलवान्, विद्या-धुरन्धर, बालब्रह्मचारी, वैद्य इस जाति में था जोकि वेद रूपी औषधि से इस कराल विष को हरता था'।[3] अस्तु वैदिक ज्ञान का प्रचार ही समाज की कुरीतियों को दूर कर सकता है, यही लेखक का निष्कर्ष है।

श्यामकिशोर वर्मा की भाषा सरल तथा सहज है। उनकी लेखन शैली में शक्ति है। कथोपयोगी कल्पना उनके पास थी। परन्तु उनकी रचना मे भाषण का गुण वर्णन की अपेक्षा अधिक है। जिस जनता के लिए यह उपन्यास लिखा गया है उसकी दृष्टि से सफल है।

---

१. पृ० ४६ २. पृ० २२ ३. पृ० २४

रामजीदास वैश्य के उपन्यास

धोखे की टट्टी

सन् १९०६ में 'फूल में कांटा' उपन्यास द्वारा यह दिखाकर कि 'लाड-चाव में साहूकारों के लडके कहां तक बिगड जाते हैं' 'और जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है' ग्वालियर निवासी बाबू रामजीदास ने दूसरा सामाजिक उपन्यास 'धोखे की टट्टी' सन् १९०७ मे लिखा। 'निवेदन' में लेखक ने बतलाया है कि 'अंग्रेजी में बहुत से ऐसे उपन्यास मौजूद हैं जिनमें विद्योपार्जन के समय किस प्रकार विद्यार्थियों को रहना चाहिए—यह बतलाया गया है'। परन्तु हिन्दी भाषा मे इनका अभाव है। किसी भी समाज के लिए विद्यार्थी-जीवन बडा महत्वपूर्ण है, इस अवस्था में जो आदतें पड जाती है वे जन्मभर नहीं छूटतीं, जो लोग इस जीवन को चतुराई से बनाते है वे भविष्य मे सुखी रहते हैं। इसी लिए लेखक ने 'एक छोटी सी पुस्तक अपने विद्यार्थी भाइयो को भी मनोरजन रूप मे भेट की' है। जिससे वे उत्साहित होकर नायक का अनुकरण करते हुए जीवन को ईमानदारी और परिश्रम से सुन्दर बनाने मे प्रयत्नशील बने।

'धोखे की टट्टी' १४५ पृष्ठ का छोटा-सा उपन्यास है। यह १५ परिच्छेदों में विभक्त है, प्रत्येक परिच्छेद का गद्य या पद्य मे शीर्षक भी लिख दिया गया है। समस्त वातावरण युवक विद्यार्थियो के समक्ष प्राप्य आदर्श प्रस्तुत करता है। कथा का मुख्य क्षेत्र कालेज-जीवन है। कैलाश, मदन और नगेन्द्र तीनो सहपाठी थे। कैलाश गरीब घर का परन्तु परिश्रमी और सच्चरित्र था। नगेन्द्र बडे घर का परन्तु अहकारी एवं नीच था। कैलाश नायक है और नगेन्द्र खलनायक, दोनो एक दूसरे के विपरीत है। कैलाश सदा कक्षा मे प्रथम जाता है, फिर भी विनयशील, निश्छल, एवं गम्भीर है। नगेन्द्र सदा कैलाश से जलता है, परन्तु कभी भी उसकी बराबरी न कर सका। मदन दोनो का सुपरिचित था, पहिले वह नगेन्द्र से अधिक प्रभावित था, परन्तु नगेन्द्र को धोखे की टट्टी समझने के बाद उसकी घनिष्ठता कैलाश से हो गई।

कालेज जीवन समाप्त होने पर दो घटनाए और महत्वपूर्ण है। कैलाश को जापान जाने का वजीफा मिला और अपने गुणो के कारण उन्नति करते-करते वह डिप्टी कलक्टर बन गया। नगेन्द्र जल-भुन कर भी सौ रुपये मासिक की नौकरी पर पडा रहा। जो स्पर्धा और द्वेष कालेज जीवन में था वह अन्त तक चलता रहा और नगेन्द्र ने भविष्य मे भी उसी प्रकार के छल-छद्मो से काम लिया। दूसरी घटना विवाह की है। मदनमोहन की बहिन सरस्वती उपन्यास की नायिका है। प्रारम्भ में वह नगेन्द्र से प्रभावित थी, परन्तु नगेन्द्र का व्यवहार अच्छा न देखकर वह उससे घृणा करने लगी; अन्त में कैलाश के साथ उसका विवाह हो गया। यह नगेन्द्र के जीवन का सबसे बडा आघात और कैलाश के सद्गुणों का दूसरा पुरस्कार था।

कैलाशचन्द्र उपन्यास का नायक है। काल-चक्र पर कठिनाइयों के आघात ने, कुप्रभावों को बचाते हुए, आदर्श को जिस व्यक्तित्व में ढाल दिया है वही कैलाशचन्द्र

है। उसके 'पिता नहीं; माता नहीं; कोई कुटुम्ब नहीं'[1]। गंभीरता, परिश्रम, और सचाई उसके जीवन की कुंजी है। मदन के परिवार से उसका परिचय हुआ और उसको स्नेह मिला; '...साथ मिल-जुल कर प्रेम बढ़ाते रहे, धीरे-धीरे मित्रता बन्धुभाव में बदल गई...आपने मेरा उत्साह बढाया, सच्चा साथ दिया और मेरे हृदय को जीवन भर के लिए कृतज्ञ बना दिया'[2]। कैलाश का जीवन दुर्बलताओं से रहित दृढ एव आदर्श है। लेखक ने उन कमियों का चित्रण नही किया जो ऐसे संघर्षमय जीवन मे स्वयं ही उत्पन्न हो जाती हैं। दुर्गुणो के लिए तो नगेन्द्रनाथ का सृजन है। वह धनी माता-पिता का अहंकारी पुत्र है। बाहरी बनावट से वह अपने को कैलाश से बढ़कर दिखाता है, परन्तु सत्य के सामने असत्य टिकता नही, सारा भेद खुल जाता है 'और नगेन्द्र की सब चालाकियां निष्फल'[3] हो जाती हैं। उसकी धोखे की टट्टी अवश्य टूट जाती और उसके पाप का घडा जरूर भर जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका व्यक्तित्व स्वाभाविक है। पारिवारिक उच्चता ने उसको अहंकार तो सिखाया परन्तु तदनुरूप परिश्रम नही। इसीलिए उसके जीवन मे जलन और कुढ़न है जो जीवन भर बढती ही रहती है। दोनो पात्र आदर्श हैं, अपने-अपने गुणो मे। अन्तर्द्वन्द्व किसी के भी जीवन में नहीं मिलता।

दो पुरुष-पात्रो के अतिरिक्त किसी तीसरे का चरित्र महत्वपूर्ण नही है। मदन और सरस्वती का कथानक में विशेष स्थान होते हुए भी उनका चित्रण लेखक को अभीष्ट नहीं है। नायक और खलनायक के, स्नेह-सम्बन्ध में मदन, बिन्दु है, तथा प्रणय-सम्बन्ध में, मदन की बहिन सरस्वती। प्रेम-धर्म में प्रसार और प्रतिक्रियारूपिणा ईर्ष्या मदन को लक्ष्य करते हुए सरस्वती मे पर्यवसित हो जाते हैं। मदन और सरस्वती एक ही व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। दो पुरुषो की प्रतिद्वन्द्विता के लिए, मदन स्नेह-बिन्दु है और सरस्वती प्रणय-बिन्दु। मदन वह बीज है जिसका फल सरस्वती है। जो ईर्ष्या मदन के साथ कैलाश के स्नेह मे जन्मी वह सरस्वती के साथ कैलाश का विवाह होने पर परिपक्व हो गई। लेखक ने इन सम्बन्धो का विकास नही दिखाया, एक-दो झाकी-मात्र चित्रित कर दी है। सरस्वती के मन का द्वन्द्व मनोविज्ञान का अभीष्ट होता, परन्तु लेखक ने उसकी उपेक्षा कर दी है।

इस उपन्यास में सामयिक प्रभाव है। तत्कालीन मनोवृत्ति के दर्शन तिलिस्म की योजना मे होते हैं। वर्णन बड़े कुतूहल-वर्द्धक हैं। अंग्रेज़ी, हिन्दी और सस्कृत के पद्य बीच-बीच में मनोरंजन एव नीति के लिए आ गये हैं। धर्म और पाप का सघर्ष एवं धर्म की जय तथा पाप की विफलता युग के अनुकूल ही चित्रित है। अन्तर्द्वन्द्व-रहित आदर्श चरित्र इस उपन्यास के प्राण हैं। लेखक ने अपने प्रथम उपन्यास के समान इसमें भी वातावरण बड़ा स्वच्छ रखा है। उस युग में अधर्म का चित्र प्रायः नग्नता में आकर्षक बन जाता था। रामजीदास ने अधर्म का चित्र नही बताया, उनका सकेत कर दिया था। इसलिए यह रचना युवकों का सुधार ही करेगी, उन पर कोई कुप्रभाव नहीं

१. पृ० १०७ २. पृ० १०८ ३. पृ० १३२

डाल सकती।

, लेखक ने इस उपन्यास का उद्देश्य, 'निवेदन' में स्पष्ट कर दिया है। वर्णन के प्रसंग में कुछ सामाजिक समस्याओं पर भी प्रकाश है। भूत-चुड़ैल के भय को लेखक मेसमेरिज्म के प्रभाव द्वारा समझाता है। जिस प्रकार मेसमेरिज्म के प्रभाव में व्यक्ति के मन मे नई-नई वस्तुएं बन जाती हैं, उसी प्रकार भूत-चुड़ैल आदि मन की गढ़न्त हैं; जहां भय हो वहाँ जाकर देख लेना चाहिये जिससे मन से भय का निवारण हो सके (पृ० ८)। दूसरा प्रस्ताव 'व्याह शादी में बुरे गीतों का गाना और बाजार में सीठने गाते हुए' निकलने के विरोध में है आर्थिक प्रश्न को लेकर रामजीदास ने जापान की प्रशंसा की है : 'जापान ही एक ऐसा देश है जहां सुन्दरता, कमखर्ची और आराम तीनो जुटे हैं'[1]। लेखक ने शिक्षा का उद्देश्य '.....अपने देश के कला-कौशल, व्यापार, व्यवसाय, अध्यवसाय का बढ़ाना। अपने शरीर, कुटुम्ब की चिन्ता के साथ अपनी जन्मभूमि की चिन्ता रखना.....'[2] माना है। अंग्रेजी लेखको के उद्धरण देकर उपन्यासकार ने यह विश्वास प्रकट किया है कि वैवाहिक जीवन का सुख पारस्परिक सन्तुलन मे है, पति और पत्नी एक-दूसरे को सुख देकर ही स्वय सुखी हो सकते है और उनका अविभक्त सुख समाज और राष्ट्र को सुखी बना सकता है; पत्नी को चाहिए कि वह पति के सदा अनुकूल रहे और पति पत्नी का सदा ध्यान रखते हुए सब प्रकार की व्यवस्था करे। (पृ० १३४)।

इस उपन्यास की भाषा सरल, साहित्यिक एव प्रवाहमयी है। लेखक ने कला की दृष्टि से इसे 'मनोरजन' से पूर्ण बनाने के साथ-साथ गम्भीर रखने मे सफलता प्राप्त की है। बीच-बीच मे लेखक पाठको से बाते भी करता जाता है जो सामान्यत: आकर्षक कही जा सकती है :

'क्या करूँ मालूम न था कि ऐसा मकान मिलेगा नही तो फोटो 'केमरा' लाकर उसकी तस्वीर उतार लेता—खैर पाठकगण आप उस कोठी के बाहरी हिस्से का अपने हृदय में ही फोटू खीच लीजिए।' (पृ० ७)

ऐसे स्थल अनेक है जो केवल वर्णन के लिए आये है और वर्णन समाज का नहीं प्रकृति का है। लेखक यह मान कर चला है कि उसके पाठक अंग्रेजी जानते होगे, इसलिए अंग्रेजी कवियो के उद्धरण उसने यत्र-तत्र दे दिये हैं। युग की नाटकीयता इस उपन्यास को भी प्रभावित कर रही है।

'फूल में काटा' नामक उपन्यास की अपेक्षा 'धोखे की टट्टी' अधिक विकसित रचना है। इसका कथानक अधिक सामान्य है और नायक आदि का जीवन समाज मे अधिक प्रतिबिम्बित मिलता है। उस उपन्यास मे दो भाइयों का तुलनात्मक जीवन था, इसमे दो सहपाठियो का। उसमें एक पारिवारिक कहानी थी, इसमे सामाजिक। इस उपन्यास का कथानक अधिक परिमार्जित रुचि का द्योतक है, कल्पना को अधिक विस्तृत क्षेत्र यहाँ मिल जाता है। यहाँ नवीन युग का प्रभाव अधिक है, और लेखक उसका

---

१. पृ० ११० २. पृ० ११२

तिरस्कार नहीं करता। इसका नायक उच्च शिक्षा प्राप्त कर विदेश जाता है और लौट कर देशोन्नति का सफल प्रयत्न करता है। साथ ही उसने सरस्वती के साथ नवीन ढंग का विवाह किया, यद्यपि प्रस्ताव माता-पिता का है, परन्तु भाई-बहिन पहले से ही इस विवाह के लिये योजना बना रहे थे। इस प्रकार यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि रामजी-वैश्य 'नई रोशनी' के विरोधी नही थे। सरस्वती को केन्द्र बनाकर कैलाश और नगेन्द्र का स्थायी प्रतिद्वन्द्विता सुन्दर मनोवैज्ञानिक प्रयास है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के उपन्यास

अधखिला फूल

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' या 'देवबाला' (सन् १८९९) उपन्यास में सवर्णता के कारण सम्पन्न अनमेल विवाह के कुपरिणाम चित्रित करने के बाद प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने दूसरा मौलिक उपन्यास 'अधखिला फूल' (सन् १९०७) लिखा। सन् १९१५ में यह उपन्यास 'दूसरी बार' छपा था। इसमें दो सौ अठारह पृष्ठ और सताइस पंखड़ियां हैं। उपाध्याय जी के ये दोनो उपन्यास सामाजिक हैं परन्तु इनका मुख्य उद्देश्य भाषा की क्षमता है। जार्ज ग्रियर्सन की अंग्रेजी[1] भूमिका से इसी सत्य का समर्थन होता है। प्रथम उपन्यास के समान इसमे भी प्राय दो अक्षरों के तत्सम शब्दों का प्रयोग है, अपवाद-रूप में तीन अक्षरों के दो-चार शब्दो का। 'अधखिला फूल' में तद्भव शब्द 'ऊमस, नेह, बयार, निहोरा, सुघर, सजीला, छबीली, बापुरे, सुघराई, सरबस, अनोखा, निबारती, नेरे, घनेरे, चेरे इत्यादि'[2] का प्रयोग है। भाषा का एक सामान्य उदाहरण देखा जा सकता है :—

'जिन जीवो की कमाई पूरी हो जाती है, जिनका पुन्न चुक जाता है, वह सब फिर सरग में आकर धरती में जनमते हे, ऐसे ही जीव यह सब रात के टूटते हुए तारे हैं'। (पृ० ४७)

इस उद्धरण मे 'पुन्न', 'सरग', और 'जनमते', ध्यान देने योग्य हैं। इनके तत्सम रूप बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होते हैं। 'अधखिला फूल' उपन्यास से पच्चीस वर्ष 'पूर्व 'परीक्षा गुरु' में इन तथा इनके समकक्ष शब्दों का तत्सम प्रयोग, है ग्यारह वर्ष बाद राधाकान्त' में भी इनको तत्सम रूप में अपनाया गया। फिर भी अयोध्यासिंह ने ठेठपन की प्रतिज्ञा के कारण इनका तद्भव रूप स्वीकार किया। आज साहित्यिक भाषा के लिए उपाध्याय जी का यह आदर्श मान्य नहीं हो सकता। भाषा को जान-बूझकर कठिन न बनाना चाहिए, परन्तु प्रत्येक 'बाहरी' शब्द को छांट-छांट कर बाहर निकाल देने से भी वह विकृत हो जाती है।

---

१. 'ही हैज सक्सैसफुली प्रूव्ड दैट इट इज ईजी टु राइट ऐलीगैंटली एण्ड एट दि सेम टाइम स्ट्रोंग्ली इन हिन्दी विदाउट हैविंग टु यूज फौरेन वर्ड्स'।

२. भूमिका, पृ० १६

'अधखिला फूल' उपन्यास नायिका-प्रधान है। सुन्दरी देवहूती के रूप पर रीझ कर लम्पट कामिनी मोहन ने वासमती मालिन की सहायता से यह प्रपंच रचाया कि यदि एक मास तक नियमपूर्वक देवहूती प्रतिदिन एक अधखिला फूल देवी पर चढ़ावे तो उसका प्यारा भाई रोगमुक्त हो सकता है। फूल अधखिला 'सूरज डूबते-डूबते' ही मिल सकता है। लम्पट खलनायक की यह चाल थी, जो अन्त में सफल न हुई। देवी को प्रसन्न करने की शर्त्त के आधार पर उपन्यास का नाम भी 'अधखिला फूल' पड गया। कथा में उत्सुकता जगाने के लिए और उपन्यास की सबसे महत्वपूर्ण घटना पर आश्रित होने के कारण यह नाम उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस उपन्यास का कथानक सरल एव सीधा है। पार्वती का पति वृद्ध था; उस के एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री देवहूती युवती थी, परन्तु उसका पति देवसरूप कहीं चला गया था। देवहूती पर दुष्ट कामिनी मोहन कुदृष्टि रखता था, उसकी सहायक वासमती मालिन थी। एक बार देवहूती का प्रिय भाई बहुत रुग्ण हुआ। पार्वती ने, पति के मना करने पर भी, ओझा को बुलाकर खोर-खटका दिखाया। वासमती ने ओझा से बातें कर लीं थी। इसलिए ओझा ने बताया कि यदि देवहूती प्रतिदिन एक अधखिला फूल मन्दिर मे चढ़ावे तो एक मास में उसका भाई स्वस्थ हो सकता है। देवहूती सन्ध्या समय जा कर फूल चढाने लगी। वासमती ने देवहूती को बातो में फंसाया : 'तुम्हारा समै यों ही निकला जाता है, तुम्हारा यह रूप, यह जीवन ! और कोई प्यार करने वाला नहीं ! जैसा चाहिए वैसा आदर नही'[1] ! ! 'देवहूती लहू मास से नहीं बनी है, जी उसको भी है···कहां तक वह इन फदों से बच सकती'[2]। एक दिन एक फूल को सूंघ कर देवहूती अचेत हो गई, कहारों ने आकर उसको पालकी मे डाला और एक कोठरी में पहुँचा दिया। परन्तु अन्त में 'धरम का बेडा पार'[3] हुआ। वासमती तड़प-तड़प कर मर गई। कामिनीमोहन के भी अन्तिम दिन आ गये। मरते हुए उसने प्रायश्चित किया : 'मैं पहले देवहूती को प्यार की डीठ से देखता था पर आज में उसको एक देवी समझता हूं[4]·····देवहूती अपनी मा और भाई के साथ आकर घर में रहे और फूलकुंवर और वह मिलकर सारी सपत सम्हाल करे, मेरे जी की प्यारी चाह यही है'[5]। देवसरूप भी घर वापिस आ गये और उन्होंने गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए समाज-हित के अनेक कार्य किये।

मुख्य पात्र तीन हैं—देवहूती, देवसरूप और कामिनीमोहन। जैसे नाम हैं, वैसे ही गुण भी। दोनों पुरुष-पात्र अपने-अपने गुणों की साक्षात् मूर्ति है। देवसरूप वस्तुतः देव-सरूप है, वह संसार में अधिक अनुरक्त न होने के कारण घर छोड़कर चला गया था, परन्तु प्रेरणा प्राप्त करके वह यथावसर वापिस आ जाता है। 'देवसरूप बहुत दिन इस धरती पर रहे, उनके हाथों देश का, देश के लोगों का बहुत कुछ भला हुआ, देवहूती

---

१. पृ० ७६ २. पृ० ८२ ३. पृ० २०४
४. पृ० १७७ ५. पृ० १७६

भी उनकी छाया थी, जितने भले काम देवसरूप ने किये उन सबमें उसका हाथ था'[1]। वस्तुतः घर से चले जाने के कारण देवसरूप कथा में एक-दो बार ही छिपकर पाठक के सामने आते हैं; उनका महत्व तो नायिका के उत्तर-चरित में ही है परन्तु खलनायक आदि से अन्त तक कथानक की धुरी बना रहा है। लेखक ने उसके विविध चरित्र का प्रकाशन नहीं किया, परन्तु नायिका के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बनाकर उसके व्यक्तित्व की सच्ची छाया प्रस्तुत कर दी है। कामिनीमोहन को 'नव्यसमाज' का प्रतिनिधि कहना चाहिए। वह लम्पट है और बहू-बेटियों को फंसा कर उनका धर्म-भ्रष्ट करने मे ही अपने जीवन को सफल मानता है। मालिन वासमती, और ओझा हरलाल उसके विशेष गण है। कई बार कामिनीमोहन सफल रहा होगा परन्तु देवहूती के साथ उसका प्रपंच अन्यथा परणित हुआ। प्रायश्चित करते हुए उसका कायाकल्प हुआ और मृत्यु की झकझोर से काई के समान मलिनता के हट जाने पर उसका चरित्र निर्मल जल के समान स्वच्छ दिखाई पड़ने लगा। दुष्ट पात्र मे सुधार की संभावना, यद्यपि दैवयोग से चित्रित की गई है, फिर भी चरित्रचित्रण का यह एक स्वस्थ प्रयास है।

देवहूती उपन्यास की नायिका है। अगर उसमे सीता की एक कला मानें तो देवसरूप मे राम की और कामिनीमोहन मे रावण की एक-एक कला माननी पडेगी। देवहूती में मध्ययुगीन नायिका की भी कुछ छाया है, पति के प्रवास-काल मे लम्पट पुरुष उसको अपने चंगुल में फंसाना चाहता है। इन दो के अतिरिक्त नायिका मे आधुनिकता भी है, वह दुर्बल है; पहले उसके मनमें कामना का कुछ चिन्ह नही होता, पीछे धीरे-धीरे उसकी एक झलक-सी दिखाई देती है'[2]। एक ओर कामिनीमोहन और वासमती उसको कुमार्ग पर ले जाना चाहते है, दूसरी ओर पार्वती और प्रच्छन्न देवसरूप उसे सावधान करते है। भाई के प्रेम ने उससे अधखिले फूल का व्रत कराया, परन्तु दुष्टो ने उस की दुर्बलता से लाभ उठाना चाहा। अन्त मे देवहूती असि-धारा-व्रत मे सफल हो गई। उसके पुण्य से उसका वियुक्त पति वापिस आगया और वह सपरिवार सानन्द रहने लगी। लेखक ने दुर्बलता को अकित कर देवहूती को मानवी दिखा दिया है, परन्तु व्रत में सफल सिद्ध होकर वह देवी बन गई है; दुष्ट कामिनीमोहन ही सर्वप्रथम 'उसको एक देवी समझता' है और 'उसके आगे मत्था नवाता'[3] है। यदि स्त्री पतिव्रता है तो उस पर संकट सफल नही हो सकता, पतिव्रता के तेज मे दुष्ट का भी कायाकल्प सम्भव है।

प्रस्तुत रचना एक सोद्देश्य सामाजिक उपन्यास है। नायिका-प्रधान होने के कारण इसमें नारी-जीवन की समस्या का ही अकन है। लेखक का विश्लेपण है कि नारी मानवी है इसीलिए उसमें दुर्बलताओ का निवास स्वाभाविक है, दुर्बलता पर विजय केवल पतिव्रत की ढाल से ही संभव है, विजयिनी बनकर नारी 'देवी' बन जाती है, तब समस्त सिद्धियाँ (पति-प्राप्ति आदि) उसका अनुकरण करती हैं, ऐसी देवी देश और समाज का भूरि-भूरि कल्याण कर सकती है—राष्ट्र को ऐसी ही देवियों की

१. पृ० २१७ २. पृ० १०८
३. पृ० १७७

आवश्यकता है, 'प्रियप्रवास' की राधा भी ऐसी ही देवी है। यौवन और पति का चिरप्रवास, फिर घरेलू अशाति मन को चचल करने के लिए पर्याप्त हैं। उस बढती हुई प्यास में ओस के चमकीले बिन्दु मन को क्षण भर के लिये लुभा सकते है। जिसने अब तक धर्म-पालन किया है उसकी अन्तरात्मा किसी न किसी माध्यम से पतन को चेतावनी देती है और प्राय: गिरने से बचा लेती है। यही व्रत है जिसके पुरस्कार-स्वरूप पति भी लौट आतीं है, आकर्षण लुप्त हो जाते हैं, धन-धान्य की प्रचुरता हो जाती है। 'पति अनुकूल सदा रह सीता' ही लेखक का आदर्श है; यदि उसने क्षण भर को भी पति की आज्ञा का उल्लघन किया तो उसपर कष्ट आ सकते हैं, पार्वती के मन में पछतावा है : 'जो अपने पति की बात नही मानती उसका भला कभी नहीं होता, पति ने कहा था जिस घर ओझा का पाँव पडा वही घर चौपट हुआ'।[1]

इस उपन्यास का दूसरा उद्देश्य धार्मिक अन्धविश्वासो का कुपरिणाम दिखाना है। गोस्वामी किशोरीलाल के समान उपाध्याय अयोध्यासिह यह तो नही मानते कि समाज मे जो कुछ विद्यमान है वह ठीक है, परन्तु उनका विश्वास है कि हमारी शास्त्रीय परम्पराएं स्वस्थ एव हितकारिणी है, उनके विपरीत लौकिक परम्पराओ में काफी अनर्गल मसाला भर गया है। जब तक संस्कार न होगा समाज सुधर नही सकता। पतिव्रत शास्त्रीय परम्परा है, इसके बिना नारी का हित सभव नही। परन्तु मन्दिर और तीर्थ, ओझा और सयाने परम्परा से विकृत हो चुके है। 'ओझा तो जहाँ जायगा, घर को बर्बाद कर देगा'। मन्दिरो मे पत्थर की देवी न मानव (देवहूती) के हृदय को समझ पाती है और न मानव (कामिनीमोहन) के मन को। समाज-कल्याण के लिए हमे पत्थर की देवी (फूलदेवी) के स्थान पर हाड-मांस की देवी (देवहूती) की स्थापना करनी होगी; पति को ईश्वर मानने वाली मानवी ही इस जगत के लिए पूजनीया 'देवी' है।

'धरम का बेड़ा पार'[2] तब तक नही माना जा सकता जब तक कि सज्जन को पुण्य का पुरस्कार मिलने के साथ-साथ दुर्जन को पाप का दण्ड न मिले। इसीलिए खलनायक और दूती का अन्त करुण है। मृत्यु के अजन से कामिनीमोहन की आँखे खुल गई क्योकि उसके सस्कार अच्छे थे, उसका सुधार लेखक की उस परम्परा में मौलिक योजना है, सभव है इस योजना को प्रेरणा देवहूती को अतुलित सम्पत्ति की स्वामिनी बनाना ही हो। वासमती दूती-साहित्य-परम्परा से आई है, मालिने दूती-कर्म में बड़ी योग्य मानी गई है, इसका नाम ही इसकी जाति का सूचक है—(वासमती)। उसके चरित्र से जो 'बास' आती है वह 'सुवास' नहीं, दुर्गन्ध है। उसकी तुलना 'चपला' उपन्यास की 'पत्ती' से की जा सकती है। लेखक ने इसके अन्त को दुर्गन्धिमय नही दिखाया, शायद इसलिए कि इसके कुकृत्य कभी सफल नहीं हुए, खलनायक की खलयोजना फली कहाँ, उपन्यास में यथार्थ नग्न-रूप जो नहीं है।

१. पृ० ८५ २. पृ० २०४

मनसा, वाचा और कर्मणा तीनों ही प्रकार से जैसा कर्म हम करते हैं वैसा ही तो उसी अनुपात हमें उसका फल भोगना पड़ता है।

उपन्यास-कला और वैयक्तिक दृष्टिकोण की दृष्टि से इस उपन्यास में कतिपय विशेषताएँ हैं। लेखक की दृष्टि में साहित्य-निर्माण का लक्ष्य भाषा एवं समाज का सुधार है। उसका उपन्यास शिष्ट एवं उन्नत समाज के लिए है, उसको आदर्श की ओर ले जाने वाला, उसका मनोरंजन करके उसे पथ-भ्रष्ट करने वाला नहीं। इसलिए शाश्वत नारी सीता (या राधा) की छाया से ही नायिका देवहूती का निर्माण उसने किया है। वह कथा के माध्यम से समाज, विशेषतः हिन्दू नारी को, सन्मार्ग की ओर ले जाना चाहता है। कला मे भी यह उपन्यास अपने काल से आगे बढ़ा हुआ है। इसमे भाषा की एक निश्चित नीति है। अन्य लेखकों के समान संस्कृत आदि के उद्धरण या ब्रज भाषा की कविताएँ इस रचना में नहीं है। कथोपकथन कम है, वर्णन अधिक। लावनियों और गीतों की योजना अपनी विशेषता है। कथाकार की अपेक्षा लेखक का कवि-रूप यहाँ अधिक चमकता है, वर्णन बड़े रम्य एवं भावुकता-पूर्ण हैं। अन्तिम अध्याय केवल आशीर्वाद के लिए है, कथा के हेतु नहीं। वर्णनो का बाहुल्य इस उपन्यास को सरसता प्रदान कर सका है।

रामप्रसाद सत्याल के उपन्यास

किरणशशि

घटनात्मक उपन्यास 'प्रेमलता' लिखने के बाद बनारस के पुरोहित रामप्रसाद सत्याल[1] ने सन् १९०९ में 'किरण शशि' नाम का एक 'औपदेशिक उपन्यास' लिखा। ८२ पृष्ठ और दस परिच्छेद की यह कहानी आत्मकथात्मक शैली में कही गई है। नायक जगमोहन के जन्म से लेकर सन्यास ग्रहण तक की इस कथा मे स्त्रियों के भिन्न-भिन्न रूप चित्रित किये गये है और यह संकेत किया गया है कि पुरुष के जीवन की कुञ्जी रहस्यमयी स्त्री के हाथ में है।

काशीवासी नारायणसिह पत्नी की मृत्यु के बाद कुछ विरक्त रहने लगे। पुत्र जगमोहन के बहुत कहने पर भी काफी दिनों तक उन्होंने विवाह नही किया। परन्तु पटना निवासी महेन्द्रनाथ की सम्मति मानकर उन्होंने चुपचाप महाश्वेता से विवाह कर लिया। जगमोहन अपने बालसहचर मन्मथकुमार के साथ बम्बई गया हुआ था। वहाँ कुमारी 'किरण सुन्दरी' पर वह मोहित हो गया, किरण सुन्दरी ही उपन्यास की मुख्य नायिका 'किरण शशि' है। किरण शशि भी नायक पर मुग्ध थी। कुछ समय बाद पुरुष-वेष में उसने नायक की सहायता की, और असली रूप प्रकट कर उसने विवाह कर लिया। बम्बई में नायक पर दूसरी स्त्री उर्वशी मोहित हो गई, परन्तु नायक के उपदेश से उसको ज्ञान हुआ और वह सन्यासिनी बन गई, सन्यासी होने पर नायक उससे

---

१. 'सत्याल' अथवा 'सन्याल'

मिलता है। नायक के जीवन में तीसरी स्त्री सुकेशी आई जो उसके अभिन्न मित्र मन्मथकुमार की अनुजा थी। सुकेशी के माता-पिता उसका विवाह नायक से कर देना चाहते थे, परन्तु सुकेशी विवाह किसी और प्रेमी से करना चाहती थी और नायक के साथ भी अपना सम्बन्ध बना रखने की इच्छुक थी। सुकेशी को उसके उस प्रेमी[1] ने छोड़ दिया तब वह नायक की पत्नी बनने को आई परन्तु नायक ने उसे स्वीकार न कर के किरणशशि से विवाह किया। इस पर एक दिन सुकेशी ने नायक पर छुरी से प्रहार किया जिसको बीच में सहकर किरणशशि ने प्राण त्याग दिये। इन घटनाओं से नायक का मन विरक्त हो गया और वह सन्यासी होकर बदरीनारायण चला गया।

यह उपन्यास एक युवक के भाग्याधीन अनुभवों का वर्णन है। चार स्त्रियां उस के भरे-पूरे जीवन को यहां तक लाने में कारण बनीं। सबसे प्रथम नायक की सौतेली माता महाश्वेता है, जिसने अपने पति को भी तंग कर रखा है, नायक पर वह चोरी का अपराध लगाती है; अन्त में सारी सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त करके वह उपन्यास से हट जाती है। वह उस स्त्री की प्रतिनिधि है जो अपने रूप-यौवन से किसी प्रौढ़ पुरुष को अपने चगुल में फसाकर उसके पहले पुत्र को सम्पत्ति से वचित करने का जाल बिछाया करती है। नायक के जीवन में तीन स्त्रियां और आईं, वे तीनों नायिकाएं हैं। किरण-शशि लेखक का आदर्श है, वह जिस व्यक्ति पर मुग्ध हो गई उसको वर्षों तक खोजकर उसकी पत्नी बनती है और उसके लिए हंसते-हंसते अपने प्राण त्याग देती है। नारी का यह आदर्श अपनी उज्ज्वलता में अनुपम है। उर्वशी नारी का प्रसादपूर्ण चित्र है। यदि किरणशशि प्रवृत्ति है तो उर्वशी निवृत्ति; नायक के लिए एक पत्नी है, दूसरी शिष्या। जिस कामोत्तेजना से वह नायक के पास आई उसी वेग से उसने संसार त्याग दिया; बद्रिकाश्रम में कहे गये उसके शब्द स्मरणीय हैं : 'जगमोहन ! भाग्य में लिखा नहीं मिटता। चलो संसार की तरफ से चित्त हटा लिया अच्छा ही है। सच पूछो तो संसार के फन्दे में रहने वाले मनुष्य को कभी सुख नही मिलता है'[1]। सुकेशी नारी का विकृत रूप है, उसकी कुछ-कुछ तुलना कविवर मैथिलीशरण गुप्त की शूर्पणखा (पंचवटीकाव्य) से हो सकती है। उसके सिद्धान्त कितने भयावह हैं : 'जब स्त्रियां कुछ किया चाहती हैं तो उसे रोक ही कौन सकता है। .....प्यारे, शादी ही में क्या धरा है जो तुम घबड़ा रहे हो ? शादी (दूसरे के साथ) होने पर भी मैं तो तुमसे इसी तरह मिला करूंगी। .....चोरी का प्रेम मीठा और मन को लुभाने वाला होता है। ...मैं भी पढ़ी-लिखी हूं और सब कुछ जानती हू ..द्रोपदी के पांच पति थे वह तो कभी भ्रष्टा नहीं कहलाई। मेरे तो नगेन्द्रचन्द और जगमोहन केवल दो ही हैं.....'[2]। अन्त में पापिष्ठा और प्रणयवञ्चिता सुकेशी नायक के प्राण लेने पर उतारू हो गई। शूर्पणखा के समान वह स्वच्छन्द है, भीतर से कलुषित होते हुए भी अपनी माया के कारण रूप-सौन्दर्य में अतीव आकर्षणमयी है। इन तीन नायिकाओं का 'स्त्री चरित्र' ही उपन्यास का मुख्य वर्ण्य विषय है। नायक के शब्दों में ही नायिकाओं की तुलना देखने योग्य है : 'जब मैं सुकेशी का

१. पृ० ७७ २. पृ० ४३

ख्याल करता हूं तो एकदम कुलकामिनाओ से घृणा उत्पन्न होती है। उर्वशी को मैं जब सोचता हू तो मन प्रसन्न हो जाता है। परन्तु आह ! जब किरणशशि की तस्वीर एका-एक मन मे पैदा हो जाती है तो मुझको उस समय असह्य कष्ट हो जाता है ''देखिये ! ससार में किरणशशि सी भी कुलकामिनी पैदा होती है जो अपने प्राण-प्यारे के लिए अपना अमूल्य जीवन भी दे देती है''[1]।

'किरणशशि' कथा-प्रधान सामान्य स्तर का उपन्यास है। इसकी भाषा सुन्दर है। यदि छापे की भूलो को सुधार लिया जाए तो भाषा को साहित्यिक कहा जा सकेगा। परन्तु चरित्रचित्रण, कथोपकथन, अथवा देश-काल के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से इस उपन्यास में साहित्यिकता नही पाई जाती। परिच्छेदो के शीर्षक नही हैं। कोई भी नीति-वाक्य, सूक्ति, या उद्धरण इस उपन्यास मे नहीं मिलता। लेखक के सम्मुख संस्कृत का मध्ययुगीन वाक्य 'स्त्रियश्चरित्र पुरुषस्य भाग्य, देवो न जानाति कुतो मनुष्य.' रहा है। उसने स्त्री के चरित्र और पुरुष के भाग्य को परस्पर कार्यकारण भाव से मिला दिया है। महाश्वेता के कारण नायक स्वच्छन्द बनकर घर से निकलता है और उसके भाग्य का अस्तोदय इन्द्रजाल के समान पाठक के सामने आने लगता है। जितनी आसानी से वह संपत्ति से वंचित हो गया, उतने सयोग ने उसको फिर ऐश्वर्यवान् बना दिया। उपन्यास की ये घटनाएं 'अलिफलैला' की कहानियो का बार-बार स्मरण कराती है और उनका यह सिद्धान्त-वाक्य पाठक के मस्तिष्क में घूमता रहता है : 'प्रयत्न करने पर भी भाग्य में न तो परिवर्त्तन हो सकता है और न उससे बचाव हो सकता है, और स्त्री जो कुछ चाहती है वही कर लेती है, पुरुष कुछ भी करे उसको रोक नही सकता।'[2] सोते हुए आदमी को चुरा मंगाने[3] वाली और पुरुष वेष में बहुत दिनो तक वकालत[4] करने वाली नायिका इस उपन्यास में है। नायक घुमक्कड भी है और सिगरेट-प्रेमी भी। मारवाडिन महाश्वेता, बगालिन सुकेशी, गुजरातिन उर्वशी और महाराष्ट्रिन किरणशशि सबका विवाह मथुरावासी परिवार मे हो, यह आश्चर्य का विषय है। कामार्त्ता उर्वशी की अभ्यर्थना पर नायक ने जो सामाजिक निष्कर्ष निकाला वह उसके सनातनी विचारो का द्योतक है : 'कन्याओं को पन्द्रह सोलह वर्ष की होने तक घर मे बिना शादी किये रखने का परिणाम ऐसा ही होता होगा'[5]। नायक को सन्यासी बनाकर लेखक ने सभी पुरुषों को मन पर विजय प्राप्त करने का एक सामान्य उपदेश दिया है; 'मन एक विचित्र पदार्थ है, जो इसको अपने वश में रख सकता है वही सुखी होता है और उसी का कल्याण होता है'[6]।

---

१. पृ० ८२
२. अरेबियन नाइट्स, भाग १, पृ० १३
३. पृ० १३
४. पृ० ६६
५. पृ० १५
६. पृ० ८१

कृष्णलाल वर्मा के उपन्यास

चम्पा

श्री कृष्णलाल[1] वर्मा ने सन् १९१६ ई० में 'हिन्दुओ के घरो का एक सच्चा और शिक्षाप्रद चित्र' चौदह परिच्छेद और ९१ पृष्ठो में 'चम्पा'[2] उपन्यास नाम से लिखा। 'प्रस्तावना' मे लेखक ने इस उपन्यास को अपना 'पहला ही प्रयत्न' बतलाया है। इस पुस्तक मे जितनी भी बातें लिखी गई हैं वे सब एक दो परिच्छेद की बातो को छोडकर सच्ची हैं। कहानी का घटनास्थल दिल्ली है और यह सामान्य जैन परिवार से सम्बन्ध रखती है।

पत्नी की मृत्यु के बाद मनोहरलाल ने बहुत दिनो तक विवाह न किया परन्तु अन्त मे किशोरी सुनहरी को उसके भाइयों को कुछ रुपया देकर मनोहरलाल ने अपनी पत्नी बना लिया। सुनहरी अपनी सौतेली पुत्री चम्पा को बडा दु ख देती थी और पति से उसे खूब पिटवाती थी। परन्तु चम्पा शिक्षित बालिका थी, वह न तो अपने माता-पिता का अहित चाहती थी और न उनकी निन्दा करती थी। सुनहरी ने चम्पा पर अनेक अपराध लगाये। यहा तक कि पति को जहर देकर उसको चम्पा के सिर मढ़ा। चम्पा को फासी का हुक्म हुआ, परन्तु अन्त मे वह बच गयी। उसका विवाह गोपाल के साथ हुआ, जो उसकी माता की सहेली का होनहार पुत्र था। सुनहरी को काले पानी की सजा मिली और चम्पा आदर्श गृहस्वामिनी बनी।

'किरणशशि' उपन्यास के समान 'चम्पा' मे भी वृद्धावस्था मे दूसरा विवाह करने के दोष दिखलाये गये हैं। उनमे सौतेले पुत्र की दुर्दशा उसको घुमक्कड और रोमानी बना देती है। इसमे सौतेली पुत्री घर मे रहकर अनेक कष्ट सहती है। दूसरी पत्नी अपने वृद्ध पति को और उसकी सम्पत्ति को अपने चगुल मे रखने के लिए सौतेली सन्तान को अपने मार्ग का रोडा समझती है। इसलिए समाज और न्याय के सम्मुख उसको नीच एव अपराधी सिद्ध करना चाहती है। महाश्वेता ने जगमोहन पर चोरी का अपराध लगाया और सुनहरी ने चम्पा पर। स्त्री होने के कारण चम्पा की व्यथा मर्मान्तक है।

सभी सौतेली माताएँ महाश्वेता और सुनहरी के समान दुष्टा हों, यह आवश्यक नही है। लेखक आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित है इसलिए 'स्त्रियश्चरित्रं, पुरुषस्य भाग्य, देवो न जानाति, कुतो मनुष्यः' लिखकर ही उसने स्त्री का लांछित चरित्र नहीं अंकित किया। सुनहरी दुष्टा है, कर्कशा है परन्तु स्वैरिणी नही। उसने चम्पा पर सभी अपराध लगाये परन्तु लाछन नहीं। लेखक का विश्लेषण है कि सुनहरी अपढ मूर्खा है, और चम्पा शिक्षिता, एव समझदार। यदि शिक्षा हो तो नारी घर की लक्ष्मी बन जाती है, शिक्षा के बिना वह घर की अशान्ति का कारण है। 'यदि चम्पा की मां उसे उत्तम आचरण करना नहीं सिखाती यदि उसे वह पाठशाला मे भेज कर उत्तम नीति के पाठ

---

१. गोहाना (रोहतक) निवासी

२. प्रकाशक—अमीरचन्द्र जैन, मालिक प्रेममाला कार्यालय, गोहाना, रोहतक।

नहीं पढ़वाती तो कभी मुमकिन नहीं था कि आज चम्पा प्रशंसनीय चम्पा बन जाती'[1]। दूसरी ओर सुनहरी के शब्दों में 'यदि मेरे भाई रुपये के लालच में पड़कर तेरे वृद्ध पिता के साथ मेरा व्याह न करते तो कदापि मेरी ऐसी दशा नहीं होती।.....मेरे कुकृत्यों को याद करके लोग वृद्ध विवाह करने से बचेंगे और तेरी सहनशीलता, उदारता, और क्षमापरायणता को देख सब अपनी पुत्रियों को शिक्षिता बनावेंगे'[2]। 'जिस घर में स्त्री सुशिक्षिता और उत्तम स्वभाव वाली होती है उस घर में, सौ दुःख के कारण आने पर भी, प्रायः विशेष शोक व्याप्त नहीं होता।'[3]

वृद्ध-विवाह और अशिक्षा के अतिरिक्त लेखक ने प्रसगवश कन्याविक्रय, पर्दा और भोपा-स्याने आदि कुरीतियों पर भी प्रकाश डाला है। कन्या-विक्रय की स्वयं सुनहरी ने निन्दा की है। पर्दे के भीतर रहने वाली सुनहरी की दुर्दशा पर लेखक ने विचार किया है। सन्तान के लिए भोपा या स्याने की बात मान कर वञ्चित होना मनोहरलाल के जीवन का अभिशाप है। लेखक का विश्लेषण है कि समाज की उन्नति शिक्षा से होगी और स्त्री-शिक्षा 'भारत को स्वर्गधाम' बना सकती है। स्त्री को लिखने-पढ़ने, सीने-पिरोने, कसीदा निकालने, और उत्तम-भोजन बनाने की शिक्षा देने के अतिरिक्त आध घण्टे के लगभग सदैव व्याख्यान भी'[4] दिया जाना चाहिए।

इस उपन्यास में चार पात्र है—दो स्त्रियाँ और दो पुरुष। नायिका चम्पा और उसकी सौतेली माता सुनहरी दो वर्गों की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है; एक वर्ग शिक्षिता उत्तरदायित्वपूर्ण महिलाओं का है, दूसरा अशिक्षित कर्कशा स्त्रियो का। दो पुरुष पात्र बड़े दुर्बल एवं नगण्य हैं। इन पुरुषों के विषय में किसी ने कहा 'पुरुष इतने हल्के नहीं हो सकते'[5]। वृद्ध मनोहरलाल तरुणी भार्या के हाथ में ऐसा नाचता है कि अन्त में अपना प्राण भी खो बैठता है, उसकी निश्चेष्टता निन्दनीय है, वह जान ही न सका कि पत्नी और पुत्री में से कौन सच्ची है और कौन झूठी।। चम्पा का पति गोपाल, यद्यपि बहुत दिनों से उनको प्रेम करता चला आ रहा था, फिर भी उसने अपनी भावी पत्नी की दशा सुधारने का यत्न नहीं किया। 'अलाहाबाद कालिज' में पढने वाला युवक इतना निष्क्रिय क्यों है, यह लेखक ने नहीं बताया। कदाचित् विवाह से पूर्व चम्पा के विषय में कुछ सोचना या कुछ कर सकना भोले गोपाल के लिए उस समय तक सभव न हो सका, जब तक कि चम्पा को पिता की हत्या के अपराध में फांसी की सजा न सुनाई गई। शिक्षिता चम्पा जितनी कुशल है, शिक्षित गोपाल उतना ही सुस्त। क्योंकि स्त्री का चित्रण करते हुए लेखक ने पुरुष की उपेक्षा कर दी है।

'चम्पा' उपन्यास का लेखक उत्साही है उसने आर्यसमाजी शैली पर उपदेश देकर जैन-समाज की दशा सुधारने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक परिच्छेद में कुछ सामान्य कविताएं शीर्षोद्धरण से आ गई हैं। भाषा चलती हुई है। कथोपकथन बहुत कम और वर्णन बहुत अधिक है। लेखक को मध्यवित्त समाज का बहुत अच्छा अनुभव था,

१. पृ० ६३ २. पृ० ८७ ३. पृ० ६
४. पृ० ८८ ५. प्रस्तावना

उसके चित्रांकण में सूक्ष्मता है। घटनाओं का नियोजन विश्वसनीय है। उपदेश का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देकर भी लेखक की यह प्रथम कृति कथानक की दृष्टि से रोचक एवं प्रभावशालिनी है।

अन्य सुधारवादी उपन्यास

राधा

आर्यसमाजी दृष्टि से रचित उपन्यासों में 'राधा' उपन्यास का विशेष महत्व है। इसमें २४८ पृष्ठ और ६ परिच्छेद हैं। पौराणिक स्थान मथुरा एवं पौराणिक पात्र नन्दकिशोर, वासुदेव, राधा, कृष्ण आदि को नवीन सुधारवादी रूप इस कल्पित कथा के माध्यम से दिया गया है। नायिका राधा के व्याज से आर्यसमाजी महिला की कठिनाइयाँ और उनके आदर्श सुझाव इस उपन्यास में वर्णित हैं। आद्यन्त लेखक की दृष्टि आदर्श चित्रण पर रही है। सुधारक आर्यसमाजी एव पौराणिक सनातनी जीवन का यथार्थ संघर्ष इस रचना का वर्ण्य विषय है। अनेक प्रसंगों की अवतारणा एवं दृष्टान्तों के द्वारा लेखक ने अधिक से अधिक सुधारों को अपने प्रचार का विषय बनाया है।

पडित नन्दकिशोर के पुत्र का नाम वासुदेव और पुत्री का नाम राधा था। पंडित जी का विश्वास था कि 'वह लोग बड़े मूर्ख हैं जो अपनी सन्तान को शिक्षा से हीन रखते हैं'[1]। वे जानते थे कि 'सन्तान न होने पर स्त्रियाँ कहीं शीतला ढोकती हैं, कहीं कीकर पेड़ के साथ मिल रही हैं, कोई सयानों या टोना करने वालों के फन्दों में फँस रही हैं'[2] 'यदि ऋषियों की आज्ञानुसार पच्चीस साल की आयु में विवाह करे और ब्रह्मचारी रहकर विद्या पढे तो यह उपद्रव संसार से आज दूर हो जाएँ'[3]। अस्तु, उन्होंने राधा को 'सत्यार्थप्रकाश, स्वामीजी कृत ग्रन्थ सब पढ़ा दिये'[4]। समय पर विवाह की समस्या आई। विवाह में पाँच शर्तें थी :—

(१) विवाह वैदिक रीति से होगा;
(२) स्त्रियों के गन्दे गाने न होंगे;
(३) गन्दे गानों की जगह घर में मंगलगान;
(४) रडी-भांडों का अपव्यय बन्द; और
(५) आतिशबाजी तथा बागवाड़ी पर धन नहीं खर्च किया जायगा।

इस विवाह मे 'जूतियाँ, नवग्रह, गणेश—सभी पूजन नहीं हुए; बकरे का कान तक चीर के वेदी पर नहीं बैठे'[5], प्रत्युत 'एक हजार रुपये वैदिक संस्थाओं को दान दिये और विधवाओं तथा कंगालों को भी दान दिया'[6]। यह सब शिक्षा के प्रताप से ही हुआ।

'राधा आर्यभाषा में दोहे आदि रच लेती थी'[7] वह बड़ा अच्छा व्याख्यान देती तथा रोचक दृष्टान्त भी सुनाती थी। फिर भी राधा 'घर का प्रबन्ध बनाने' में बड़ी कुशल थी। उसने गुणों से अपनी सास को अपने वश में कर लिया। धीरे-धीरे घर के

१. पृ० २३ २. पृ० २२ ३. पृ० २३ ४. पृ० २४
५. पृ० ६१ ६. पृ० ६२ ७. पृ० ६७

दूसरे स्त्री-पुरुष राधा से ईर्ष्या रखने लगे। अन्त में अनेक अपराध लगा कर राधा को घर से निकाल दिया गया। राधा ने पंडित जी के कुल से अलग होकर अपनी विद्या, धैर्य बल से जो-जो काम किए'[1] वे प्रशंसा के योग्य हैं। उसने बालिकाओं को कला तथा विद्या की शिक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। वह स्वयं अपनी सन्तान का भी पालन करती और समाज के सुधार में भी योग देती। उसका पुत्र जितेन्द्र आदर्श निकला। उसकी प्रतिज्ञा थी कि 'मैं ऐसे अत्याचारी समाज में रह कर अपने जीवन को कभी नाश न करूँगा और हिन्दू समाज में कुरीति प्रचारकों के समूह का अंग न बनूंगा'[2]। राधा ने बहुत अच्छी प्रकार प्रबन्ध करके अपने घर को मथुरा मे एक आदर्श घर बनाया'[3]। 'धर्म-मूरत राधा ने पचासी वर्ष की आयु भोगी'[4] और अपने गुणों से संसार के सामने नारी का एक उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया। उसका विश्वास था कि 'ईश्वर न्यायकारी है वह जो करता है सब अच्छा करता है, उसके कामों में हमको संशय न होना चाहिए'[5]।

यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास 'एक गल्प ही है'[6] फिर भी नायिका राधा के जीवन में पौराणिक राधा की झलक कहीं-कहीं प्रतिबिम्बित होती हुई दिखलाई पड़ती है। ऐसा लगता है कि किसी कल्पित राधा के चित्रण का अधिकार पौराणिको के समान किसी भी कथाकार को है। लेखक ने भी अपनी रुचि के अनुरूप एक राधा रच दी जो हरि-औध की राधा से इस बात में भिन्न है कि हरिऔध जी पुरानी राधा के शरीर में परि-वर्तन नहीं कर पाये जब कि प्रस्तुत लेखक ने राजा की अधिकाश परिस्थिति ही बदल डाली। राधा का जन्म ब्रज में हुआ। वह बडे बाप की गुणवती पुत्री थी। दूसरे परिवार के सम्पर्क में आकर उसका जीवन विषमता मे पड गया। फिर भी उसने धैर्य न छोडा बल्कि अपने गुणों से समस्त समाज का कल्याण करती हुई वह मथुरा की देवी बन गई। यह रूपरेखा सभी राधाओं की है। उसका विवाह और सन्तान नई उद्भावनाएँ हैं। लेखक ने कथानक में पौराणिक रेखाओ को पकड़ कर बडी सावधानी से एक अभीष्ट चित्र तैयार कर लिया है। इस दृष्टि से लेखक की प्रतिभा सराहनीय है।

उपन्यास-लेखक कट्टर आर्यसमाजी है और आर्यसमाज के प्रचार के लिए ही उसने प्रस्तुत उपन्यास की रचना की है। फिर भी उसकी दृष्टि सदा रचनात्मक रही है। दूसरे के दोष न दिखलाकर उसने एक वास्तविक समस्या को उठाया है। समाज के सभी दोषों का उपचार शिक्षा है; यदि पुरुष और स्त्रियां दोनों सुशिक्षित हों तो समाज के सारे पाप धुल जायँ। लेखक ने पैगम्बरी या पौराणिक मतों का खंडन नहीं किया, प्रत्युत कुप्रथाओं को दूर करने की विधि बतलाई है। सुधारवादी जीवन में सबसे अधिक कष्ट नारी को होता है क्योंकि उसको दूसरे घर जाना पड़ता है और यह आवश्यक नहीं कि नवीन गृहस्थ का वातावरण उसके अनुकूल ही हो। राधा की भी यही कहानी है। सुधारवादी पिता ने जितने मनोयोग से उसको शिक्षित किया था उतना ही असंस्कृत परिवार उसको अपने पति के घर मिला। अतः उसका विवाहित जीवन बड़ी कठिनाइयों में बीता। राधा के जीवन का चित्र अपने युग का सच्चा यथार्थप्राण चित्र है। परन्तु राधा

१. पृ० १२१ २. पृ० १८३ ३. पृ० २२१ ४. पृ० २८४ ५. पृ० २८४ ६. पृ० ५८

जिस धातु की बनी हैं उसमें उसका व्यक्तित्व ही झलकता है उसके वर्ग का जीवन नहीं। सामान्यतः राधा की परिस्थिति में पली हुई महिला इतनी दब्बू, शान्त एवं 'मीठी जबान' वाली कम ही मिलती है। लेखक ने उसके व्यक्तित्व पर उसके उच्च कुल का शील लाद कर उसे अत्यधिक नमित बना दिया है।

इस उपन्यास में समाज की जिन कुरीतियों का वर्णन है उसका वर्गीकरण निम्न-लिखित हो सकता है :—

(क) विवाह-सम्बन्धी—बालविवाह, विधवा-विवाह न होना, विवाह में स्वतन्त्र न होना,

(ख) शिक्षा—सन्तान विशेषतः पुत्रियों को शिक्षा न देना

(ग) अपव्यय—वेश्याओं का नाच, आतिशबाजी, भांड

(घ) अन्धविश्वास—वृक्षपूजा, विचित्र प्रकार के देवता, सयाने, टोना

(ङ) अश्लील गीत, बकरे की बलि

इनके स्थान पर लेखक ने कुछ सुधार प्रस्तुत किये है जिनको ब्रह्मचर्य, सुशिक्षा आर्यभाषा, समानाधिकार, मधुर भाषण, कला-कौशल, सत्य आदि वर्गों में रखा जा सकता है। उपन्यास-कला की दृष्टि से 'राधा' सामान्य है, इसका महत्व तो वर्ण्य-विषय के कारण ही है।

डबल बीबी

'श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस' से १४४ पृष्ठ और ३७ अध्यायों का एक सुन्दर 'गार्हस्थिक उपन्यास' 'डबल बीबी' छपा था, जिस पर लेखक का नाम अथवा प्रकाशन-काल नहीं पाया जाता। इस उपन्यास में 'पंडित रामप्रसाद' के पतन और पुनरुत्थान की कहानी आदर्श पत्नी गिरजा एवं नई पत्नी चमेली के व्याज से वर्णित है। गिरजा को गृहलक्ष्मी रूप में चित्रित करके लेखक ने उपसंहार किया है कि 'जिस घर में गिरजा सी लक्ष्मी घरनी है उस घर में लक्ष्मी का टिकना तो अवश्य है ही'।[1] इस भांति नायिका गिरिजा इस उपन्यास की सबसे प्रमुख पात्र है, उसके आदर्श जीवन मे दूसरी हिन्दू गृहणियों के लिए अनुकरण छिपा हुआ है। इस रचना में भावी सामाजिक उपन्यासों के कुछ बीज छिपे मिलते हैं।

'जगत में नारी जाति को जो कुछ जानना चाहिए गिरजा सब जानती थी' फिर भी उसकी सास उससे खुश न थी, क्योंकि गिरिजा बन्ध्या थी। सास के मन को देखकर गिरजा ने रामप्रसाद से हठ किया और उसका दूसरा विवाह चमेली से करा दिया। रामप्रसाद का मन धीरे-धीरे चमेली में लगा कि गिरजा को ठुकरा कर चमेली के भक्त बन गये चमेली दुर्बल नारी थी, उस पर रेखा मिसिराइन का बुरा प्रभाव था। उसने रामप्रसाद को पहिले गिरिजा से विमुख किया फिर उनकी माता से। उसका शौक बढता जाता था। रामप्रसाद घर से दुःखी रहने लगा, उसको रुपये उड़ाने पडे, शराब का चस्का लगा फिर सुन्दरजान का वह उपासक बना। रेखा के कहने से चमेली ने रामप्रसाद को कुछ खिला दिया, वह पागल हो गया। चमेली ने विष खा लिया, रेखा

१. पृ० १४०

को काले पानी की सजा मिली। सब लोग पाप के खुलने पर एक दूसरे को समझ गये। गिरिजा ने कहा : मैं तो प्रभु, किसी को दोष नहीं देती, प्रारब्ध ही सब की जड़ है जो नसीब में लिखा है उसको कोई मिटा नहीं सकता'।[1]

इस उपन्यास का कथानक बहुत सुलझा हुआ है और यदि यह मौलिक है तो कला के विकास का द्योतक है। हिन्दुओं में बहु-विवाह की प्रथा कदाचित् सन्तान के ही लिए चली होगी। आदिकाव्य से लेकर आज तक के साहित्य में यह समस्या हरी-भरी बनी हुई है। केवल हिन्दू-समाज में ही पितृऋण का इतना महत्व है कि सन्तान प्रत्येक व्यक्ति का धर्म बन गया है। सन्तान के लिए धर्मात्मा व्यक्ति भी दूसरा विवाह कर लेता है। रामप्रसाद की भी यही दशा हुई। वन्ध्या बड़ी पत्नी से छोटी युवती पत्नी सदा पति की दृष्टि में अधिक स्नेह की भाजन रही है। और सौतों में सद्भाव रह ही कैसे सकता है जबकि पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक हैं; 'भात बांटा जाता है जबकि भतार नहीं बांटा जाता'[2]। अस्तु, जिस घर में दो पत्नियां होंगी उसमें शाति नही रह सकती; और उस अशान्ति का शिकार बेचारा पति ही होता है। ऐसी अशान्ति में सहयोग देने वाली पडौसिनों की भी समाज में कमी नहीं, रेखा मिसिराइन उनकी प्रतिनिधि है; आग बुझाने के बहाने वह हाथ सेंकने लगी। दुर्बल चमेली चालाक रेखा की शिष्या बन गई और उसी के इशारे पर पति को अपने वश में रखने के उसके अनेक उपाय किये। एक ओर जादू-टौने ऐसी स्त्रियों का शिकार करते हैं। दूसरी ओर उनकी बढ़ती हुई मांगों से पति को घर से भयभीत रहना पड़ता है। चमेली के जीवन में दोनों हैं। अन्त में वह गिरिजा को विष देने लगी। परन्तु अन्त उलटा हुआ और वह बिष उसने पी लिया। गृहस्थ जीवन की यह घटना आज भी ज्यों की त्यों देखी जा सकती है। इस कथानक में कोई प्रासंगिक कथा नहीं है, कोई भी अनावश्यक प्रसग जोड़ा नहीं गया। लगता है कि कथानक ही लेखक का मुख्य उद्देश्य है समाज की आलोचना गौण।

'डबल बीबी' उपन्यास में नायक के अतिरिक्त चार पात्र मुख्य हैं और चारों मध्यवित-समाज की हिन्दू महिलाएँ हैं। 'किरणशशि'[3] उपन्यास में भी एक नायक और चार नायिकाएँ इसी वर्ग कीं है, परन्तु वहा नारी का केवल प्रेयसी रूप ही चित्रित मिलता है। यहां गिरजा और चमेली, तथा माता और मिसिराइन एक दूसरे के विपरीत हैं। गिरिजा में पत्नी का आदर्श और चमेली में दुर्बल नारी का यथार्थ रूप झाँक रहा है; यदि गिरिजा श्रद्धा है तो चमेली इडा है। माता और मिसिराइन भी एक दूसरे के विपरीत हैं, परन्तु माता दुर्बल-भोली है और मिसिराइन चालाक; लेखक ने रेखा मिसिराइन को 'रेखा बुआ' भी कहा है। रामप्रसाद की माता भोली है, वह वन्ध्या पुत्र-बधू से सन्तुष्ट नहीं थी, 'परन्तु रामप्रसाद की मां ने अपने हाथ से जो बीज बोया है थोड़े ही समय में उनको इसका फल भोग करना'[4] पड़ा। जब पुत्र हाथ से निकलने लगा तो माता ने घर से बाहर उसकी बातें कीं, उसे स्वयं नहीं समझाया। यह एक मनोवैज्ञानिक भूल है। जो अपना है उसे हमारी गलती बतलानी चाहिए न कि बाहर

१. पृ० १२५ २. पृ० १३८ ३. दे० पृ० १७२ ४. पृ० २८

फैलाकर हमको बदनाम करना चाहिए। अस्तु 'रामप्रसाद ने मन में ठाना कि जब मां हमारी घर-घर बदनामी करती है तब घर चाहे मिट्टी में मिल जाए मैं उससे बात भी नहीं करूंगा'[1]। 'बेटे ने समझ लिया कि मां का मुझ पर अब पहले का कुछ भी स्नेह नहीं रहा; मां ने भी समझा कि बेटे की पहिली मातृभक्ति अब कुछ भी मां पर नहीं है'।[2] अस्तु, दुर्बल माता का स्थान चालाक पड़ोसिन को मिल गया। रेखा बुआ बड़ी खराब नारी है वह 'सांप-रूप से काट कर वैद्यरूप से दवा करने'[3] वाली है। वह जिस घर में जाती है उसका सर्वनाश करती है। सहानुभूति दिखाने वालों में 'रेखा की रुदन मात्रा ही सबसे अधिक'[4] रहती है। लेखक ने स्वयं भी कहा है: 'धन्य रेखा मिसिराइन। धन्य तुम 'धन्य तुम्हारी माया'।[5]

दुर्बल रामप्रसाद उपन्यास का नायक है। जननी वर्ग और जाया वर्ग की दो-दो स्त्रियो के हाथ में खेलता हुआ वह अन्त में अपनी पतिप्राणा पत्नी द्वारा ही सत्पथ पर लाया जाता है। विशेषता यह है कि इस उपन्यास में रामप्रसाद के चरित्र का विकार अंकित किया गया है; प्रारंभ में वह मातृभक्त, सच्चरित्र तथा पत्नीव्रती था, परन्तु अन्त तक आते-आते वह शराबी, वेश्यागामी, विक्षिप्त तथा पैसा उड़ानेवाला बन गया। माता के कहने से उसने दूसरा विवाह किया, दूसरी पत्नी के कारण उसने पहली पत्नी और माता को छोडा। नई पत्नी के आभूषणों के लिए उसने गबन किया। घर से तंग आकर वह शराबी बना और मन बहिलाने के लिए वह सुन्दर जान के घर जाने लगा। एक दवा खाकर वह पागल-सा बन गया। लेखक के शब्दों में 'हम भी लिखते लजाते हैं कि इतने बड़े लिखे-पढ़े पण्डित रामप्रसाद नारीप्रसाद हो गये'।[6] 'जिसका एक बार पांव फिसलता है वह क्या फिर संभल सकता है'[7]। रामप्रसाद पर दया करके अथवा गिरजा के प्रताप से ही लेखक ने उपन्यास को सुखान्त बना दिया है; 'परमेश्वर ने जैसे उनका दिन फेरा वैसा सब का फेरे'[8]।

इस उपन्यास मे कथोपकथन अधिक नही है, परन्तु भाषा प्राञ्जल है। "डबल बीबी' नाम में गंभीरता नहीं है परन्तु उपन्यास की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, शैली तथा उद्देश्य गम्भीर हैं। प्रायः भाषा साहित्यिक है, परन्तु गिरिजा नायिका की भाषा घरेलू है, 'सब शब्दों को नाक की सान पर चढ़ा कर बोलना'[9] झुनिया का स्वभाव था, रेखा अपने वर्ग की भाषा बोलती है और जज साहब का निर्णय-वाक्य अंग्रेजी में है। लेखक के कुछ वाक्य बड़े मार्मिक हैं :—

(१) भारत में महिलाओं का यह अलंकार-प्रेम हिन्दू-गृहस्थ के क्रियाकलाप का क्रमशः लोप कर रहा है। (पृ० २५)

(२) लेकिन रामप्रसाद डर के मारे सिकुड़ कर सोंठ हो गये वह खबरदार क्या होंगे ? (पृ० ३१)

---

१. पृ० ४७ २. पृ० ५५ ३. पृ० ४३ ४. पृ० १२०
५. पृ० ११६ ६. पृ० ३१ ७. पृ० ८६
८. पृ० १४१ ९. पृ० ११

(३) बिजली सी हँसी पर एक भयानक मेघ दिखाई दिया। फिर टपाटप बूंदें आने लगीं। (पृ० ५०)

(४) हजार हो, तो मां का प्राण है बेटे के अमंगल की बात सुनकर कहां स्थिर रह सकती है। (पृ० ११८)

सामान्यतः इस उपन्यास में दूसरे विवाह के कुपरिणाम दिखाये गये हैं। साथ ही दुर्बल व्यक्तियों के पतन का इतिहास भी है। अकारण दुष्टा रेखा और आदर्श पत्नी गिरिजा के अतिरिक्त शेष तीनों पात्र दुर्बल एवं यथार्थ हैं। उद्देश्य यह भी दिखाना है कि 'इस संसार में सब कुछ जाना जा सकता है लेकिन आदमी का स्वभाव नहीं समझा जा सकता। जगत् में जितने आदमी हैं उतने ही तरह के उनके स्वभाव भी हैं...'[1]। लेखक ने मानो पाठकों को चेतावनी दी है कि 'खबरदार रहो। यह संसार बड़ा विकट स्थान है। एक बार भूलने से भी रक्षा नहीं है। खूब सावधान होकर चलना चाहिए'[2]। चन्द्रहार पाने की कामना ने ही रामप्रसाद से गबन कराया, इसी समस्या का पूर्ण विकास 'गबन' उपन्यास में हुआ है। घर की अशान्ति से सम्भ्रान्त युवक भी किस प्रकार दुर्व्यसनी बन जाते हैं, यह रामप्रसाद के जीवन से सीखा जा सकता है। चमेली और रेखा का बुरा अन्त दिखाकर लेखक ने कर्मफल में विश्वास प्रकट किया है। कथा-शैली भी अन्य सामान्य सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा प्रौढ़ है। यहां कोई भी अविश्वसनीय अथवा अवांछनीय दृश्य नहीं मिलता। आर्यसमाज और सनातन धर्म के संघर्ष में न पड़ कर लेखक ने हिन्दू गृहस्थ की एक सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण समस्या को उठा कर उसे आदर्श की तूलिका से अंकित किया है। कला की दृष्टि से यह उपन्यास प्रौढ़ तथा सफल है।

ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यास

राधाकान्त

बंगीय साहित्य की मार्मिकता से प्रभावित होकर बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने प्रेमचन्द-पूर्व-काल के अंतिम दिनों मे कुछ सुन्दर एवं भावुक उपन्यास हिन्दी को दिये। इनमें से 'लालचीन', 'सौन्दर्योपासक', तथा 'राधाकान्त' विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं। 'लालचीन' ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें लालचीन नामक दास अपने स्वामी का सर्वनाश कर देता है। 'सौन्दर्योपासक' में दु.खान्त प्रेम का भावात्मक वर्णन है। 'सौन्दर्योपासक' का नायक स्वच्छन्द प्रेम का उपासक है। अपने विवाह के अवसर पर ही वह अपनी साली के रूप पर रीझ गया और उससे प्रेम करने लगा। साली भी उससे प्रेम करने लगी, परन्तु उसका विवाह एक दूसरे व्यक्ति के साथ हो गया। फलतः दोनो घरों में भावुकता-जन्य अशान्ति रहने लगी। दोनों बहिनें घुल-घुलकर मर गयीं और नायक रोने के लिए बच रहा। इस उपन्यास की समस्या सामाजिक और मनोवैज्ञानिक

---

१. पृ० ८३ २. पृ० ४८

दृष्टि से बड़ी स्वाभाविक है। यदि मालती (साली) का विवाह दूसरे के साथ न हो जाता तो किशोरीलाल गोस्वामी के 'पुनर्जन्म वा सौतियादाह'[1] उपन्यास की छाया में दोनों बहिनें एक ही घर में आकर जीवन बिता सकतीं। परन्तु मालती किसी दूसरे की पत्नी है, इसलिए असन्तोष में प्राण देने के अतिरिक्त उसके पास और कोई मार्ग शेष नहीं बचता। लेखक ने समाज की ज्वलन्त समस्या का कवित्वपूर्ण चित्रण किया है।

ब्रजनन्दन सहाय का सर्वश्रेष्ठ 'सामाजिक उपन्यास' तो 'राधाकान्त'[2] है जिसका प्रकाशन 'सौन्दर्योपासक' के अनन्तर हुआ था। इसकी 'भूमिका' पर दिनांक ३०-७-१२ लिखा हुआ है, परन्तु प्रकाशक के नाम के साथ 'सन् १९१८ ई० मुद्रित' छपा है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस उपन्यास की रचना तो 'सौन्दर्योपासक' के साथ ही साथ[3] सन् १९१२ ई० में हो गई थी, परन्तु लेखक ने इसका प्रकाशन उस समय कराया जब 'सौन्दर्योपासक' का रसिकों ने यथोचित आदर किया'।[4] यह उपन्यास दो खण्डों में विभक्त है। 'बंग नाटककार गिरीशचन्द्र घोष कृत 'बांगाल' नाम्नी एक छोटी-सी कहानी के आधार पर इस उपन्यास के प्रथम खण्ड की रचना स्वतन्त्र रूप से की गई है, किन्तु दूसरे खण्ड में कहीं से सहायता नहीं ली गई है।'[5] प्रथम खण्ड 'राधाकान्त की आत्मकहानी' है और द्वितीय खण्ड में 'हरेन्द्र की आत्मकहानी' है।

'राधाकान्त' उपन्यास की 'भूमिका' बड़े महत्व की है। उसमें तत्कालीन हिन्दी-उपन्यास की गतिविधि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। एक वाक्य में लेखक ने आलोचना कर दी है कि 'आजकल उपन्यासो का बाजार इतना गरम है कि कभी-कभी लोगों को उपन्यास का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़नी पड़ती हैं।' उपन्यास नाम से कितनी ही ऐसी पुस्तकें छपती थीं 'जिनके देखने में जो समय लगता है वह व्यर्थ ही जाता है।' क्योंकि अधिकतर उपन्यास तो 'घटनापूर्ण, अश्लीलतामय, चरित्रनाशी, रसीली कहानियां' मात्र ही हैं। उन तथाकथित उपन्यासों की तीन कमियां हैं—लेखकों में गम्भीरता का अभाव, अंग्रेजी उपन्यासो का अनुकरण, तथा पात्रों की अवहेलना कर के घटना पर दृष्टि जमाना। लेखक के ही शब्दो में—

(क) भविष्य में उपन्यास आदि ही के सहारे लोग समाज, देश तथा जाति की रीति-नीति एवं आचार-विचार से अवगत होते है।.....उपन्यास लेखको को उपन्यास बहुत सोच-विचार कर लिखने उचित हैं।

(ख) यह कभी नही चाहिए कि अंग्रेजी उपन्यासों के आधार पर, जिसके जी में आवे, लिख बैठे.....।

(ग) आजकल के उपन्यासों में विशेष ऐसे ही हैं कि जिनमें पात्रों का चरित्र तथा भाव भली भांति वर्णन करने का कष्ट नहीं उठाया गया।

---

१. दे० किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास
२. प्रकाशक—हरिदास एण्ड कम्पनी, मथुरा
३. आलोचना, उपन्यास-विशेषांक, पृ० ७७
४. 'राधाकान्त' की भूमिका
५. 'राधाकान्त' की भूमिका

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उस काल के अधिकतर उपन्यास सामान्य पाठकों के लिए सामान्य लेखकों द्वारा लिखे जाते थे, मनोरंजन के साथ उनका ध्यान सामाजिक उत्थान की ओर प्रायः नही था।

उस बरसाती प्रवाह में 'राधाकान्त' उपन्यास एक स्वच्छ एवं गंभीर स्रोत के समान है। भाषा एवं शैली के अतिरिक्त इसकी तीन विशेषताएँ और हैं—आदर्श चरित्र, छात्रों की सहायता, तथा सामाजिक कुरीतियों की आलोचना। लेखक ने 'भूमिका' में इन विशेषताओं की स्वयं भी विज्ञप्ति की है :—

(क) जब घटना-पूर्ण, अश्लीलतामय, चरित्रनाशी, रसीली कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते आप लोगों का जी ऊब जाय तब आप लोग इसे अपने हाथ में लीजियेगा और देखियेगा कि आप लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है वा नहीं, आप लोग कुछ शान्ति इसमें अनुभव करते हैं वा नहीं।

(ख) घटना की ओर विशेष ध्यान न देकर निबन्ध रूप से इसमें वर्णना दी गई है। इसका लक्ष्य यह है कि स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियों को भी निबन्ध लिखने में इससे किंचित् सहायता मिल सके।

(ग) आधुनिक भावों और घटनाओं का इसमें यथेष्ट समावेश है। जिसमें परोक्ष रूप से सामाजिक कुरीतियों पर साधारण आलोचना की गई है।

केवल 'भूमिका' में ही नही उपन्यास की कथावस्तु में भी लेखक ने ऐसे प्रसंग की योजना की है जिससे हिन्दी के तत्कालीन उपन्यास-साहित्य तथा आलोचना-प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। यह निश्चय है कि पाप बुरी वस्तु है और समाज से पाप का उन्मूलन होना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह है कि साहित्यकार इस उन्मूलन में किस प्रकार सहयोग दे। समाज का घृणित यथार्थ चित्र अंकित करने वाले कहते हैं कि साहित्य के भीतर पाप का चित्र देखकर पाठक उसको जड़ से उखाड़ना सीखता है, प्रत्युत यह कहना अधिक उचित होगा कि कुत्सा के सभी कलाकार अपनी कला का चरम लक्ष्य कुत्सा का सर्वनाश ही बतलाते हैं। यह सिद्धान्त भ्रामक है। 'पाप की अद्भुत आकर्षण-शक्ति होती है।.....दूर भागने पर पाप पीछा नही करता; किन्तु निकट जाने पर चिमट कर घेर लेता है'[1]। यदि कोई यह कहे कि 'प्रकाशको के लिए अर्थ-लोभ से, जो जब मन में आता है लिख मारता हूँ। मेरी रुचि स्वतंत्र नहीं है। अल्प दाम पाकर, प्रकाशकों के आज्ञानुसार, मैं प्रबन्धों को लिखा करता हूँ'[2] तो वे लेखक भी इस अपराध के भागी अवश्य हैं जो अपनी रचना के द्वारा अपने पाठकों और दर्शकों को इस कुमार्ग पर चलने में सहायता देते हैं'[3]। क्योंकि हिन्दी में 'सहस्र-रजनी-चरित्र'[4] के समान ऐसी अनेक पुस्तकें हैं जिनका पाठक पर बुरा चारित्रिक प्रभाव पड़ता है, पाठक को उनकी बुरी बातें ही आकृष्ट करती हैं : 'गुलाम दस्तगीर अपनी भगिनी के संग इश्क का दम

१. पृ० ५८
२. पृ० १०६
३. पृ० १६
४. पृ० १३

भरता नजर आया'[1]। अस्तु ब्रजनन्दन सहाय ऐसे लेखकों को साहित्यनाशक एवं समाज-ध्वंसक समझते हैं। कहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे उच्च आदर्श को लेकर चलने वाले कलाकार और कहाँ बरसाती मेंढको के समान नये-नये अपस्वर निकालने वाले सहस्रों उपन्यासकार। लेखक ने अत्यन्त खेद के साथ लिखा है: 'व्यर्थ भारतेन्दु ने उत्तमोत्तम नाटकों की रचना की। श्रीनिवासदास का भी परिश्रम निष्फल ही गया'[2]। भारतेन्दु की सदाशयता से सब लोग परिचित हैं। श्रीनिवासदास ने भी अपने नाटकों और उपन्यास से जो उच्च आदर्श प्रस्तुत किया था उसकी (विशेषत: 'परीक्षागुरु' के उच्च सामाजिक स्तर की) लेखक ने महत्ता स्वीकार की है और श्रीनिवासदास को भारतेन्दु के बाद सर्वोच्च स्थान दिया है।

हमारे आलोच्य-काल की एक विशेषता यह थी कि लोग मौलिक न होने पर भी मौलिकता का दावा करते थे; बड़े-बडे लेखकों के विषय में भी यह विचारणीय समस्या है कि उनको किस अंश में मौलिक माना जाय। ब्रजनन्दन सहाय ने एक स्थल पर इस विशेषता की बडी स्पष्ट आलोचना की है: 'साधारणत: आजकल तो उपन्यास इसी ढंग से लिखे ही जाते हैं। मैंने तो एक साधारण लेखक की छाया ली है। लोग तो ऐसे हैं जो बकिम आदि प्रसिद्ध लेखकों की पुस्तकों का अविकल अनुवाद करके भी स्वतन्त्र ही लेखक गिने जाते हैं। अपने ग्रन्थों में लोग यह स्वीकार करने का कष्ट नहीं उठाते हैं कि अमुक ग्रन्थकार की अमुक पुस्तक के आधार पर उन लोगो ने लिखा है वा अमुक पुस्तक का अनुवाद किया है। बात खुल जाने पर कह बैठते हैं कि संयोग से भाव टकरा गया है। आगे तो हमने इस पुस्तक को नही देखा था'।[3] लेखक का यह कथन अक्षरश: सत्य नही मानना चाहिये। परन्तु इतना सत्य है कि उस युग में छान-बीन कम होने के कारण इस प्रकार का छल किसी सीमा तक खुलने से बच जाता था। क्योकि 'अभी तक हिन्दी-भाषा में यथार्थ समालोचना की प्रथा नही चली। जो समालोचना तुम प्राय: देखते हो वह विज्ञापन-मात्र है·····समालोचना करते समय प्राय: पुस्तकों की ओर ध्यान न देकर, लोग व्यक्ति-विशेष की ही आलोचना करने लगते हैं'[4]। फलत: साहित्य के बाजार में सस्ता सौदा भरता जा रहा था और दुकानों पर कम समझ ग्राहकों की भीड लगी रहती थी। उपन्यास के विषय में तो सबसे पहले यह कहा जा सकता है कि 'यों कोई पुस्तक-विशेष किसी विशेष उद्देश्य से लिखी गई हो, तो वह दूसरी बात है; किन्तु साधारणत: इस श्रेणी की पुस्तकें पाठकों के चित्त-विनोदार्थ ही लिखी जाती हैं'[5] और यह निश्चय है कि 'जो काम केवल आमोद ही के लिए किया जाता है, जिस कार्य का कोई उच्च लक्ष्य नहीं होता वह कदापि वैसा उत्तम नहीं हो सकता'[6]। बाबू ब्रजनन्दन सहाय के ये आलोचनात्मक विचार आलोच्य युग के साहित्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

---

१. पृ० १५ २. पृ० १५ ३. पृ० १०७ ४. पृ० ११०
५. पृ० ११२ ६. पृ० ११३

अब 'राधाकान्त' उपन्यास की कथावस्तु पर आइये। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस उपन्यास के दो 'खण्ड' हैं; प्रथम खण्ड १२ परिच्छेद और ८३ पृष्ठों में राधाकान्त की आत्मकहानी कहता है; द्वितीय खण्ड में १२ परिच्छेद तथा ९७ पृष्ठों में हरेन्द्र की आत्मकहानी कही गई है; इस प्रकार सब मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास में केवल १८० पृष्ठ हैं। प्रथम खण्ड पर एक बंगीय कहानी की छाया है, परन्तु द्वितीय नितान्त स्वतन्त्र एवं मौलिक है। राधाकान्त और हरेन्द्र दोनों सहपाठी थे। राधाकान्त निर्धन था और हरेन्द्र धनी। धनी मित्र के साथ रहकर राधाकान्त का पतन होता चला गया, अन्त में उसने वैराग्य ले लिया। हरेन्द्र माया के आकर्षण को जानता था, इसलिए वह सरल जीवन की ओर आकृष्ट हुआ। वह शुद्ध जीवन बिताता हुआ अपने परिजन-पुरजनों के साथ स्नेहमय व्यवहार करता है; राधाकान्त के माता-पिता को अपने माता-पिता के समान आदर और सम्मान प्रदान करता रहता है। इन दो नायकों के अतिरिक्त कथा में दो पात्र और मुख्य हैं, दोनों दुश्चरित्र—एक पुरुष सुखदेव और एक स्त्री खत्राणी; खत्राणी की हत्या करके सुखदेव प्राणदण्ड प्राप्त करता है। इस प्रकार कथानक सरल एवं स्वल्प है। इसका विकास आदर्श, उपदेश तथा निर्मलता में होता है। द्वितीय खण्ड के ग्यारहवें परिच्छेद में थोड़ी-सी जासूसी आ गई है। महात्मा ज्ञानानन्द की कई स्थलों पर सहायता कुछ अस्वाभाविक-सी भी बन गई है।

प्रथम खण्ड में राधाकान्त की आत्मकहानी इस प्रकार प्रारम्भ होती है :'मैं एक किसान का लड़का हूँ और मेरा घर देहात में है, मैं साधारण कुल का बालक हूँ'[1] फिर वह हरेन्द्र से अपनी तुलना करता हुआ कभी कृष्ण-सुदामा का दृष्टान्त याद करता है, कभी ईश्वर के असम वितरण रूपी अन्याय पर विचार करता है, कभी उसके मन में सौभाग्य-लाभ का विश्वास जगता है, कभी प्रारब्ध की अटलता उसके हृदय में बैठ जाती है। अन्त में वह संसार से पलायन करता है : 'पृथिवी में अब कोई मेरा पता नहीं पावेगा, मुझे ढूंढ़ने की चेष्टा मत करना'[2]। हरेन्द्र की कहानी प्रथम खण्ड से ही मिलने लगती है। हरेन्द्र की परिस्थिति को देखकर राधाकान्त को अपनी दशा और भी खलने लगी : 'क्यों किसी को दैवात् अनन्त धन दूसरे से मिल जाता है और वह बिना कुछ काम-काज किये सुख से अपने दिन बिताता है और दिन-रात परिश्रम से अपनी हड्डियों को तोड़ कर भी मैं, सुख से भर पेट खा नहीं सकता'[3]। हरेन्द्र अपनी स्थिति को समझता है : 'सब मेरी सम्पत्ति को चाहते हैं, मुझे कोई नही चाहता'[4]। ग्राम में जाकर मानो उसकी आखें खुल गईं : 'पहले मुझे अनुभव नहीं था किन्तु अब समझता हूँ कि जो पवित्रता, स्वच्छता, सरलता नीरोगता तथा आनन्द यहां राज्य करता है वह स्वप्न में भी हम लोगों को नगर में प्राप्त नहीं हो सकता'[5]। द्वितीय खण्ड में हरेन्द्र, सुखदेव तथा खत्राणी की कहानी है। यहाँ हरेन्द्र की आस्तिकता तथा सद्गुण अंकित किये गये हैं। कामार्त्ता खत्राणी मानो पश्चिम के भोगवाद की प्रतीक है नायक भारतीय संयम का। अन्त में

१. पृ० १ २. पृ० ८१
३. पृ० ८ ४. पृ० ४८ ५. पृ० ४०

ईश्वर-प्रार्थना, पश्चाताप, और सत्पथ से सब लोग शान्ति प्राप्त करते हैं।

इस उपन्यास में एक ओर 'चित्रलेखा' के बीज छिपे हैं दूसरी ओर 'गोदान' के। संसार को भोगकर जो उसे निस्सार जान त्याग देता है उसके बराबर शान्ति किसी को नहीं मिलती, परन्तु जिसको संसार मिला नही वह उसके आकर्षण से पराभूत रहता है। अतः प्रेमचन्द के रायसाहबों के समान सम्पत्तिशालियों का मन प्रायः सम्पत्ति की बेड़ियों में छटपटाया करता है, हरेन्द्र ऐसा ही आदर्श पात्र है। राधाकान्त 'चित्रलेखा' उपन्यास के कुमारगिरि के समान वा 'राज्यश्री' नाटक के शान्तिभिक्षु के समान जन्म से ही वंचित होने के कारण सम्पत्ति के चकाचौध से स्तम्भित है। अन्त मे उसे त्याग से ही शान्ति मिलती है। उपन्यास के नाम तथा कथावस्तु में महत्व को देखते हुए राधाकान्त ही मुख्य नायक है। वस्तुतः चारों पात्र चार वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सर्वोच्च है हरेन्द्र—आदर्श, दुर्बलता-रहित; दूसरा है नायक राधाकान्त सच्चरित्र, दुर्बल; तीसरा है सुखदेव दुश्चरित्र; और चौथी है खत्राणी—पाप की प्रतिमा। लेखक ने आदर्श की झोंक में नारी के उज्ज्वल चरित्र की अवहेलना कर दी है, पुरुषों की लम्पटता के लिए भी नारी को उत्तरदायी मानना न तो नवजागरण के अनुरूप है और न लेखक के गम्भीर उत्तरदायित्व का पालन ही माना जा सकता है। 'एक परम सुन्दरी लड़की'[1] का अपने पड़ोसी से यह कहना कि 'आप के निकट में धर्म-शिक्षा लेने नही आई हूँ, आप मुझे प्रेम की भिक्षा दीजिए'[2] 'चित्त-विनोदार्थ'[3] ही लिखा गया है, उसमें सचाई एवं गंभीरता नही है। वस्तुतः नारी का मध्ययुगीन चित्रण इस उपन्यास की एक त्रुटि है।

'राधाकान्त' उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें कथोपकथन की अपेक्षा वर्णन का प्राधान्य है। बीच-बीच में आकर पाठको से बात करने की अपेक्षा पात्रों के मुख से अपना मत प्रकट करने में प्रौढता की सूचना मिलती है। घटनाएँ यथार्थ एवं विश्वसनीय हैं। पात्र वर्ग-प्रतिनिधि हैं; उनमें भावुकता एवं विकास है। घटनाएँ पात्रों का अनुवर्त्तन करती हैं। उपन्यास का विभाजन खण्ड एव परिच्छेदों में है। यथावश्यकता नीति के दोहे (तुलसी अथवा रहीम आदि के) उद्धृत कर दिये गये हैं। साधारणतः भाषा साहित्यिक एवं प्राञ्जल है। एक उदाहरण देखिए :—

'पूर्व दिशा में कुछ प्रकाश हो आया था, किन्तु अभी तक आकाश बादलों से ढका था। सामने को छत और छप्पर पानी से तर थे। वृष्टि थम्ह गयी थी, किन्तु रह-रह कर बूदें ओरियों से टपक पड़ती थीं। एक बार जोर से हवा चली। सामने का निम्ब वृक्ष हिल गया। (पृ० ११)।

प्रस्तुत उपन्यास का अन्त राधाकान्त को आदर्श मित्र घोषित करता है: 'आज मैं ठीक जान गया कि राधाकान्त 'आदर्श मित्र' है[4]। साथ ही आस्तिकता-वर्ग के सभी सद्गुण यहाँ प्रतिष्ठा के अधिकारी रहे हैं। ईश्वर के न्याय में विश्वास, पवित्रता-स्वच्छता-सरलता की प्रशंसा, प्रारब्ध, देवता तथा धर्म में श्रद्धा, पश्चात्ताप तथा कृतज्ञता का

१. पृ० ९२ २. पृ० ११८ ३. पृ० ११३
४. पृ० १८०

प्रचार लेखक का मुख्य उद्देश्य है। पूरी पुस्तक पढ़ लेने पर मन को प्रसादपूर्ण शान्ति की उपलब्धि होती है। कुछ उपदेशात्मक वाक्य इस उपन्यास के प्राण हैं :—

(क) भगवान् से प्रार्थना करना और उनकी कृपा के लिए धन्यवाद देना, यही मूल मन्त्र है। इसी के द्वारा मनुष्य की सब मनोकामनाएँ सिद्ध होती हैं। (पृ० ७२)

(ख) धन्यवाद देने से मन में शान्ति आती है, ऐहसान का बोझ कम होता है, चरित्र उन्नत होता है और अधिक कृपा मिलने की आशा रहती है। (पृ० १४३)

(ग) पाप के द्वारा कोई कभी सुखी नहीं हो सकता। शारीरिक सुख, सुख नहीं है। सुख का सम्बन्ध केवल मन के साथ, धर्म के साथ और आत्मा के साथ है। (पृ० ११६)।

मन्नन द्विवेदी के उपन्यास

रामलाल

हमारे अलोच्य-काल के अस्ताचल में श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने 'रामलाल'[1] तथा 'कल्याणी'[2] दो सामाजिक उपन्यास लिखे। 'रामलाल' का प्रकाशन सन् १६१७ में हुआ, परन्तु इसमें लेखक की अपनी 'भूमिका' १८-११-१४ की है। 'इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्र खींचा गया है। नगर और नागरिक लोग भी कहीं-कहीं आ गये हैं लेकिन मुख्य पात्र और घटनायें गांवों से सम्बन्धित हैं'[3]। मुखपृष्ठ पर भी इसको 'ग्रामीण जीवन का एक सामाजिक उपन्यास' लिखा गया है। 'कल्याणी' 'एक शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यास' है, इसमें 'भूमिका' का दिनांक ७-३-२० है, जिससे स्पष्ट है कि 'कल्याणी' हमारे अध्ययन-काल में नही लिखा गया; फिर भी लेखक के दृष्टिकोण को समझने के लिए कुछ दिन बाद रचे गये इस उपन्यास से बडी सहायता मिलती है।

'रामलाल' से पूर्व लिखे गये उपन्यासों में से कुछ उपन्यासों के घटना-स्थल ग्राम भी हैं, परन्तु उनमें ग्रामीण जीवन चित्रण का विषय नहीं बना। प्रस्तुत उपन्यास में प्रथम बार सामयिक परिस्थितियों के अन्तराल में ग्रामीण जीवन पर उदार एवं सहृदयतापूर्ण दृष्टिपात किया गया है। यही विशेषता आगे चलकर प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्राण बनी। दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द के ग्रामीण उपन्यासों के समान इस उपन्यास में भी पूर्वी उत्तरप्रदेश के ग्रामो से प्रेरणा एवं सामग्री ग्रहण की गई है। इसमें भाषा-वैविध्य को महत्व नहीं दिया गया; परन्तु 'पुलिस और अदालत' पटवारी और पोस्टमैन, भगत और साहूकारों का व्यंग्यपूर्ण चित्र मन्नन द्विवेदी की लेखनी से खरा उतरा है। प्रेमचन्द की तुलना में सामाजिकता की दृष्टि से मन्नन द्विवेदी के चित्रण का एक विशेष

---

१. प्रकाशक—इण्डियन प्रेस प्रयाग, प्रथम बार सन् १६१७ ई०।

२. प्रकाशक—सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय बेलनगंज आगरा, प्रथमावृत्ति सन् १६२० ई०।

३. भूमिका।

अन्तर है कि इनमें देशभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति का भी निनाद है एवं ग्रामीण दुर्दशा का हल खोजते-खोजते ये 'उधार धर्म' के दोषों पर जा पहुँचते हैं; प्रेमचन्द में कुत्रचित् तथाकथित धर्म का खोखलापन हुए भी सामाजिक दुर्दशा का मूल कारण आर्थिक-राजनीतिक दुर्व्यवस्था को ही ठहराया गया है।

गोरखपुर जिले के गिरधरपुर ग्राम में गंगासिंह का घराना बड़ा प्रतिष्ठित था। गांव के लोग भी इनको ददुआ कहकर पुकारते थे। प्लेग में ददुआ और दाई, रामलाल तथा गिरधरपुर को अनाथ करके चल बसे। भगेलू भगत और इश्कलाल पटवारी ने जाल रचकर रामलाल के घर की रत्ती-रत्ती चीज कुर्क करा ली। रामलाल की धर्म-बहिन कलारिन धनरजिया के अतिरिक्त अब ग्राम भर में उसका कोई अपना न रहा। 'दुर्भाग्य का सताया रामलाल अपना दुःख दूर करने के लिए आनन्दमथ प्रयाग में आया'। 'श्री सनातन धर्म सभा, 'आर्यसमाज', 'सरयूपारीण सभा' तथा 'कान्यकुब्ज सभा' आदि से उसको कोई सहायता न मिली, परन्तु 'ईशू प्रभु का एक दास' रामलाल को अपने साथ ले गया। यहां एनी शाहजादी रामलाल के गुणों पर मुग्ध हो गई। यही उपन्यास की नायिका है। शाहजादी रामलाल को ईसाइयों के जाल से निकाल कर उसकी सेवा में जीवन बिताना चाहती थी, परन्तु रामलाल उसके प्रेम को ठुकरा कर चला गया—'रामलाल ईसाई हो गया, एक स्त्री के लिए ईसाई हो गया, यह बात मुझसे कैसे सही जाएगी'। भाग कर रामलाल भागलपुर पहुँचा, वहां उसने सेठ शिवदास के कोयले के कारखाने में नौकरी कर ली। जब घाटा हुआ तो सेठ ने हिम्मत छोड़ दी परन्तु रामलाल अकेला ही कारखाना चलाता रहा और उसने सारा मुनाफा सेठ के नाम जमाकर दिया। इस व्यवहार से शिवदास और रामलाल भाई बन गये। आगे चलकर रामलाल के प्रयत्न से धनरजिया का विवाह शिवदास के साथ हो गया। उपन्यास के अन्त में शाहजादी के उच्च प्रेम एवं त्याग से प्रभावित होकर रामलाल उसे खोजने के लिए निकल पडा। परन्तु आज तक उसका कोई पता नहीं लगा। 'कुछ लोग नैपाल की सरहद पर त्रिवेणी-स्नान करने गये थे—उन्होने ठीक रामलाल की शक्ल के एक सन्यासी को अकेला पहाड के पास जंगल में देखा था—कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उन्होंने सन्यासी जी के स्थान से एक मील की दूरी पर एक योगिनी की कुटी देखी है। माताजी ध्यान में मग्न रहती हैं और किसी से कुछ बोलती चालती नहीं हैं'[१]।

दुर्भाग्य के सताये हुए नायक रामलाल की दुःख-सुखात्मक जीवन-गाथा ही उपन्यास की कथावस्तु है। मुख्य घटना-स्थल ग्राम गिरधरपुर है जहाँ से समाज की आपत्तियों के शिकार तीन अभागे (रामलाल, धनरजिया, तथा गीरा) भाग्य की ठोकरें खाते हुए आगे चलते जाते हैं। नायक रामलाल की गाथा में शाहजादी की अवसादमयी द्रावकता भी जुड़ गई है। लेखक ने उपन्यास में उसका पर्यवसान कर दिया है। धर्म और प्रेम की धूप-छांह का यह चित्र नायक और नायिका का उज्ज्वल विकास दिखलाता है। यदि रामलाल को शाहजादी के सच्चे प्रेम का ज्ञान हो जाता तो वह उसके साथ

१. उपसंहार, पृ० २२५

विवाह करके समाज-कल्याण का प्रवृत्तिपरक जीवन बिता सकता था, जैसा कि 'कल्याणी' उपन्यास में श्यामनारायण और कल्याणी ने बिताया। इस उपन्यास का अन्त सन्यास में दिखाकर लेखक को यह अनुभव हुआ होगा कि व्यक्तिगत साधना में समाज का अधिक कल्याण नही हो सकता परस्पर प्रेम द्वारा संगठित किये हुए ब्याह के कारण गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाते हुए उचित रीति से देश-सेवा'[1] ही पढ़े-लिखे युवकों का लक्ष्य होना चाहिए। अतः 'कल्याणी' उपन्यास में श्यामनारायण 'सुख, वैभव, और सौभाग्य' का जीवन बिताते हुए 'नायक जाति के उद्धार का अपना जीवन-संकल्प पूर्ण'[2] करता है। यद्यपि द्विवेदी जी के दोनों उपन्यास आदर्शोन्मुख हैं, फिर भी दोनों का लक्ष्य भिन्न है, और लक्ष्यभेद से कथा की परणिति भी भिन्न हो गई है। 'कल्याणी' का नायक श्याम सामान्य ग्रामीण परिवार का अभागा शिशु है, पढ़ने में उसकी रुचि थी, परन्तु उसके अभिभावक मामा-मामी इस बात को पसन्द न करते थे। वह घर से भागा, संयोग ने उसको एक मुख्तार साहब के घर नौकर करा दिया। वृद्ध मुख्तार की पांचवीं युवती पत्नी श्याम को पढ़ाने लगी। श्याम ने धीरे-धीरे डाक्टरी पास कर ली और चन्द्रकला (कल्याणी) से उसका विवाह हो गया। 'रामलाल का उद्देश्य समाज की अव्यवस्था का चित्रण है, 'कल्याणी' का लक्ष्य श्याम के जीवन का चित्रण; प्रथम उपन्यास में लेखक समाज का खोखलापन दिखलाता है, द्वितीय में उसका उपचार प्रस्तुत करता है। 'बडे नेताओं ने दूसरे बड़े-बडे काम उठाये हैं—छोटे-छोटे काम' उन नवयुवकों को उठाना चाहिए जिन्होंने अभी अपने जीवन का प्रोग्राम नही बनाया है'[3]।

मन्नन द्विवेदी का उद्देश्य हिन्दू-समाज की 'दुर्दशा का चित्र अंकित' करके 'सामाजिक प्रश्नों का विवेचन' करना है। समाज में 'बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-दुर्दशा, कुशिक्षा, अशिक्षा, अनीति' तथा 'डाह, द्रोह, दम्भ, ईर्षा, छल, कपट, विश्वासघात असत्य और नीचता' का ऐसा घोर तिमिर छाया हुआ था कि समाज का 'कोई स्थिर स्वरूप ही नहीं'[4] दिखलाई पड़ता था, और लोग चाहते थे 'देश को स्वाधीन बनाना'। इस दुर्दशा का कारण 'अविद्या और अहंकार का घोर तिमिर' था जिसने 'हमारे समस्त सद्गुणों को प्रच्छन्न कर रखा'[5] था। लेखक ने व्यंग्य से लिखा है कि 'इससे बढ़कर अब कौन सा पाप बढ़ेगा कि ब्राह्मण अंगरेजी पढने लगे, सुरापान छोड़कर लोग असुर होते जा रहे हैं, बहु-विवाह और वृद्ध-विवाह की प्राचीन प्रथाएं लोप हो गईं; लोग रेल पर चढ़ने लगे, बंबे का पानी पीने लगे'[6]। लेखक ने किसी सम्प्रदाय के तात्विक चिन्तन पर ध्यान नहीं दिया, दार्शनिक दृष्टि से सभी मत वैयक्तिक कल्याण को ध्येय बनाते हैं, परन्तु अभ्युत्थान के लिए उसको आर्यसमाज का कार्यक्रम विशेष पसन्द आया है। 'रामलाल उपन्यास में इस पक्षपात को स्पष्ट स्वीकृति नहीं है, परन्तु 'कल्याणी' के नायक-नायिका को लखनऊ गणेशगंज आर्यसमाज का सदस्य बनाकर यह निश्चित कर दिया है कि

---

१. कल्याणी, पृ० २१४ २. वही, पृ० २३३ ३. वही, पृ० २२२
४. 'कल्याणी' में सम्पादक पं० गौरीशंकर शुक्ल का वक्तव्य।
५. वही ६. 'कल्याणी' की 'भूमिका'।

'पुराने लोग नवीन युग में भी मनमानी अनर्गल बातें चलाना चाहते हैं और हमारे नव-युवक और युवती इन भलेमानसों की मनगढ़न्त प्राचीनता के बलिदान होते हैं'।[1] अस्तु 'जीवन भर वेद-शास्त्र और दूसरे सद्ग्रन्थों का पढ़ना, हिन्दी का प्रचार करना, जातीयता फैलाना, सेवाव्रत का व्रती होना'[2] ही भावी युवक-युवतियों का सामान्य मार्ग होना चाहिए।

'रामलाल' उपन्यास में प्रयागराज का चित्रण करते समय लेखक ने हिन्दू धर्म का खोखलापन दिखाकर उस दोष का विवेचन किया है जिसके कारण हिन्दू लोग ईसाई हो जाते हैं। 'श्री सनातन धर्म सभा' भक्तिभाव से 'चौराग्र-गण्यं पुरुषं नमामि' गा-गा कर झूम रही है, तो 'आर्यसमाज के उपदेशक 'ईश्वर के लक्षण' बखान रहे हैं, 'सरयूपारीण-सभा में यह विवाद हो रहा है कि तरकारी में नमक पहले से पड़ा रहना चाहिए या खाते वक्त डाल लेना चाहिए', 'उस तरह कान्यकुब्ज सभा में लठ चलने की नौबत आ रही है'[3]। 'आर्यसमाज' और 'सनातन-धर्म-रक्षिणी सभा' का चित्रण करते हुए लेखक ने एक ही वाक्य में पुराणपंथियों पर करारा प्रहार कर दिया है: 'इस सभा के उद्देश्यो में से सबसे मुख्य आर्यसमाज को जड़-मूल से उखाड़ देना है।'[4] हिन्दू-सभाओं के मुख्य दोष दो हैं—पारस्परिक द्वेष, और व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा करते हुए सिद्धान्तो पर व्यर्थ तर्क-वितर्क करना। विभिन्न सम्प्रदायों के हिन्दू आपस में झगड़ा कर एक-दूसरे की शक्ति को कम करते हैं, इस का लाभ विधर्मियों को मिल जाता है—आर्यसमाज ने जो सुधारात्मक कदम उठाये उनमें सहयोग न देकर इतर सम्प्रदायों के लोग आर्य समाज को ही नष्ट करने में लग गये। व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा नायक रामलाल ने स्वयं अपने प्रति देखी, उसने सोचा भी कि 'कृतज्ञ हिन्दू से तो अकृतघ्न ईसाई होकर रहना अच्छा है'[5] और यदि स्वामी आत्माराम का सहारा न मिलता तो शहजादी के प्रेम को स्वीकार करके रामलाल का ईसाई होना असम्भव नही था। द्विवेदी जी ने हिन्दू-धर्म की इस सिद्धान्तपरक अव्यावहारिक प्रवृत्ति को 'उधार धर्म' कहा है, इसके विपरीत ईसाइयों का सम्प्रदाय 'नकद धर्म' है उससे तत्काल ही सांसारिक लाभ होता है, हिन्दू-धर्म के समान दूसरे जीवन की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। दोनो धर्मों की तुलना करने पर एक की अवनति और दूसरे की उन्नति का चित्र स्पष्टतः आंखों के सामने आ जाता है: 'इधर रामलाल का स्वावलम्बन और उधर रेती पर रामरगडा करते हुए सहस्रो साधुओं की मुफ्तखोरी; इधर हिन्दुओं के उधार धर्म की विडम्बना, उधर ईसाइयों के नकद धर्म का उदाहरण; इधर हमारी उदासीनता और उधर उनकी सहानुभूति।'[6] यही 'रामरगड़ा' हिन्दू धर्म को अव्या-

---

१. कल्याणी, पृ० १९१-२ २. वही, पृ० १९० ३. रामलाल, पृ० ५५
४. रामलाल, पृ० ७८
५. वही, पृ० १३२
६. वही, पृ० ५९

व्यवहारिक बनाकर चिन्तन के संसार में बन्द कर बैठा है।

मन्नन द्विवेदी ने नई सभ्यता को अच्छा नहीं समझा, परन्तु सुधारों का स्वागत किया है। यही कारण है कि ईसाइयों की पश्चिमी नकल उनको पसन्द नहीं आई, फिर भी उनके सद्गुणों के प्रति उपेक्षा का भाव भी नहीं है। जो लेखक शाहजादी जैसी नायिका की सृष्टि कर सकता है वह कितना उदार रहा होगा। शाहजादी नाम से मुसलमान परन्तु धर्म से ईसाई है, रामलाल के प्रति उसका प्रेम सावित्री के समर्पण से किसी भांति कम नहीं है : 'मेरे लिए भगवान् और धर्म सब तुम हो—आप की दासी होना मेरे लिए स्वर्ग-सुख से बढ़ कर है।'[1] ईसाई होते हुए भी वह भारतीय है, उसके तपःपूत जीवन में राधा का रूप झांक रहा है। रामलाल और शिवदास के वार्त्तालाप के व्याज से लेखक ने भारतीय महिला और पाश्चात्य नारी की तुलना बड़े मनोरंजन शब्दों में करते हुए 'ऐमारिनों' से 'गंवारिनों' को उत्तम घोषित किया है:—

रामलाल—एक छीट का लहंगा और एक रंगे की ओढ़नी खरीद दीजिएगा।

शिवदास—नहीं, एक गाउन सिलवा लेना।

रामलाल—पाच हाथ का घूंघट जमीन पर लटका देगी।

शिवदास—सर से साड़ी हटा देगी, नागिन-सी बेनी से तुमको कटा देगी।

रामलाल—घर वालों से भी परदा! यह भी कोई बात है।

शिवदास—देश भर के उठल्लू गुडमार्निंग कहते घर में घुस आते हैं, यह भी कोई बात है।

रामलाल—आप मालूम नही क्यों गंवारिनों पर ढरते हैं।

शिवदास—आप मालूम नही क्यों ऐमारिनों पर मरते हैं। (पृ० १३६)

लेखक को ईसाइयों से चिढ़ नहीं, परन्तु पश्चिमी सभ्यता से असन्तोष है। वह हिन्दुओं के लिए, तात्विक मतभेद होते हुए भी, एक सामान्य सुधारवादी योजना बनाना चाहता है। 'कल्याणी' उपन्यास में होली के अवसर पर उसने अपने विचार स्पष्टतः व्यक्त किये हैं :—

'हमारी वर्तमान सामाजिक दुरवस्था न सुधरेगी जब तक लोग ठहरौनी के फेर में पड़े रहेंगे, जब तक निर्लज्ज होकर लोग कन्या-विक्रय करेंगे, जबतक वृद्ध लोग युवती कन्याओं से विवाह करेंगे, जब तक लोग मद्यपी और वेश्यागामी रहेंगे, जब तक बालक-बालिकाओं को ब्रह्मचर्य-पूर्वक गुरुकुल-शिक्षा न होगी, जब तक अपरिपक्व विचारों के परिपक्व युवक और युवती एकान्त सहवास करते रहेंगे। उस समय तक जब तक स्त्री-पुरुष पूर्ण सदाचारी न बन लें, धर्म के तत्वों को पूर्ण रीति से अध्ययन, चिन्तन और आचरण न कर लें, तब तक पाश्चात्य सभ्यता का अनुयायी होकर उनके ढग स्वतन्त्रता का उपयोग करना हमारे लिए हानिकारक है, हमारे ऋषि-पूर्वजों के लिए अप्रतिष्ठाजनक है, हमारे देश की उन्नति में उसके उद्धार में बाधक है।'

(पृ० १४६)

---

१. वही, पृ० ६०

'कुलीनता का कलित अभिमान'[1], 'दायज के रुपये'[2], 'पति के मुंह देखे बिना अल्हड़ विधवा'[3], भ्रूण-हत्या'[4], 'देवी, देवता, ब्राह्मण, पुरोहित'[5] 'पुरुष अपनी इच्छानुसार जब चाहें स्त्री का त्याग'[6] कर दे, 'एक स्त्री के रहते दूसरा विवाह'[7], 'महा नीच पुत्री-विक्रय का व्यापार'[8] आदि सामाजिक दोषों की 'कल्याणी' उपन्यास में घोर निन्दा है। यदि कोई इन कुप्रथाओं में सुधार करना चाहे तो पुराने लोग उसे फौरन क्रिस्तान या कम-से-कम आर्यसमाजी कहने लगते हैं—किशोरीलाल गोस्वामी तक ने 'रिफार्मर' लोगों को 'नव्य समाज' का ही अंग बना दिया है। मुख्तार साहब की जब पांचवीं युवती पत्नी अन्नपूर्णा की दशा दिन-दिन खराब होने लगी तो वे परेशान रहने लगे : 'इस उम्र में अब ब्याह होना मुश्किल ही है। पहिले हो जाता लेकिन कान्फ्रेंसों के मारे सब पुरानी बातें ही उठी जाती हैं। अब सब क्रिस्तानी बातों का प्रचार होता जा रहा है।'[9] इसी प्रकार जब बुद्धू ने 'ठाकुर जी का रुपया—दीन-दुखियों की सहायता' में लगा दिया तो 'सरताजी नाक भौंह सिकोडने लगीं' और रानी के कहा : 'मालूम होता है लखनऊ जाकर बुद्धू आर्य्यसमाजी हो गया'।[10] नवीन सुधार हमारे देश में दो मार्गों से लाये गये हैं—पाश्चात्य प्रभाव से ब्रह्मसमाज द्वारा तथा वैदिक प्रभाव से आर्यसमाज द्वारा—यह ऊपर दिखाया जा चुका है।[11]

सुधार के सम्बन्ध से लेखक का ध्यान मुख्यत: दो लक्ष्यों पर केन्द्रित रहा है—ब्राह्मण और नारी। कलार की पुत्री धनरजिया को क्षत्री नायक रामलाल की धर्म-बहिन और सेठ शिवदास की धर्मपत्नी बनाकर उसने जाति-प्रथा को तोड़ दिया है। सरताजी कहार और बुद्धसेन भर[12] का विवाह भी इस ओर एक कदम है। 'सिद्धान्तों को मानते हुए भी बिरादरी के डर से'[13] दब्बू बने रहने वालों को लेखक ने डाट बताई है : 'अगर बिरादरी के नियमों ही की दुहाई देनी थी तो आर्यसमाजी होने से क्या फायदा हुआ ?'[14] आत्माराम अछूतों की दशा सुधारने के लिए 'भारतीय पतितोद्धारक समिति'[15] खोलना चाहते हैं, 'अछूतों को इकट्ठा बसा कर उनको पढ़ा-लिखाकर उन्हें कोई कारीगरी' सिखाना तथा 'चमारों के लिए कोई स्कूल'[16] खोलना उनका अभीष्ट है। 'कल्याणी' उपन्यास में जन्म से ब्राह्मण बनने वाले' बड़े-बड़े पागधारी, त्रिपुंडधारी, तोंदवाले, धनवान् कान्यकुब्ज'[17] व्यंग्य के विषय बने हैं। 'यहाँ के ब्राह्मणों में सब से बड़ी बात है विद्या का अभाव, सरस्वती देवी पर इनकी अकृपा। अंग्रेजी पढ़ना ये लोग पाप बतलाते हैं; संस्कृत उनको पढ़ना चाहिए जिनको भीख मांगनी हो; हिन्दी पढ़ने में कुछ बुराई नहीं

---

१. कल्याणी, पृ० २ २. वही
३. कल्याणी, पृ० ३ ४. वही, पृ० १५ ५. वही, पृ० १६
६. वही, पृ० २७ ७. वही, पृ० २८ ८. वही, पृ० ८८
९. वही, पृ० १३४ १०. वही, पृ० १७५ ११. दे० पृ०
१२. वही, पृ० २२९ १३. वही, पृ० २२८ १४. वही, पृ० २२८
१५. रामलाल पृ० १६२ १६. वही, पृ० १४६ १७. रामलाल पृ० २४

है, लेकिन जिसको नौकरी नहीं करनी है वह पढ़ कर क्या करेगा'[१]। आज ब्राह्मण पहिले जैसे नहीं रहे फिर भी उनकी बराबरी कौन कर सकता है। जब मुसलमान दरोगा के कहने पर ठाकुर के विरुद्ध कोई भी झूठी गवाही देने को तैयार न हुआ तो ब्राह्मणों ने ही उसकी सहायता की; 'भला सैय्यद की मदद ब्राह्मण नही करेंगे'। 'ब्राह्मण लोग कहते हैं कि झूठ का पचा लेना मामूली आदमियों का काम नही है, इसके लिए तेज चाहिए तेज ! —ब्राह्मण भृगु ने खुद भगवान को लात मार दिया, ठीक छाती में बड़े ज़ोर का जमाया, ऐसा कसके कि जिन्दगी भर उनको याद रहेगा—कोई शूद्र वैक्सीनेटर ही को मार कर देख ले—'[२]। 'शूद्र दिन भर फावड़ा चलाता है एक आना पाता है, ब्राह्मण सैकेंड भर के 'कल्यान' कहने में उससे कहीं अधिक बना ले जाता है।—तिस पर भी जो ब्राह्मणों का महत्व न माने उसको 'आरियासमाजी' छोड़कर और क्या कहियेगा'[३]। एक ओर ब्राह्मणो का जन्मजात अहकार दूसरी ओर वर्तमान अधोगति, दोनों में कितना विरोध और कैसा मेल है। द्विवेदी जी ने खीझ कर लिखा है कि 'अगर ऐसा न होता तो काश्यप और भारद्वाज के वंशज आज पंखा-कुली बन कर पेट के लिए न तरसते'।[४] मानो उनकी दुर्बुद्धि की यह दुर्दशा उचित ही है। यदि जन्म से जाति न मानी जाय, गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण का निर्णय हो तो समाज के अनेक अशिक्षा-जन्य दोष दूर हो सकते हैं।

नारी का सम्मान आर्यसमाज का मूल स्वर था, यह कहा जा चुका है, मन्नन द्विवेदी ने इसीलिए अपने दोनो उपन्यासो में महिला का आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। हिन्दू-समाज में नारी से सम्बन्ध रखने वाले जितने दोष हैं उनका विवेचन ऊपर हो चुका है। 'रामलाल' उपन्यास में उन्होने लिखा है कि 'हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है कि जहां लडकियों का बहुत कम आदर होता है'[५]। और 'जहां स्त्रियां तकलीफ पाती हैं वहां कल्याण नहीं हो सकता'[६]। 'जैसे बिच्छू के बच्चे अपने पैदा करने वाले का नाश कर देते हैं वैसे ही पुरुष लोग स्त्री जाति से जन्म ग्रहण करके बदले मे उसी जाति का भयंकर संहार करते है'[७]। 'प्राचीन आर्य्य जितना स्त्री जाति को पूज्य मानते थे उतना नवीन सभ्यता में भी नहीं माना जाता'[८]। अछूतोद्धार के समान नारी के उद्धार के लिए भी एकमात्र उपाय शिक्षा है। 'रामलाल' उपन्यास में स्त्री शिक्षा की कई सफल योजनाएँ चलाई गई हैं; श्रीमती गीरादेवी की कन्यापाठशाला की 'दस-दस वर्ष की

---

१. कल्याणी पृ० ८६
२. वही, पृ० १५०
३. वही, पृ० १५१
४. वही, पृ० २४
५. वही, पृ० ७२
६. वही, पृ० २३
७. वही, पृ० १७३
८. वही, पृ० १८५

बच्चियों ने बडी-बडी मेमों को बहस में हरा दिया'[1]। आत्माराम भी 'महिला विश्व-विद्यालय' खोलना चाहते हैं। इन विद्यालयों से जो बहिनें निकलेंगी वे आवश्यकता पड़ने पर 'महाकाली बनकर अपने सतीत्व की रक्षा'[2] कर सकती हैं। शिक्षा के अनन्तर 'गुण, कर्म और स्वभाव तीनों देख कर' युवक युवतियों का विवाह कर देना चाहिए, अन्यथा जाति के बन्धन में केवल माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हुए जो 'अनमेल विवाह' होंगे उनसे 'गार्हस्थ जीवन की गाडी कैसे' सुखपूर्वक चल सकती है? 'कल्याणी' उपन्यास का प्रारम्भ तो स्त्री जाति की दुर्दशा से ही होता है। चन्द्रकला, शाहजादी, धनराजि, गीरा जैसी देवियों की सृष्टि लेखक के उच्च आदर्श से प्रेरित है।

इन उपन्यासों में उक्त बड़ी समस्याओं के साथ-साथ लेखक के श्राद्ध, देवोत्थान, रामलीला, ज्योतिष, देवसमाज तथा पुराणपंथी पर भी प्रहार किया है। श्राद्ध के विषय में उनका एक वाक्य पर्याप्त होगा कि 'ब्राह्मण न्यौता खाने के लिए इस तरह टूट रहे हैं जैसे कुत्ते और गिद्ध श्मशान की ओर दौड़ते हैं'[3]। देवोत्थान में बकरों का काटना, रामलीला पर गरीब लडकों को पकडकर नाच नचाना, कपडे की भार्या से मुख्तार साहब'[4] का विवाह और देवसमाजी बनकर 'परमात्मा से पिंड छुडाकर मनुष्य जाति का बड़ा भारी कल्याण'[5] करारे व्यंग्य है। 'रामलाल' उपन्यास में पटवारी, साहूकार तथा पुलिस और 'कल्याणी' में वकील, पोस्टमैन तथा पुलिस की धाधली दिखाकर प्रेमचन्द के चित्रों की भूमिका तैयार कर दी गई है। भगेलू को कोढ़ी बनाकर लेखक ने कर्मफल मे विश्वास दिखाया है। 'नील वाले साहब' की कोठी भी ग्रामीणो की दुर्दशा का एक केन्द्र है: 'कितने ही घरो की बहुएं निकाल ली गईं और बेचारे घरवाले रो-कलप कर रह गये; कितने ही नवयुवक नौकरी के लालच में पड़कर नेटाल और डमरा भेज दिये गये'[6]।

आनरेरी मजिस्ट्रेट बनकर रामलाल ने निश्चय किया कि: 'काम तो मैं अंगरेजी में भी कर सकता हूँ। लेकिन मेरा इरादा है कि सब काम हिन्दी मे करूं; इस से अपनी मातृभाषा का उपकार होगा'[7]। लेखक का सुधारवादी आदर्श है। इस उपन्यास मे हिन्दी-उपन्यास के सम्बन्ध में भी लेखक ने कुछ विचार प्रकट किये है। समय काटने के लिए 'रामलाल ने उपन्यास पढ़ने शुरू किये। जब आनन्द मिलने लगा तो रात दिन वही धुन समा गई। 'काजल की कोठरी' से शुरू हुआ, 'सुन्दर सरोजिनी', 'नरेन्द्रमोहिनी' और 'चन्द्रकान्ता' एक महीने में खतम हो गये'[8]। ये उपन्यास समय काटने और मन बहलाव के लिए थे, इनमें आदर्श की ओर झुकाव नही था। इसलिए शिवदास ने कई बार रामलाल को समझाया: 'उपन्यास नही पढ़ना चाहिए, यात्रा, जीवनचरित्र और

---

१. वही, पृ० १०४
२. वही, पृ० १६६
३. रामलाल, पृ० १४
४. कल्याणी, पृ० १०६
५. वही, पृ० २०८
६. रामलाल, पृ० १३४
७. पृ० १९३
८. पृ० १३५

इतिहास पढ़ने चाहिए'। परन्तु रामलाल ने न माना। तब स्वामी जी ने रामलाल को को समझाया : 'उपन्यास पढ़कर क्यो अमूल्य जीवन व्यर्थ कर रहे हो। 'योगवसिष्ठ' पढ़ो और अगर उससे समय बचे तो स्वामीजी कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पढो'। परन्तु रामलाल की सनक बढ़ती गई। 'डाक पर डाका', 'बेबादल का वज्र', 'लाइन पर लाश', 'खून और नीलमपरी' खतम करके 'बंगविजेता' और 'स्वर्णलता' के अनुवाद पढ़े गये। बंगाली नॉवेल अच्छे मालूम हुए। 'माधवी कंकण', 'राधारानी' और रवीन्द्र बाबू के सब नॉवेल करीब-करीब खतम हो गये। 'चोखेरवाली' उपन्यास के प्लाट पर रामलाल मुग्ध हो गया और शिवदास से कहने लगा—'भैया ऐसा अच्छा प्लाट मैंने कम देखा है'। शिवदास ने कहा—'अगर तुम थैकरे का 'वैनिटी फेयर' पढ़ो तो मालूम हो जायगा कि रवीन्द्र बाबू का यह उपन्यास कहां तक स्वतन्त्र है'[1]। इस चर्चा में लेखक ने केवल उन मौलिक एवं अनूदित उपन्यासों का संकेत दिया है जो सामान्यतः नवयुवकों में प्रिय थे। ब्रजनन्दन सहाय ने आदर्श की दृष्टि से श्रीनिवासदास का नाम लिया है, परन्तु मन्नन द्विवेदी केवल मनोरंजन-प्राण उपन्यासों की ही सूची गिना रहे हैं, इसलिए यहां 'सुन्दर सरोजनी' तो है 'परीक्षा गुरु' नही। किशोरीलाल गोस्वामी तक के उपन्यास इस सूची में नहीं हैं, शायद अधिकतर सामाजिक होने के कारण वे मनोरंजक उपन्यासों के समान लोकप्रिय न रहे हों। 'चोखेरवाली', 'वेनिटी फेयर' का झगडा उस समय चल गया होगा, जिसका परिणाम 'रंगभूमि' से उन उपन्यासों की तुलना तथा मौलिकता पर विचार था।

'रामलाल' उपन्यास आदर्श की लेखनी से लिखा गया है। इसके सभी आदर्श पात्र दुर्बलता से रहित हैं। नायक रामलाल, स्वामी आत्माराम, सेठ शिवदास, नायिका शाहजादी, बहिन धनराजि, और देवी गीरा का जीवन आदर्श एवं परोपकार का ज्वलन्त उदाहरण है। इन परस्पर तुल्य चरित्रों में नायक रामलाल सबसे उत्तुग एवं महान् है। 'मनुष्य तो वह है जो ससार में रहकर संसार का न हो। उसीको कर्मयोगी कहते हैं जो कमलपत्र की तरह जल में रहता हुआ भी जल से अलग—अलिप्त-रहता है'[2]। 'रामलाल मे देशभक्ति और राजभक्ति भी दोनों एक साथ उचित मात्रा में मिली हुई थीं'[3]। देवयोग से अकिंचन बनकर रामलाल अपने गुणों के कारण ऑनरेरी मजिस्ट्रेट तक बन गया। प्रेम और धर्म दोनों का निर्वाह करते हुए वह अमर बन गया। वह पारस पत्थर के समान जहां कदम रखता वही सुनहरी जीवन बना देता था। इन आदर्श व्यक्तियों का सबसे बड़ा गुण परोपकार है जो रामलाल में सबसे अधिक है; 'दूसरी बिरादरी की लड़की को बहिन की तरह—बहिन से भी बढ़कर—जानना और मानना, अपने पसीने की कमाई दूसरे को दे देना, बहादुरी से कष्टों का सामना करना, किसी के सामने हाथ न पसार कर अपनी बाहु के बल से लाखों रुपये पैदा करना, सदा दीन दुखियों को सहायता देते रहना—इस अधम शरीर में इतने गुण इकट्ठे बहुत कम देखे

---

१. पृ० १३६
२. पृ० २२२
३. पृ० २२०

जाते हैं'।[1] 'कल्याणी' उपन्यास के नायक 'श्याम नारायण का सबसे प्रधान गुण उनका परोपकार है'।[2] परोपकार का गुण लेखक ने आर्यसमाज में सबसे अधिक देखा है। इसलिए वह व्यावहारिक दृष्टि से आर्यसमाज के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। स्वामी आत्माराम 'आर्यसमाज से बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—बहुत ठीक कहते हैं कि परोपकार के बराबर दूसरा धर्म नहीं—आर्यसमाज में परोपकार बहुत'[3] है। 'उद्योगी और वीर आर्यसमाजी नवयुवक'[4] धर्म तथा देश के हित का कार्य करने के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ का बलिदान कर देते हैं जबकि 'राम और कृष्ण को ईश्वर मानने वाले सनातनियो[5] को 'रुपये का लालच' चाहे जिधर मोड सकता है। रामलाल भी ऐसा ही उद्योगी तथा वीर है, वह आर्यसमाज का सदस्य न होते हुए भी आर्यसमाजी उत्साह एवं सद्गुणों से पूर्ण है। 'कल्याणी' उपन्यास का नायक श्याम परिस्थितियो के साथ कदम बढ़ाता हुआ आदर्श समाजसेवी बनता है जब कि 'रामलाल' उपन्यास का नायक अपने धैर्य, परिश्रम एव ईमानदारी से समाज-सेवा मे योग देता है। इसीलिए सबको सुखी बनाकर रामलाल उपन्यास से हट जाता है, कथा का मार्मिक अन्त करते हुए; उसकी कहानी संघर्ष एवं आदर्श का हृदयस्पर्शी सगीत है—कल्पनालोक में छोड़कर विह्वल बना देने वाला।

'रामलाल' उपन्यास मे बाईस 'बयान' तथा 'उपसंहार' २२८ पृष्ठों में आये हैं। प्रत्येक 'बयान' का कोई शीर्षक भी है। शीर्षोद्धरणो के अतिरिक्त बीच में भी कविता-गीतो के अनेक उद्धरण हैं। लेखक को वर्णन तथा इतिहास का बहुत शौक है; इसलिए उपन्यास भावुकतापूर्ण एव सजीव बन गया है। घटनाओं में अविश्वसनीय कुछ भी नही है। धार्मिक रूढ़ि के साथ-साथ धांधली का चित्रण प्रस्तुत उपन्यास की विशेषता है। 'पुलिस और अदालत', 'ईसाई परिवार', 'आर्यसमाज', 'कर्मवीर रामलाल', तथा' ददरी का मेला और शुद्धि' शीर्षक इस बात के द्योतक हैं कि उपन्यास जगत् में कोई नवीन मोड़ आने वाला है; जो धर्म को गौण और शासन को मुख्य स्थान देने लगेगा। लेखक की भाषा चलती हुई है, उस पर पात्रोपयोगी प्रभाव है। 'कल्याणी' उपन्यास में कला की दृष्टि से कुछ प्रौढ़ता है। 'बयान' के स्थान पर 'परिच्छेद', भाषा में तत्सम शब्दों की अधिकता, वर्णनों पर सयम, निश्चित कथावस्तु, तथा एक मुख्य कथा प्रौढ़ता के लक्षण हैं। लेखक का दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो गया है। दोनो उपन्यास शैली की दृष्टि से कथनात्मक हैं, फिर भी लेखक से पाठक की बातचीत कम होती है। कथोपकथन कम हैं वर्णन में रुचि पूर्ववत् है। मन्नन द्विवेदी के दोनों उपन्यास सोद्देश्य हैं, जिनमें सामाजिक जीवन का विश्लेषण व्यावहारिक धरातल पर किया गया है। लेखक की

१. पृ० २२०
२. कल्याणी, पृ० १८४
३. रामलाल, पृ० १६१
४. वही, पृ० ११७
५. वही, पृ० ११७

शैली में आत्माभिव्यक्ति की सफल शक्ति है। उसके कुछ वाक्य निश्चय ही विकास की सूचना देते हैं :—

(क) ब्राह्मण न्योता खाने के लिए इस तरह टूट रहे हैं जैसे कुत्ते और गिद्ध श्मशान की ओर दौड़ते हैं। (पृ० १४)

(ख) साबुन रगड़ने के समय इनका शरीर ऐसा मालूम होता है कि मानो किसी ने कोयले पर दूध ढलका दिया हो। (पृ० ६५)

(ग) विलायती चीनी के बताशे राजा दधीचि की हड्डी की तरह सफेद-सफेद दिखाई पडते हैं। (पृ० १११)

(घ) सनातन धर्म सभा वाले लंठदास को देवी जी से शास्त्रार्थ करने को तैयार कर रहे हैं। (पृ० १४६)

(ङ) डबल खुराक वाले दो-तीन सौ साधु एक महीने में एक गांव का सत्यानाश कर डालेंगे। (पृ० १५६)

(च) दुख भुला दिया गया लेकिन रामलाल न भुलाया जा सका। (पृ० २२४)

(छ) भाभी जी ने पतिदेव पर दो बार चरण प्रहार करके अपना कर्त्तव्य पालन किया। (कल्याणी, पृ० ६६)

(ज) कलियुग में पापी वही है जो कलि-धर्म का पालन न करे·····। (पृ० १५३)

(झ) अगर बिरादरी के नियमों ही की दुहाई देनी थी तो आर्यसमाजी होने से क्या फायदा हुआ। (पृ० २२८)

'सरस्वती' (अप्रैल, सन् १६१७) पत्रिका में 'रामलाल' उपन्यास की समीक्षा निम्नलिखित शब्दावली में की गई थी :

'यह उपन्यास मौलिक है और बडा मनोरंजक है। इसमे हमारे अधःपतन और सामाजिक कुरीतियों का बड़ा ही हृदयग्राही चित्र खीचा गया है। देश-प्रेम और जाति-सेवा का उपदेश भी इससे खूब मिलता है। पुस्तक एक बार प्रारम्भ करने से बिना पूरा पढ़े कल नही पड़ती। हर्ष की बात है कि हिन्दी में भी ऐसे-ऐसे मौलिक उपन्यास लिखे जाने लगे।'

●

: ४ :

ऐतिहासिक उपन्यास

अतीत के उपन्यास

'नॉवेल' की परिभाषा में जिन गुणो पर बल दिया गया है उनमें 'जीवन का यथार्थ चित्रण' मुख्य है। 'दि न्यू पिक्चर्ड एनसाइक्लोपीडिया' के अनुसार नॉवेल पर्याप्त आकार की उस गुम्फित कथावस्तुमयी रचना को कहते हैं जिसमें जीवन का वास्तविक चित्र हो और जिसके पात्र एव घटनाए यथार्थ या यथार्थ के अनुरूप हो।[1] उपन्यासकार के सम्मुख जीवन तीनो कालों में प्रस्तुत रहता है, इसलिए उसके उपन्यास वर्त्तमान-कालीन भी हो सकते हैं और भूतकालीन एवं भविष्यकालीन भी। भविष्यकालीन उपन्यास सोद्देश्य कल्पना की उपज है, जबतक लेखक अपने पाठकों के सम्मुख अपना विशेष दृष्टिकोण प्रस्तुत करके उसका प्रचार करना नही चाहता तबतक वह भविष्य-कालीन उपन्यास की रचना नही करता, कारण कि भविष्यकालीन उपन्यास साहित्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है। हिन्दी मे श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'बाईसवी सदी' नामक भविष्यकालीन उपन्यास लिखा है, जिसमें मार्क्स के दृष्टिकोण का अनुकरण करते हुए यह कल्पना प्रस्तुत की गई है कि भावी समाज का आधार साम्यवाद होगा। जिस प्रकार भविष्यकालीन इतिहास की रचना सामान्यतः संभव नहीं है, उसी प्रकार भविष्य-कालीन उपन्यास भी यथार्थ के धरातल को छूता हुआ नहीं चलता—भविष्यकालीन उपन्यास, वैज्ञानिक निष्कर्षों से अनुप्राणित होता हुआ भी, कहीं न कहीं नानी-की-कहानी बन जाता है। अस्तु, प्रायः उपन्यासकार की दृष्टि या तो वर्तमान पर रहती है या अतीत पर। वर्तमान काल के उपन्यास 'सामाजिक' (अथवा 'राजनीतिक' आदि) कहे जा सकते हैं और भूतकाल के 'ऐतिहासिक'। वर्त्तमान युग का इतिहास भी इतिहास ही है, फिर भी 'इतिहास' से 'व्यतीत' का ही प्रायः बोध होता है। इसीलिए 'ऐति-हासिक' वर्ग में सामान्यतः अतीतकालीन उपन्यास ही स्थान पाते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में समकालीन जीवन के उपन्यास 'सामाजिक' माने गये हैं और अतीत-कालीन जीवन के उपन्यासों को 'ऐतिहासिक' नाम दिया गया है।

इतिहास अतीत के गर्भ में रहता है, परन्तु समस्त अतीत इतिहास नहीं है।

---

१. दि न्यू पिक्चर्ड एनसाइक्लोपीडिया—वॉल्यूम, ७

अतीत के गहन अन्धकार में घुस कर मानव के ज्ञान-विज्ञान ने जिस गहराई तक जीवन को पहचाना है उसी गहराई तक का अतीत 'इतिहास' नाम ग्रहण करता है, उससे पूर्व का अतीत 'प्रागैतिहासिक' है। प्रागैतिहासिक काल के उपन्यासों का मूल्य वही है जो भविष्यकालीन उपन्यासों का, क्योंकि जिस अतीत का पुनरावर्त्तन लेखक केवल कल्पना के आधार पर करता है उसमें उसका व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण ही मुख्य है, ऐतिहासिक सत्य नहीं। अस्तु, 'जिस काल की कुछ भी प्रामाणिक (समकालीन) लिखित सामग्री (सिक्के, शिला-लेख, ताम्रपत्र तथा विवरण आदि) प्राप्य है, उसे कथा-साहित्य के लिए ऐतिहासिक मान सकते हैं'[1]। परन्तु इस प्रामाणिक-इतिहास का पुनरावर्त्तन भी सरल कार्य नहीं। इसमें केवल तथ्यों की आवृत्ति न होकर पुनराख्यान भी होता है। इतिहास, विज्ञान एवं साहित्य दोनों के बीच की वस्तु है। इसलिए ऐतिहासिक अनुशीलन में वस्तु-परकता तथा तटस्थता केवल सिद्धान्त-मात्र के लिए हैं, व्यवहार में इतिहास भी व्यक्तिगत दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है। एक ही प्रामाणिक सामग्री को भिन्न-भिन्न इतिहास-लेखक अलग-अलग महत्व देते हैं; समकालीन जीवन का चित्रण भी कलाकार, सत्य के प्रति ईमानदार होते हुए भी, भिन्न-भिन्न रंगो से करते है; हमारे देश के मध्य-कालीन इस्लामी इतिहास को मुसलमान इतिहासकारो, यूरोपियन यात्रियों और हिन्दी के साहित्यिकों (बनारसीदास जैन आदि) ने अपने-अपने ढंग से अंकित किया है। इसीलिए डब्ल्यू० एच० बाल्श का मत है कि तटस्थ इतिहास-लेखन केवल आदर्श ही नहीं असंभव है[2]। अतीत जिन बिखरे हुए उपकरणो को जुटाता है वे इतिहास की केवल रूपरेखा तैयार करते हैं—एक सूखा हुआ कंकाल, जिसमें रक्त, मांस और प्राण का संचरण इतिहासलेखक का उत्तरदायित्व है। इतिहासकार वैज्ञानिक तथ्यो के ईंट-चूने से जिस भवन का निर्माण करता है उसका चित्र (प्लान) उसके मन में रहता है और इसीलिए इतिहास-भवन पूर्ण निर्माण के बाद साहित्य-प्रासाद बन जाता है। इस प्रासाद में ईंट-चूने का बहुत अधिक महत्व है, फिर भी जब तक व्यवस्था के अनुसार स्थापित करके उनको आवृत न कर दिया जायगा तब तक प्रासाद को सुन्दरता एवं पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। इतिहास तथ्य-संकलन मात्र नहीं है, उसके नाम, तिथियाँ और घटनाएँ उपादान मात्र हैं; उनको जोड़-जाड़ कर हम यह देखना चाहते हैं कि मानव सदा एक-सा ही रहा है, अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत् से निरन्तर संघर्ष करता हुआ वह सोत्साह आगे बढ़ता रहा है; मानव-जगत् का इतिहास मानवता की विजय-गाथा है। इस दृष्टि से विचार करने पर इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास एक दूसरे से बहुत दूर नहीं दिखलाई पड़ते।

इतिहास और उपन्यास के सम्बन्ध पर यथास्थान विचार हो चुका है।[3] यहाँ इतना कह देना और अभीष्ट है कि मूलतः इतिहास एक विज्ञान है इसलिए उसे समस्त

---

१. श्री राहुल सांकृत्यायन : ऐतिहासिक उपन्यास (आलोचना-विशेषांक)

२. इम्पार्शियल हिस्ट्री, सो फार फ्राम बीइंग एन आइडियल, इज ए डाउनराइट इम्पौसिबिलिटी

३. दे० प्रथम अध्याय

उपलब्ध सामग्री का उपयोग करना पड़ता है, भले ही लेखक अथवा पाठक की उसके प्रति रुचि न हो। इसके विपरीत ऐतिहासिक उपन्यास एक साहित्यिक विधा है, इसमें लेखक की रुचि केवल तथ्यचयन ही नहीं करती वरन् सृजन भी करती है। दूसरे शब्दों में इतिहास का लक्ष्य केवल सत्य है और ऐतिहासिक उपन्यास का सत्य एवं सुन्दर। उपन्यास-लेखक इतिहासकार की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। डा० वृन्दावनलाल वर्मा के शब्दों में 'जिन स्थलों पर इतिहास का प्रकाश नहीं पड़ सकता, उनका कल्पना द्वारा सृजन करके, उपन्यास-लेखक भूली हुई या खोई हुई सचाइयों का निर्माण करता है'[1]। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के शब्दों में 'ऐतिहासिक उपन्यास आवश्यकता पड़ने पर जान-बूझ कर इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि एक तो उनका पूर्ण ज्ञान संभव नहीं, दूसरे उपका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना न होकर तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है'।[2]

ऐतिहासिक उपन्यासकार का कर्म अपेक्षाकृत कठोर है, जिस युग में वह रहता है उसको भूलकर अतीत की सजीव कल्पना में अवगाहन करना सामान्य मनोयोग से सभव नही। इसीलिए अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास वर्त्तमान युग की समस्याओं को ही प्रतिबिम्बित करते चलते हैं। बहुत दिनो तक ऐतिहासिक उपन्यास किसी भी पुरानी कहानी को लेकर उसके भीतर मनुष्य का जीवन चित्रित करते रहते थे. उनमें ऐतिहासिकता की अपनी कोई छाप नहीं थी परन्तु १८वी शताब्दी से इंग्लैंड में ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि बदली और बीच के अन्धकार को चीरकर अतीत जीवन का अवलोकन कलाकार का लक्ष्य बना। आज ऐतिहासिक उपन्यासकार का यह कर्त्तव्य समझा जाता है कि वह उस जीवन का चित्रण उसी प्रकार करे जिस प्रकार कि किसी समकालीन लेखक ने किया होता; इतिहास का उपन्यास पर शासन नहीं होना चाहिए, घटनाएँ और व्यक्ति उसी प्रकार चित्रित हों जिस प्रकार कि समकालीन जीवन का उपन्यास लिखते समय किये जाते है। उपन्यास जीवन का चित्र है घटनाओं का विवरण अथवा व्यक्तियो की यशोगाथा नही। अर्नेस्ट ए० बेकर ने ऐतिहासिक उपन्यास[3] के तीन अंग माने है :—

(क) उस काल की स्मृतिया उपन्यासकार के मानस पर इतनी सजग एवं स्पष्ट हो मानो उसने स्वयं उस युग का जीवन भोगा हो और उस काल को किसी भी अन्य काल से अलग करने वाले रीति-रिवाज, सामाजिक दशा, भावनाएँ तथा विचार उसके मनमें इतने स्पष्ट हों जितने किसी भी समकालीन व्यक्ति के मन में रहे होंगे।

(ख) उस काल की विशेषताओं से परिपूर्ण मानव, सामान्य जनता, से उप-

---

१. 'ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण' ('नये पत्ते', जनवरी-फरवरी, १९५३)

२. वैशाली की नगर-वधू

३. दि हिस्ट्री ऑफ दि इंग्लिश नॉवेल, वॉल्यूम ६, पृ० १३७

न्यासकार का निकट सम्पर्क रहे, साथ ही विशिष्ट व्यक्तियों से भी वह परिचित हो।

(ग) उसका कथानक उपर्युक्त समस्त साधनों का पूरा उपयोग करता हो।

ऐतिहासिक उपन्यास में व्यक्ति और समाज दोनों को उचित स्थान मिल सकता है, परन्तु कलाकार की भावना उनके विषय में विशेषज्ञ की भावना न होकर जन-सामान्य की भावना होगी। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति दूर बैठा हुआ अतीत पर जब विचार करता है तब उसकी स्मृति में घटनाएँ कम, उनका प्रभाव अधिक आता है, व्यक्ति छूट भी जाएँ उनके कर्म आ जाते है, उसे ऐतिहासिक शुद्धि-अशुद्धि का ध्यान ही नही रहता, उसी प्रकार ऐतिहासिक कलाकार तथ्यात्मक सचाई को विशेष महत्व नहीं देता। सर वाल्टर स्काट ने 'केनिल्वर्थ' में शेक्सपीयर को पात्रत्व प्रदान कर दिया है, यद्यपि कथानक के काल में शेक्सपीयर एक सामान्य बालक था। बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' में युद्ध-क्षेत्र 'वीरभूमि' को दिखाया है जब कि यथार्थतः वह युद्ध उत्तरी बगाल में हुआ था, और 'कैप्टिन एडवर्ड्स' का नाम बदल कर 'मेजर वुड' कर दिया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'पन्नाबाई' उपन्यास में पण्डितराज जगन्नाथ को मुगल अकबर के दरबार में बुला दिया है, जब कि उस समय पण्डितराज का जन्म भी न हुआ था। फिर भी आलोचकों ने उन तथ्यों का चित्रण संतोष न माना क्योंकि रचना में उस काल की आत्मा बसी हुई है[1], 'जिस व्यक्ति में तनिक भी साहित्यिकता होगी वह यह न सोचेगा कि तथ्यों की पुनरावृत्ति से कोई उपन्यास ऐतिहासिक बन जाता है,[2]। ऐतिहासिक उपन्यास का सबसे मुख्य गुण ऐतिहासिक वातावरण है जो उस रचना को लोक-सामान्य की दृष्टि प्रदान करने से होता है। लोक-सामान्य की दृष्टि के ही कारण ऐतिहासिक उपन्यास में रोमानी आ जाती है। वाल्टर बेजहोट का मत है कि रोमानी कल्पना जो मन का स्वभाव है ऐतिहासिक उपन्यास में उच्चतम सफलता के लिए प्रायः अनिवार्य-सी है; इन उपन्यासों का लक्ष्य अथवा प्रभाव ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति गतानुगतिक भाव को गभीरतर एवं दृढ बनाना है[3]। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले को अपनी रचना के प्रति लोक-सामान्य-दृष्टि ही रखनी पडती है और यह देखा जाता है कि लोक-सामान्य-दृष्टि किसी न किसी अंश में रोमानी होती है[4]। लोक की दृष्टि अत्युक्तिपूर्ण,

---

१. एच० जे० सी० ग्रियर्सन : सर वाल्टर स्कौट, पृ० १३०

२. जे० सी० घोष : बेंगाली लिटरेचर, पृ० १५४

३. लिटरेरी स्टडीज, वौल्यूम II, पृ० १७०

दिस रोमाण्टिक इमैजिनेशन इज ए हैबिट और पावर (एज वी मे चूज टु कौल इट) आफ माइन्ड, ह्विच इज ऑल्मोस्ट इसैन्शियल टु दि हाइएस्ट सक्सेस इन दि हिस्टोरिकल नॉवेल। दि एम, एट ऐनी रेट दि इफैक्ट, आफ दिस क्लास ऑफ वर्क्स सीम्स टु वी टु डीपन एण्ड कन्फर्म दि रिसीव्ड व्यू आफ हिस्टोरिकल पर्सोनेजेज।

वही, पृ० १७१

ए राइटर आफ दि हिस्टौरिकल नॉवेल इज बाउण्ड बाइ दि पौपूलर कान्सैप्शन आफ हिज

भावुक तथा स्थूल है जो ऐतिहासिक उपन्यासों का सफल आधार है।

प्रेमचन्द-पूर्व काल में उपन्यासों का मुख्य विषय सामाजिक तथा घटनात्मक था, फिर भी लेखकों ने ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे, जिनकी मुख्य विशेषता थी 'इतिहास और उपन्यास की तराजू पर तुलता'[1] चला जाना—इतिहास की भी रक्षा और उपन्यास की भी। भारतेन्दु-युग में गदाधरसिंह ने बंकिमचन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' का हिन्दी में अनुवाद किया। तब से बंकिमचन्द्र का प्रभाव हिन्दी-उपन्यास, विशेषतः हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर पडने लगा। 'दुर्गेश-नन्दिनी' की रचना 'आधुनिक योरोपीय शैली' पर हुई थी। बंकिम से कुछ दशाब्दियों पूर्व सर वाल्टर स्काट (सन् १७७१ से १८३२ ई०) ने अंग्रेज़ी में ऐतिहासिक उपन्यास को एक नया रूप दिया था, स्काट से कुछ समय बाद भारतीय इतिहास को लेकर भी अंग्रेज़ी में उपन्यास लिखे गये—विलियम होक्ले का 'पाण्डुरंगहरि' (सन् १८२६) तथा कर्नल टेलर के 'कन्फेशन्स आफ ए ठग' (सन् १८३९), 'टीपू सुलतान' (सन् १८४०), 'तारा' (सन् १८६३), 'राल्फ डारनेल' (सन् १८६५), तथा 'सीता' (सन् १८७३)[2] समकालीन भारतीय इतिहास के अंग्रेज़ी उपन्यास हैं। स्काट ने अतीत की कहानियां सुना कर पाठक के मन मे यह भावना जगाई कि पुराने समय के लोग भी हमारे ही समान थे और जो कुछ उनके जीवन में घटित हुआ वह ठीक वैसा ही है जो यदि हम उस समय होते तो हमारे जीवन में भी घटित होता।[3] परन्तु टेलर ने इतिहास में पाठकों की रुचि जगाई। बंकिम के उपन्यास स्कोट और टेलर दोनो का मिश्रित रूप लिये हुए हैं, वे पाठक को अतीत का इतिहास बतला कर वर्तमान के सुधार में प्रयत्नशील हैं। बंकिम के पात्रों में उन व्यक्तियो के ऐतिहासिक रूप नही मिलता 'वे इतने अस्पष्ट हैं कि यदि घटना अलग करके उनको देखा जाए तो उनमें कोई भी व्यक्तित्व नहीं है। उपन्यास की घटनाएँ केवल घटनाएँ हैं राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम नही।[4] बंकिम का राष्ट्रीय आदर्श हिन्दू-राज्य है। जो कुछ बंकिम के विषय मे कहा जा सकता है वह किशोरीलाल गोस्वामी के विषय में भी सत्य है। बंकिमचन्द्र स्काट से प्रभावित थे और उनके समान ही रोमानी थे, फिर भी उनकी रचनाओ में ऐतिहासिक विवरणो का मोह है, अतीत के जीवन रीति-रिवाज, रंग-ढंग का उतना नही'[5]।

सब्जैक्ट; एण्ड कौमनली इट विल बी फाउन्ड दैट दिस पौपूलर इम्प्रैशन इज टु सम एक्सेटैन्ट ए रोमाण्टिक वन।

१. 'गुप्तगोदना', दूसरा हिस्सा, पांचवां बयान, पृ० ३३-४

२. दि हिस्ट्री आफ दि इंग्लिश नावेल, वौल्यूम ७, पृ० ७६-८

३. एच० जे० सी० ग्रियर्सन : सर वाल्टर स्कौट, पृ० ५८

४. जे० सी० घोष : बंगाली लिटरेचर, पृ० १५५

५. वही, पृ० १५६

हिन्दी के प्रथम मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी हैं, जिनका सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास 'तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी' सन् १९०२ में प्रकाशित हुआ था। उनके बाद गणना के लिए गंगाप्रसाद गुप्त,[1] जयरामदास गुप्त,[2] मथुराप्रसाद शर्मा,[3] बल्देवप्रसाद मिश्र[4], गिरिजानन्द तिवारी[5], ब्रजनन्दन सहाय तथा मिश्र बन्धुओं आदि के नाम लिये जा सकते हैं। सामाजिक और घटनात्मक उपन्यासों की भरमार में ऐतिहासिक उपन्यासों की इतनी न्यूनता यह बतलाती है कि प्रेमचन्द-पूर्व-काल ऐतिहासिक उपन्यास के लिए उपयुक्त नही था। इस काल में जितनी रचनाएं हुईं वे इतिहास का सहारा ही लेकर अपना काम चलाती रही। सामाजिक उपन्यास समकालीन 'सच्ची घटना' पर जीते थे, और इतर उपन्यास अतीत की बातें सुनाकर मनोरंजन करते थे—'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का 'चुनार' और 'संतति' का 'रोहिताश्व' दुर्ग घटनात्मक रग मे इतिहास के छीटे हैं। जो उपन्यास ऐतिहासिक बतलाये गये हैं, उनमें इतिहास तो थोड़ा-बहुत है परन्तु 'ऐतिहासिकता' नहीं। हां, अनैतिहासिकता भी चित्रित नही की गई। इतिहास के लिए इस काल के लेखक समस्त देश में घूमते रहे; 'काश्मीर में हलचल' में कनकप्रभा की दृढ़ता और सतीत्व-रक्षा···जुबारखा की नीचता और अजीमखां की क्रूरता···' चित्रित है तो 'कलावती' उपन्यास में 'राजा प्रतापसिंह का अरावली पर्वत की तराई पर शिकार खेलने जाना—दाऊदखा के हाथ से राजगढ़ का किला छीनना' आदि का वर्णन है, 'मायारानी' उपन्यास में 'बीजापुर की उस लड़ाई का वर्णन है जो सन् १५६४ में हुई थी और आज तक 'युद्ध-तिलिकोट' के नाम से प्रसिद्ध है', तो 'पजाब पतन' मे 'सिक्खों और अंग्रेजों की जो-जो भयानक लडाइयां हुई जिन रीतियों से अंग्रेजों ने पजाब को विजय किया है इस उपन्यास में उनका पूरा वर्णन है'[6]। मध्यकालीन इतिहास से प्रभावशालिनी घटनाओं को लेकर लेखको ने जो उपन्यास लिख दिये हैं उनको ऐतिहासिक बतलाने का उन्होंने प्रयत्न किया है। सत्य तो यह है कि उस युग के उपन्यासकार की युग-चित्रण मे कोई रुचि नहीं थी, वह घटनाओं से पाठक का मनोरंजन करता था। लेखकों की मुख्य प्रेरणा मध्यकाल था, राजपूतों का मुसलमानों के साथ एक सहस्र वर्ष का सघर्ष उपन्यास का गौरवपूर्ण आकर्षण है; अधिकतर उपन्यासकारों ने उसी का चित्रण किया है। कर्नल टाड कृत राजस्थान का इतिहास अनेक कथानकों का आधार बना, पराजय में आत्मगौरव की रक्षा करने वाले राष्ट्र वीरों ने उपन्यास-लेखकों को प्रेरित किया। यहाँ किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त मथुराप्रसाद शर्मा, जयरामदास गुप्त, ब्रजनन्दन सहाय और मिश्रबन्धुओं के एक-एक

१. मुख्य रचनाएं—'नूरजहां' (सन् १९०२), 'हम्मीर' (सन् १९०४)
२. मुख्य रचनाएं—'कश्मीर पतन', 'नवाबी परिस्तान'।
३. मुख्य रचनाएं—'नूरजहां बेगम' (सन् १९०५)।
४. मुख्य रचनाएं—'अनारकली' (सन् १९००), 'पानीपत' (सन् १९०२), 'पृथ्वीराज चौहान' (सन् १९०२)
५. मुख्य रचना—'पद्मिनी' (सन् १९०५)
६. उपन्यास-सागर-आफिस, बनारस के विज्ञापन से।

उपन्यास पर सामान्य प्रवृत्ति की दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

आलोच्य-काल के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सर्वप्रथम पंडित किशोरीलाल गोस्वामी का नाम है। इनके ६५ उपन्यासों में से, भागों को अलग-अलग गिन कर, दो दर्जन से अधिक उपन्यास ऐतिहासिक हैं। इनका प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'आदर्श रमणी वा हृदयहारिणी' है जो सन् १८८० में दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' में छपा था; यही हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है जो पुस्तकाकार सन् १९०४ में ही छप सका। गोस्वामी जी बंगाली प्रभाव से सर्वप्रथम समकालीन बंगाली इतिहास की ओर आकृष्ट हुए थे, फलतः उनके प्रथम दो उपन्यास 'आदर्शरमणी वा हृदयहारिणी' तथा 'लवगलता वा आदर्शबाला' उसी भूभाग का चित्रण करते हैं। बंकिम की हिन्दू राष्ट्रीयता से प्रभावित होकर ही कदाचित् किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में मुसलमानों का मलिन चित्रण किया है और उन्हीं के चरित्र का रहस्य प्रकट करने वाले कथानक रचना के लिए ग्रहण किये हैं। बंगाल के साथ-साथ उन्होंने आगरा, दिल्ली तथा लखनऊ केन्द्रों के भी उपन्यास लिखे, और उनमें शासन के रहस्यों का सनसनीपूर्ण उद्घाटन किया। उनका सबसे सफल ऐतिहासिक उपन्यास 'तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी' है जिसमें लेखक ने अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट किया है। अतः सर्वप्रथम इसी उपन्यास पर विचार करना अधिक समीचीन होगा।[1]

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास

तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी

'तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी' उपन्यास की रचना सन् १९०२ में हुई थी, इसका दूसरा संस्करण सन् १९१४ में निकल गया था। इस उपन्यास के तीन भाग हैं, जो अलग-अलग जिल्दों में छपे थे। लेखक ने 'तारा' को 'ऐतिहासिक उपन्यास' मुखपृष्ठ पर लिखा है। इस उपन्यास की बड़ी प्रशंसा हुई। पं० माधवप्रसाद मिश्र[1] ने 'तारा' को पढ़कर पं० किशोरीलाल गोस्वामी को एक प्रशंसात्मक पत्र में लिखा था :—

"....आपकी 'तारा' के अवलोकन से जो मुझे आनन्द प्राप्त हुआ, उसे प्रकाश किये बिना नहीं रहा जाता। हिन्दी के इतिहास-रहित उपन्यासान्धकार में ज्योतिर्मयी 'तारा' अपनी ओर रसिकों का चित्त आकर्षण करेगी, इसमें सन्देह नहीं। इसके तीसरे भाग में आर्त्ता राठौरनन्दिनी ताराबाई की उस पत्रिका के पाठ से, जो उसने वीराङ्गज राजसिंह के नाम लिखी थी, आपकी काव्यकुशलता और मार्मिकता का भलीभांति परिचय मिलता है। इस प्रकार की ओजस्विनी एवं सरस कविता न केवल मनोविनोद ही का कारण है, प्रत्युत इससे आत्मविस्मृत देश का उपकार भी हो सकता है।"

'हिन्दी-बंगवासी'[2] ने भी इस उपन्यास की लगभग ऐसी ही समीक्षा की थी :—

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'नाट्यसम्भव' (रूपक) (१९०४ ई०) में एक विज्ञापन से।

२. हिन्दी बंगवासी, ६ अप्रैल, सन् १९०३ ई०।

"—इधर 'तारा' की चिट्ठी पढकर चित्त एक बार अनेक प्रकार के ख्यालों में उलझ जाता है। तारा के साहस, प्रेम, तथा स्वामिभक्ति का परिचय चिट्ठी पढ़ने ही से मालूम होगा।'[1]

कला की दृष्टि से यह उपन्यास उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे उत्कृष्ट एवं नमूने के लिए मुख्य प्रतिनिधि है। उसमें लेखक ने ऐतिहासिक उपन्यास के विषय में अपना अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष मत भी दिया है। यदि उस मत पर सहानुभूति पूर्वक विचार किया जाय तो पता लगेगा कि उन परिस्थितियों और उन उद्देश्यो मे जो मार्ग किशोरी-लाल ने चुना था उससे भिन्न मार्ग हो नही सकता। उन्होने अपने बनाये उपन्यासो में 'ऐतिहासिक घटना को गौण' और 'अपनी कल्पना को मुख्य' रखा है और 'कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार भी कर दिया है' इसके दो कारण हैं—

(क) यह 'उपन्यास' है, 'इतिहास' नहीं;

(ख) इसमे आर्यों के यथार्थ गौरव का गुण-कीर्तन है, कुछ मुसलमान इतिहास-लेखकों की भाति स्वजाति-पक्षपात नहीं है।[1]

मुसलमानी शासन में तथाकथित इतिहास-लेखक भी मुसलमान थे, उन्होंने सत्य के प्रति न्याय नही किया। साम्प्रदायिक जोश में या तो सत्य को विकलांग कर दिया है या उसकी उपेक्षा कर दी है। फलतः योरोपीय लेखकों के विवरणों की छाया में मुसलमान लेखको के मुस्लिमयुगीन इतिहास विकृत एवं अविश्वसनीय सिद्ध हो जाते हैं, अब प्रश्न यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने कथानक में महत्व उस प्रसिद्ध परन्तु अपूर्ण, प्रचलित परन्तु पक्षपातमय इतिहास को दे या नवीन छाया में ज्ञात तथ्यों को। निश्चय है कि नवीन खोज के सामने पुराने लेख तो उपयोगी नहीं रहते। यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि पाठक के लिए जितना आकर्षण इन सनसनीपूर्ण रहस्य-भरी नई खोजों में होगा उतना प्रशस्तात्मक सपक्षपात प्रचलित तथ्यो में नही। इसी-लिए गोस्वामी जी ने इतिहास से केवल वे रंग लिये है जो उपेक्षित रहस्यों का उद्घाटन[2] कर सकते हैं, और उनको अपनी कल्पना[3] से चमका भी दिया है। उपन्यास

---

१. 'तारा' उपन्यास, प्रथम भाग, निवेदन।

२. ·····कोटि-कोटि धन्यवाद योरोपीय इतिहास-लेखकों को है कि जिनके लिखे इतिहासों में बहुत कुछ मुसलमानी राज्य के समय के इतिवृत्त की सफलता प्रकट हुई है।—हमने ऐतिहासिक घटना में विशेष कर इन्हीं महात्माओं के लेख से सहायता भी ली है—हमने इस उपन्यास में टाड-राजस्थान, बर्नियर की यात्रा, एक बंगला प्रबन्ध, और अधिकांश सहायता सिगनर म्यानिसी के लिखित विवरण से ली है। (तारा, प्रथम भाग, निवेदन)

३. ···इतिहास में जैसे 'वास्तविक घटना' बिना काम नहीं चलता वैसे ही उपन्यास में भी कल्पना का आश्रय लिए बिना प्रन्थ नहीं लिखा जा सकता। ऐसी अवस्था में 'ऐतिहासिक' उपन्यास लिखने के लिए इतिहास के सत्यांश के साथ तो कल्पना की थोड़ी ही आवश्यकता पड़ती है, पर

के राज-पथ पर बुद्धिनन्दिनी कल्पना उत्साहपूर्वक विचरण करती है परन्तु इतिहास के कठोर शासन में भयकम्पित होकर उसे तथ्य का आश्रय लेना पडता है; आन्तरिक छल-छद्म एवं शिथिलता के कारण यदि इतिहास का शासन उसे कम्पित न कर सका तो कल्पना अपनी स्वच्छन्दता का क्यों बलिदान करेगी। अस्तु, दुर्बल इतिहास अपनी शक्ति से अपरिचित रहकर कल्पना के सम्मुख स्वय झुक जाता है।

यह निश्चय कर चुकने पर कि इतिहास-राज की कमजोरी के कारण उपन्यास-देश पर कल्पना-सचिव का ही शासन चलता है, देखना यह है कि इस शासन का स्वरूप कैसा हो सकता है। स्वरूप दो हो सकते हैं—पूर्ण व्यवस्था, एवं उपेक्षितों को महत्व-प्रदान। पूर्ण व्यवस्था आदर्श है, यथार्थ नहीं, और यदि संभव भी हो सके तो भी अत्यन्त कठिनता से ही। तब उपेक्षितों को महत्व-प्रदान ही एकमात्र सामान्य कर्म बच रहता हैं। फलतः इतिहास की जो बातें अब तक दुर्गन्धपूर्ण जानकर भूमि के नीचे दबा दी गई थीं वे प्रकट होकर सब का ध्यान आकृष्ट करने लगती हैं। यही कारण है कि किशोरीलाल गोस्वामी के हाथ मुस्लिम इतिहास के सहानुभूतिपूर्ण चित्र नही उतर सके। वे प्रशंसक बनकर उस युग मे विचरण करने नही गये, प्रत्युत रहस्य को जान कर तिलिस्म को तोडने पहुँचे है। यह नियम उनके सभी ऐतिहासिक उपन्यासो पर लागू होता है। उनमे मुसलमानो के विलास, लम्पटता, ईर्ष्या-द्वेष, दुश्चरित्रता, भय और आतंक के चित्र है। मुसलमान राजकुमारियो के वैयक्तिक जीवन का घृणित प्रकाशन है; पारस्परिक स्वार्थों का निर्दय सघर्ष है और हिन्दुओ के प्रति उनके नीच व्यवहार का दिग्दर्शन है। शाहजादियों की रहस्यपूर्ण कथाएं सामान्यतः रोचक ही होती हैं, अगर उनको ऐतिहासिक समर्थन भी प्राप्त हो तब तो उनमें साहित्यिक सौन्दर्य आ जाता है। इग्लैड की राजकुमारी एलिज़ाबेथ ट्यूडर शासिका रूप मे विख्यात है स्पेन तथा फ्रास को उसने अपना सहायक किस प्रलाभन मे बनाया यह भी सब जानते है, परन्तु अपने देश मे ही अलों के साथ उसकी प्रेम-कहानियां कम रहस्यपूर्ण नही है। इसी प्रकार हिन्दू-मुसलिम-एकता का दावा करने वाले मुगल अकबर की इन्द्रियलिप्सा आज सभी इतिहासज्ञों के सम्मुख आ चुकी है। रजिया बेगम योग्य शासिका थी, परन्तु उसने चिरकाल तक विवाह नही किया, क्यो ? यह आज के मनोविज्ञान के समक्ष खोज का विषय है। मुगलवश की कनावती शहजादियां जीवन भर कुमारी ही रहीं, राज-नैतिक दम्भ के कारण, क्या उनके मनकी उमगें उपन्यास की रोचकता में कुछ कमी रहने देंगी। अवध के वाजिदअलीशाह की दिनचर्या आज तक घृणा और सहानुभूति का विषय बनी हुई है। लेखक ने ऐसे ही स्थलो को अपने उपन्यासो के लिए चुना है और उनमें केवल रहस्य भरे तथ्यों का अंकन किया है। ये रहस्य कल्पनाजीवी होकर भी तथ्याश्रयी हैं, यूरोपीय लेखकों के विवरणों से उनको समर्थन प्राप्त होता है।

जहां इतिहास की घटना जटिल, सत्याभासमात्र, और कपोलकल्पित भासती है, वहां लाचार हो, इतिहास को बाध कर कल्पना ही अपना पूरा अधिकार फैला लेती है। (वही)

मुसलमान शासन में स्त्री-जाति की जो दुर्दशा हुई वह रोचक भी है और घृणित भी।[१] उस काल पर उपन्यास लिखने वाला उस कीचड़ से बच नहीं सकता।[२] इन उपन्यासों में भी इसीलिए उस गन्दगी को स्थान मिल गया है। रहस्य, व्यक्ति (विशेषतः नारी) के जीवन के हों या शासन की जड़ों (सुरंग, किले, तिलिस्म, तहखाने आदि) के—इन उपन्यासों के प्राण हैं। सामान्यतः लोक-साहित्य का जीवन 'युद्ध और प्रेम' है, है, परन्तु इन उपन्यासों में युद्ध के स्थान पर छल-छद्म-मय चालें (तिलिस्म, सुरंग, हत्या, कत्ल, पाशव व्यवहार आदि) आ गयी हैं; और प्रेम के स्थान पर ऐन्द्रिय व्यभिचार; क्योंकि ये उपन्यास जिस काल के हैं उस काल में सबसे अधिक फैली हुई ये ही चीजें थीं।

यदि किशोरीलाल अपने समय से पच्चीस वर्ष आगे होते, यदि उनके युग तक सामाजिक आन्दोलन शान्त हो गये होते, यदि मध्ययुग के दोषों को अनदेखा करके देश की दुर्दशा का एकमात्र कारण अंग्रेजी शासन को ठहराने की प्रथा चल गई होती, यदि उपन्यास में चरित्रचित्रण को ही मुख्य महत्त्व मिल गया होता, यदि वे श्रद्धा के कारण मध्ययुगीन इतिहास के निकट गये होते, तो उनके उपन्यासों में इतिहास का वह रूप न मिलता जो आज उपलब्ध है। जयशंकरप्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा ने जिस इतिहास को चुना वह उनके स्वप्नों का काल है, उनका मन उस काल के प्रति श्रद्धा-वनत होता है और तन उसके वातावरण से रोमाचित हो जाता है। इसके विपरीत किशोरीलाल गोस्वामी, उस समय के अन्य सामाजिक नेताओं के समान, देश की अधो-गति का कारण खोजते-खोजते मध्ययुग तक पहुँचे और इस्लामी शासन के विकारों को देखकर स्वयं भी आश्चर्यचकित हो गये और पाठक को भी उनसे सावधान करने लगे। यही कारण है कि वे इस्लामी संस्कृति का चित्रण सफलतापूर्वक नहीं कर पाये हैं। योग्य शासक, मेलजोल से रहने वाली शान्तिप्रिय प्रजा, मिश्रित भोजन एवं वस्त्र, कला के विशाल स्मारक, एवं सुखी-निश्चिन्त दरबारियों की ओर उनका ध्यान गया ही नहीं, और यदि गया भी तो निराश होकर लौट आया। अस्तु, यदि उनकी तुलना सफल ऐतिहासिक उपन्यासकारों से की जाये तो उनका स्थान बहुत ऊँचा नहीं है। परन्तु यदि यह परीक्षा की जाय कि जिन रहस्यों का उन्होंने उद्घाटन किया है वे पाठक के मन पर स्थायी प्रभाव डालते हैं या नहीं, तो वे सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण हो जाते हैं। ऐति-हासिक उपन्यासों में भी सुख का सन्देश देकर मानो वे राष्ट्र को आत्मविश्वासी बना रहे हैं, यही उनके ऐतिहासिक उपन्यासों का उद्देश्य था :—

---

१. 'तारा' उपन्यास के 'निवेदन' में दिये गये ऐतिहासिक विवरण को देखिए:—"—महल में ३०० से अधिक नाजनीन थीं, उनमें दो हिस्से थे—एक अव्वल दर्जे की बेगम (जो विवाहिता होती थीं), और दूसरी वे कि जिनकी गिनती पहिली से बहुत ही जियादह थी, केवल भोग-विलास के लिए चुन-चुन कर इकट्ठी की जाती थीं। उनको यदि बच्चे होते तो वह महल के अन्दर ही मार डाले जाते थे और शाहजादियां, जो कि ब्याही नहीं जाती थीं प्रायः गर्भपात या बालहत्या के पाप में डूबी रहती थीं।"

'दुःख-सुख सदा किसी का बराबर स्थिर नहीं रह सकता। जो कल सुखी था, आज उसके दुःख का बारापार नहीं है, और जो एक दिन दुःखी दिखलाई देता था, वह आज संसार में अपने से बढ़कर किसी को सुखिया नहीं समझता। बस यही इस माया-मय संसार की गति है, और इससे किसी का भी छुटकारा नहीं होता। ·····ईश्वर सबको ऐसा ही सुखी-चिरसुखी करे।' (तारा, तीसरा भाग, पृ० ८३)

'तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी' उपन्यास की कथा इतिहास-प्रसिद्ध है। अकबर के काल से ही राजपूत राजा आगरा और दिल्ली के मित्र और सहायक बन गये थे। इनमें जोधपुर के महाराजा गजसिंह का नाम उल्लेखनीय है, वे जहाँगीर के अनन्य हितैषी थे। गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र का नाम अमरसिंह था, जिनका सम्बन्ध इस उपन्यास से है। रानी की मृत्यु के बाद गजसिंह ने दूसरा विवाह किया; छोटी रानी से दो पुत्र हुए; यशोवन्तसिंह जो साहित्य के इतिहास में 'भाषा-भूषण' के लेखक-रूप में प्रसिद्ध हैं और अचलसिंह; अचलसिंह की मृत्यु बाल्यावस्था में हो गई थी। गजसिंह ने असन्तुष्ट होकर ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया और उनको राज्य से निकाल दिया। अमरसिंह पिता की आज्ञा मानकर अपनी पत्नी (बूंदी की राजकुमारी) चन्द्रावती और अपनी ६ वर्ष की कन्या 'तारा' को साथ लेकर पिता के राज्य से बाहर हो गये; उनके साथ कुछ विश्वासपात्र सरदार भी थे। इधर जहाँगीर की मृत्यु के बाद राजकुमारों में सिंहासन के लिए झगड़ा चलने लगा। नूरजहाँ चाहती थी कि उसका दामाद गद्दी पर बैठे, परन्तु राजपूतों की सहायता से शाहज़ादा खुर्रम शाहजहाँ के नाम से सिंहासन पर बैठ गया। इस अन्तःकलह में अमरसिंह से शाहजहाँ को विशेष सहायता मिली थी। शाहजहाँ ने उनको तीन हज़ार सवारों की मनसबदारी और जागीर दी, यमुना के किनारे उनके लिए एक महल भी बनवा दिया। तब से अमरसिंह शाहजहाँ के विश्वासपात्र बन गये, यह देखकर खजांची सलावतखाँ उनसे मन ही मन जलने लगा। मुमताजमहल की मृत्यु के बाद सल्तनत रौशनआरा और जहानआरा के हाथ में खेलने लगी। रौशनआरा औरंगज़ेब से मिली हुई थी, सलावत भी उसी गिरोह में था। जहानआरा दारा के पक्ष में थी, वह तारा की सहेली भी थी, हकीम इनायतुल्ला इनका सहायक था। इस बीच तारा बड़ी हो गई थी, और उसका विवाह उदयपुर के युवराज राजसिंह के साथ निश्चित हो गया था। इधर सलावत और दारा दोनों की तारा पर कुदृष्टि थी। अपनी सहेली रम्भा की सहायता से तारा ने यवनों को खूब छकाया और आगरा से राजसिंह के साथ निकल चलने का उपाय किया। सलावत इस प्रयत्न में बाधा डालना चाहता था। अन्त में अमरसिंह ने सबके सामने सलावत के कलेजे में कटार भोंक दी, और दूसरी कटार से शाहजहाँ पर भी आक्रमण किया। उस कटार के लगने से पत्थर के खंभे की एक बालिश्त चिट्टी उड़ गई जिसका निशान आज तक बना हुआ है। मारकाट मचाते हुए अमरसिंह आगरा के किले से निकल रहे थे कि उन पर आक्रमण हुआ और उनका घोड़ा किले से बाहर कूदता हुआ मारा गया; आज भी उस स्थान पर एक पत्थर का घोड़ा बना हुआ है जिसको शाहजहाँ ने बनवाया था। शाहजहाँ को

जब सारी घटना की वास्तविकता का पता लगा तो उसको बहुत पश्चाताप हुआ, उसने अमरसिंह का नाम अमर करने के लिए उस फाटक का नाम 'अमरसिंह का फाटक' रख दिया, जिस पर उस राठौर-वीर ने मारकाट मचाई थी। बनवारी कवि (सन् १६४४-४५ के लगभग) ने इस घटना का बड़ा रोमांचकारी वर्णन किया है :—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हन्यो सलावत खान॥

\+ \+ \+

कहै बनवारी बादसाही के तखत पास,
फरकि फरकि लोथ लाथिन सों अरकी।
हिन्दुन की हद्द सद राखी तै अमर सिंह,
कर की कड़ाई कै बडाई जमघर की॥

इस कथानक में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है राव अमरसिंह का सलावतखां को भरे दरबार में मार देना और स्वयं शत्रुओं के हाथ से मारा जाना। किस कारण अमरसिंह सलावत पर इतने क्रुद्ध हुए यह विवादरहित नहीं है। डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना लिखते हैं कि सन् १६६४ ई० में जहानआरा के कपड़ों में आग लग गई जिससे वह स्वयं भी काफी जल गई थी। अमरसिंह भी उन दिनों बीमारी के कारण दरबार से अनुपस्थित थे। २६ जुलाई को वे वापिस आये तो सलावत उनको बादशाह के पास ले गया। अमरसिंह बायीं ओर खड़े थे, बादशाह कोई हुक्म लिख रहा था, सलावत दायीं ओर से नीचे उतर कर किसी अफसर से बात करने लगा। अकस्मात् अमरसिंह उसकी ओर बर्छी निकाल कर दौड़े और सलावत की बायीं ओर पूरी भोंक कर उसको वहीं मार डाला[1]। लाहौरी के 'पादशाहनामा' में लिखा है कि अमरसिंह को यह शक हुआ कि सलावत उनके विरुद्ध शिकायत कर रहा है।[2] 'डच पादरी बालड्यूस लिखता है कि उक्त घटना ४ अगस्त सन् १६४४ ई० को दोपहर के बाद हुई थी और इसका कारण यह था कि सलावत खां ने अमरसिंह से यह पूछ कर कि वह दरबार में इसके पहिले क्यों नहीं हाजिर हुए, उन्हें क्रुद्ध कर दिया था'।[3] बीमार होने के कारण या जैसा कि अमरसिंह के कवि बनवारी का कथन है छुट्टी से अधिक दिन व्यतीत करने पर किये गये जुरमाने के रुपये न देने के कारण सलावतखां बख्शी ने दरबार में उसके लिए तकाजा किया जिस पर इन्होंने रोष प्रकट किया। सलावतखां ने इस पर इन्हें गंवार कहा जिससे क्रुद्ध होकर इन्होंने उसे मार डाला'।[4]

राव अमरसिंह अकस्मात् ही क्रुद्ध होकर सलावत को मार बैठे हों, ऐसा सम्भव नहीं लगता। उनका सलावत से मनोमालिन्य अवश्य चल रहा होगा, कारण 'बीकानेर

---

१. हिस्ट्री आफ शाहजहान् आफ दिल्ली, ३१६-७
२. बालयूम २, पृ० ३८० (उपर्युक्त पुस्तक में उद्धृत)
३. मआसिरुल उमरा, फुटनोट, पृ० ७१
४. वही, पृ० ७२

की सीमा'[1] हो अथवा तारा। इस घटना के बाद खलीलुल्लाह खां और अर्जुन का अमरसिंह पर आक्रमण करना भी किसी पुराने वैर का द्योतन करता है। अमरसिंह के साथियों को जब इस दुर्घटना का पता लगा तो उन्होने विट्ठलदास के पुत्र अर्जुन से अमरसिंह की मृत्यु का बदला लिया।[2] उपन्यासकार का मत है कि इस वैर का कारण दुष्ट सलावत की राजकुमारी तारा पर कुदृष्टि थी।

इस कल्पना का मुख्य आधार राजस्थान की अनुश्रुतियां हैं : कर्नल टाड के अनुसार मुगल शाहजादे ने मारवाड़ के रूपनगर की राजकुमारी को अपनी बेगम बनाना चाहा, परन्तु स्वाभिमानिनी राजपूत-कन्या ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और शीशोदिया राजसिंह को अपना प्राण समर्पित कर के उसकी रक्षा का सन्देश कुल-पुरोहित के हाथ भेज दिया। सन्देश में कहा गया था कि क्या हंसिनी कभी बगुले की साथिन हो सकती है, क्या पवित्र राजपूतनी कभी यवन को पति मान सकती है, यदि तुमने रक्षा न की तो मैं सतीत्व की रक्षा करती हुई प्राण-विसर्जन कर दूंगी।[3] लेखक ने इस पत्रिका को ज्यों का त्यों दे दिया है और ऊपर कहा जा चुका है कि इसकी मार्मिकता की सभी आलोचकों ने प्रशंसा की हैं। तारा मारवाड़ वश की ही थी, उस पर शाहजादा दारा कुदृष्टि रखता था, राजसिंह ने उसका उद्धार किया और उसको अपनी पत्नी बनाया। वारिस के 'पादशाहनामा' के अनुसार किसी राव अमरसिंह की पुत्री का विवाह दारा के जेष्ठ पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ सन् १६५४ में हुआ था[4]। इन सब बिखरे हुए तथ्यों के प्रकाश में गोस्वामी जी की कल्पना तथ्यात्मक भले ही कम हो परन्तु भावना में ऐतिहासिक ही है और राजपूती इतिहास का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करती है।

बंकिमचन्द्र ने भी प्रसिद्ध उपन्यास 'राजसिंह' (सन् १८८२ ई०) में इस इतिहास को अपने कथानक का आधार बनाया है। परन्तु उनकी कल्पना ने टाडकृत राजस्थान के इतिहास से बहुत सहायता ली है। अतः नायिका का नाम चंचलकुमारी है। वह रूपनगर की राजकुमारी थी, औरंगजेब उसको प्राप्त करना चाहता था। गोस्वामी जी ने इतिहास से सहायता लेते हुए भी कल्पना को पर्याप्त स्वतन्त्रता दे दी है।

उपन्यास की कथावस्तु का केन्द्रस्थल आगरा का राजमहल है और चित्र उन दो तीन वर्षों का है जब शाहजहां को जीवन से हताश जानकर उसके राजकुमार सिंहासन के लिए लुक-छिप कर दांव-पेच चला रहे थे। इतिहास की दृष्टि में तो दो घटनाएं मुख्य हैं—रोशनआरा तथा जहानआरा के छिपे-छिपे प्रयत्न, और अमरसिंह का सलावत पर रोष; इन दोनों घटनाओं की जोड़ने वाली कड़ी अमरसिंह के विद्वेषी सलावत

---

१. वही, पृ० ७२
२. एनल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज आफ राजस्थान, पृ० ३०१
३. एनल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज आफ राजस्थान, पृ० ३०१
४. हिस्ट्री आफ शाहजहान आफ दिल्ली, पृ० ३११

जब सारी घटना की वास्तविकता का पता लगा तो उसको बहुत पश्चाताप हुआ, उसने अमरसिंह का नाम अमर करने के लिए उस फाटक का नाम 'अमरसिंह का फाटक' रख दिया, जिस पर उस राठौर-वीर ने मारकाट मचाई थी। बनवारी कवि (सन् १६४४-४५ के लगभग) ने इस घटना का बडा रोमांचकारी वर्णन किया है :—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद मे हन्यो सलावत खान॥

\+ \+ \+

कहै बनवारी बादसाही के तखत पास,
फरकि फरकि लोथ लाथिन सो अरकी।
हिन्दुन की हद्द सद राखी तै अमर सिह,
कर की कडाई कै बडाई जमधर की॥

इस कथानक में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है राव अमरसिंह का सलावतखा को भरे दरबार में मार देना और स्वय शत्रुओ के हाथ से मारा जाना। किस कारण अमरसिंह सलावत पर इतने क्रुद्ध हुए यह विवादरहित नही है। डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना लिखते हैं कि सन् १६६४ ई० में जहानआरा के कपड़ो मे आग लग गई जिससे वह स्वय भी काफी जल गई थी। अमरसिह भी उन दिनों बीमारी के कारण दरबार से अनुपस्थित थे। २६ जुलाई को वे वापिस आये तो सलावत उनको बादशाह के पास ले गया। अमरसिंह बायी ओर खडे थे, बादशाह कोई हुक्म लिख रहा था, सलावत दायीं ओर से नीचे उतर कर किसी अफसर से बात करने लगा। अकस्मात् अमरसिह उसकी ओर बर्छी निकाल कर दौड़े और सलावत की बायीं ओर पूरी भोंक कर उसको वहीं मार डाला[1]। लाहौरी के 'पादशाहनामा' में लिखा है कि अमरसिंह को यह शक हुआ कि सलावत उनके विरुद्ध शिकायत कर रहा है।[2] 'डच पादरी बालड्यूस लिखता है कि उक्त घटना ४ अगस्त सन् १६४४ ई० को दोपहर के बाद हुई थी और इसका कारण यह था कि सलावत खां ने अमरसिंह से यह पूछ कर कि वह दरबार में इसके पहिले क्यों नही हाजिर हुए, उन्हें क्रुद्ध कर दिया था'।[3] बीमार होने के कारण या जैसा कि अमरसिंह के कवि बनवारी का कथन है छुट्टी से अधिक दिन व्यतीत करने पर किये गये जुर्माने के रुपये न देने के कारण सलावतखा बख्शी ने दरबार में उसके लिए तकाजा किया जिस पर इन्होने रोष प्रकट किया। सलावतखां ने इस पर इन्हें गंवार कहा जिससे क्रुद्ध होकर इन्होंने उसे मार डाला'।[4]

राव अमरसिंह अकस्मात् ही क्रुद्ध होकर सलावत को मार बैठे हों, ऐसा सम्भव नहीं लगता। उनका सलावत से मनोमालिन्य अवश्य चल रहा होगा, कारण 'बीकानेर

---

१. हिस्ट्री आफ शाहजहान् आफ दिल्ली, ३१६-७
२. वाल्यूम २, पृ० ३८० (उपर्युक्त पुस्तक में उद्धृत)
३. मआसिरुल उमरा, फुटनोट, पृ० ७१
४. वही, पृ० ७२

की सीमा'[1] हो अथवा तारा। इस घटना के बाद खलीलुल्लाह खां और अर्जुन का अमरसिंह पर आक्रमण करना भी किसी पुराने वैर का द्योतन करता है। अमरसिंह के साथियों को जब इस दुर्घटना का पता लगा तो उन्होने विट्ठलदास के पुत्र अर्जुन से अमरसिंह की मृत्यु का बदला लिया।[2] उपन्यासकार का मत है कि इस वैर का कारण दुष्ट सलावत की राजकुमारी तारा पर कुदृष्टि थी।

इस कल्पना का मुख्य आधार राजस्थान की अनुश्रुतियां हैं: कर्नल टाड के अनुसार मुगल शाहजादे ने मारवाड़ के रूपनगर की राजकुमारी को अपनी बेगम बनाना चाहा, परन्तु स्वाभिमानिनी राजपूत-कन्या ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और शीशोदिया राजसिंह को अपना प्राण समर्पित कर के उसकी रक्षा का सन्देश कुल-पुरोहित के हाथ भेज दिया। सन्देश में कहा गया था कि क्या हंसिनी कभी बगुले की साथिन हो सकती है, क्या पवित्र राजपूतनी कभी यवन को पति मान सकती है, यदि तुमने रक्षा न की तो मैं सतीत्व की रक्षा करती हुई प्राण-विसर्जन कर दूंगी।[3] लेखक ने इस पत्रिका को ज्यो का त्यो दे दिया है और ऊपर कहा जा चुका है कि इसकी मार्मिकता की सभी आलोचकों ने प्रशंसा की हैं। तारा मारवाड वश की ही थी, उस पर शाहजादा दारा कुदृष्टि रखता था, राजसिंह ने उसका उद्धार किया और उसको अपनी पत्नी बनाया। वारिस के 'पादशाहनामा' के अनुसार किसी राव अमरसिंह की पुत्री का विवाह दारा के जेष्ठ पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ सन् १६५४ में हुआ था[4]। इन सब बिखरे हुए तथ्यों के प्रकाश मे गोस्वामी जी की कल्पना तथ्यात्मक भले ही कम हो परन्तु भावना में ऐतिहासिक ही है और राजपूती इतिहास का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करती है।

बकिमचन्द्र ने भी प्रसिद्ध उपन्यास 'राजसिंह' (सन् १८८२ ई०) में इस इतिहास को अपने कथानक का आधार बनाया है। परन्तु उनकी कल्पना ने टाडकृत राजस्थान के इतिहास से बहुत सहायता ली है। अतः नायिका का नाम चचनकुमारी है। वह रूपनगर की राजकुमारी थी, औरगजेब उसको प्राप्त करना चाहता था। गोस्वामी जी ने इतिहास से सहायता लेते हुए भी कल्पना को पर्याप्त स्वतन्त्रता दे दी है।

उपन्यास की कथावस्तु का केन्द्रस्थल आगरा का राजमहल है और चित्र उन दो तीन वर्षों का है जब शाहजहां को जीवन से हताश जानकर उसके राजकुमार सिंहासन के लिए लुक-छिप कर दांव-पेच चला रहे थे। इतिहास की दृष्टि मे तो दो घटनाएं मुख्य हैं—रोशनआरा तथा जहानआरा के छिपे-छिपे प्रयत्न, और अमरसिंह का सलावत पर रोष; इन दोनों घटनाओं की जोड़ने वाली कड़ी अमरसिंह के विद्वेषी सलावत

---

१. वही, पृ० ७२
२. एनल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज आफ राजस्थान, पृ० ३०१
३. एनल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज आफ राजस्थान, पृ० ३०१
४. हिस्ट्री आफ शाहजहान आफ दिल्ली, पृ० ३११

खां का रोशनआरा के दल से सम्बन्धित होना है। यह प्रसिद्ध है कि मुमताजमहल की मृत्यु के बाद शाहजहां की दोनों लडकिया, जहानआरा और रोशनआरा, अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करने लगी, वे दोनों अविवाहिता थी, इसलिए उनका सारा प्रयत्न अपने को शक्तिशाली बना कर जीवन को सुखी बनाने का था। जहानआरा दारा को सिंहासन दिलाना चाहती थी, दारा हिन्दू-संस्कृति से प्रभावित था, इसलिए उसे राजपूतों से सहायता मिलने की आशा थी। रोशनआरा औरंगज़ेब को राजा बनाना चाहती थी, वह धर्म का पक्का था, सलावतखां उसका मददगार था अन्त मे रोशनआरा की जीत हुई। औरंगज़ेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था, वह दिल का कठोर परन्तु चरित्र का अच्छा था, यह प्रसिद्ध है कि वह टोपियां सी कर अपनी जीविका कमाता था। आगे चल कर अमरसिंह के सौतेले भाई जसवन्तसिंह, जिनके कारण अमरसिंह को राज्यच्युत होना पडा था, औरंगज़ेब के विश्वासपात्र बने, यहां तक कि कई लडाइयो मे उनको सेनापति बना कर भेजा गया। यद्यपि औरगजेब ने हिन्दुओं पर नृशंस अत्याचार किये, परन्तु गुरु रामराय की विद्वत्ता से प्रभावित हो कर उसने जायदाद दी थी और जिस मन्दिर के लिए धन दिया था वह देहरादून मे अब तक विद्यमान है। इसके विपरीत 'तख्ते ताऊस का वाजबी हकदार दारा बडा आलिम, अक्लमन्द, मिलनसार और फैयाज'[1] था परन्तु जहानआरा के मन्त्रित्व या अपने स्वभाव के कारण वह 'अव्वल दर्जे का जिद्दी, खुदगर्ज़ बेमुरौवत' बन गया था। यह निश्चय है कि यदि दारा में मनोबल और आत्मबल होता तो उत्तराधिकारी होते हुए और हिन्दुओं की सहायता रहते हुए जहानआरा के दांव-पेच में बहक कर अपने लक्ष्य से भ्रष्ट न हो जाता।

लेखक ने आगरा के अन्तःपुर के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करते हुए समस्त घटनाचक्र की कुञ्जी[2] जहानआरा और रोशनआरा के हाथों मे दे दी है। शाही खान्दान की मर्यादा की शिकार बनकर अपने मन को मसोसे हुए, ओस चाटकर प्यास बुझाने का प्रयत्न करती हुई, तथाकथित प्रेम मे असफल ये हताश प्रेमिकाए बाधाओं को अपने रोष से खाक कर देने में कटिबद्ध रहती थी। 'तृष्णा से भरे हुए झूठे प्रेम में बाधा पडने पर उस प्रेम या प्रेमपात्र का यही नतीजा होता भी है'[3]। ये दोनो शाहजादिया उपन्यास के असत् पक्ष का आधार, और शाही महलों की राजकुमारियो की सामान्य प्रतिनिधि हैं। इनके विपरीत राजपूत-बाला तारा, जो उपन्यास की नायिका भी है, इस रचना के सत् पक्ष का आधार है। रोशनआरा और जहानआरा की करतूतो के दो पाटो में—

---

१. 'तारा' उपन्यास, पहला भाग, पृ० ३६

२. 'शाहजहां—बाकई, जहांनआरा। इस वक्त मुसलमानी सल्तनत की कुंजी तुम्हारे हाथ में है।' (तारा, पहला भाग, पृ० ६८)

'जो कुछ उस समय राजचक्र चलता था, उसकी डोर जहानआरा ही के हाथ में थी, इसी डोर को अपने हाथ में करने के लिए रोशनआरा ने कैसा जाल रचा था —।'

(वही, दूसरा भाग, पृ० ३)

३. तारा उपन्यास, पहला भाग, पृ० ४४

उनकी ईर्ष्या—तृष्णा और अतृप्त लालसा-वासना में—बेचारी तारा पिस कर सही-सलामत न निकल सकी। वह उपन्यास, गोस्वामी जी के अन्य उपन्यासों के समान ही, नायिका-प्रधान है; और अतिवाद में जाकर सत् असत् का संघर्षमय चित्रण यहा किया गया है; सत् (तारा) दृढ़ एकनिष्ठ एवं शान्त है; उसकी सफलता भी इसी गुण की रक्षा[1] में है; असत् में चचलता, असन्तोष एवं तृष्णा है इसलिए उसके भीतर स्वयं संघर्ष है, उसके अनेक रूप हैं—जहानआरा, रोशनारा, दारा, सलावत आदि, उन रूपो मे जो सबसे बलशाली हैं वे (रोशनआरा और जहानआरा) नेतृत्व करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास के पुरुष-पात्र उदासीन, अपूर्ण और युवतियों के हाथ में खेलने वाले हैं, नुरुद्दीन और नुरुल्हक अपने को क्रमशः जहानआरा और रोशनआरा का प्रेमी समझते है, दारा और औरंगजेब अपने को सिहासन का अधिकारी, शाहजहा अपने को बादशाह और सलावत अपने को बख्शी समझता है; परन्तु हैं सबके सब जहानआरा और रोशनआरा के खिलौने ही। तारा (सत्पक्ष) ऋजु एवं निश्छल है उसकी पूरक रम्भा है जो मायावियों से जूझने के लिए[2] स्वयं मायाविनी बन जाती है; उसकी आवतारणा का इस उपन्यास मे इतना ही महत्व है। उपन्यास को सुखान्त कह सकते हैं, क्योकि सत् की जय तथा असत् की पराजय हो गई; दृढ एव एकनिष्ठ तारा का राजसिंह से विवाह हो गया और रम्भा चन्द्रावत के साथ सुखी बन गई। यही जीवन का प्रवृत्ति पक्ष है, जिसको लेखक ने अन्तिम बोल 'ता रे दा नी—'[3] से व्यक्त किया है।

उपन्यास के तीन भाग हैं; पहिले मे सघर्ष का प्रारम्भ, दूसरे में गति, और तीसरे में अवसान है। सघर्ष का प्रारम्भ बडा स्वाभाविक है। जहानआरा और रोशन-आरा महल के नौकर-चाकरो के साथ छिप कर प्रेम-क्रीड़ाएं किया करती थीं। शाह-जहा को जहानआरा की लीला का पता लग गया, उसने मुँह लगी शहजादी से तो कुछ न कहा परन्तु उसके प्रेमपात्रो नूरुद्दीन और नजीरखां को मरवा डाला। जहान-आरा उत्तराधिकारी दारा की भी प्रिय वयस्या थी उसने अपने कलंक को बचाने के लिए बादशाह से रोशनआरा के प्रेम प्रपच का हाल कह दिया। बादशाह ने रोशन-आरा के प्रेमपात्र नुरुल्हक को भी हम्माम के भीतर कत्ल करा दिया। 'यह ऐसी घटना है कि रोशनआरा, जहानआरा ही की नही वरन् शाहजहा की पूरी-पूरी बैरिन बन गई और इस घटना ने औरंगजेब तरफदारी में रोशनआरा के चित्त को बहुत

---

१. 'तारा—राजपूतों की लड़कियां, जबकि उनकी शादी एक से पक्की हो जाती है, तो फिर दूसरे शख्स के साथ शादी करने के बनिस्बत वे अपनी जान दे देना बेहतर समझती हैं।' (वही, पृ० १८)

२. 'रंभा—ऐसे ऐसे जुल्म ये लोग करते हैं कि बिना इस विद्या के इन दुष्टों से इज्जत आबरू बचाना मुशकिल हो गया है।' (तारा, दूसरा भाग, पृ० २३)

३. वही, तीसरा भाग, पृ० ८७

सहायता दी'[1]। इधर दारा की निगाह क्षत्राणी तारा पर गई तो वह इस सरल सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया, उसने सलावत खां से इस काम में सहायता मांगी। 'उस अलौकिक सुन्दरता को देखकर कामी सलावत उस समय ऐसा घायल हुआ था कि यदि वह अपनी लडकी को भी इतना हसीन देखता तो शायद ही अपने तईं मुश्किल से सम्हाल सकता'[2]। 'इश्क की बदौलत सलावत भी औरंगजेब का सहायक बन गया दारा की सफलता में सबसे बडी बाधा[3] जहानआरा थी ; उसका प्रण था : 'मैं शादी हर्गिज न होने दूगी। तारा जैसी चालाक और खूबसूरत नाज़नी के आगे दारा पर मेरी एक न चलेगी'[4]। संघर्ष की गति दूसरे भाग में है। इस में जासूसी (जिसकी रोशनआरा के हाथ में लगाम है[5]), ऐय्यारी (जिसके कारण रम्भा तारा की सहायता कर सकी[6]), और तिलिस्म के मनोहर चमत्कार हैं—दिल्ली के किले से आगरे के किले के अन्दर तक चली जाने वाली सुरंग[7], यन्त्र, सगमर्मर की पटिया, और बेहोशी के गोले अर्ध ऐतिहासिक सत्य है। तीसरे भाग में भुवनेश्वर मिश्र तारा का पत्र लेकर राजसिंह के पास जाते हैं; यह पत्र ६ पृष्ठ की कविता है, जिसकी प्रशसा का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अन्त में राजपूत बालाओ का उद्धार हो गया, यद्यपि राव अमरसिंह दुष्ट सलावत को मार कर स्वय भी खेत रहे। आगरा के सम्बन्ध में शाहजहां का पश्चाताप और औरंगजेब के उत्तराधिकार का सकेत और शेष है। अन्तिम परिच्छेद में राजसिंह-तारा एवं चन्द्रावत-रम्भा को सुखी एवं सानन्द दिखा कर उपन्यास का अन्त सुख में हो जाता है। उपन्यास की आधिकारिक कथा तारा के सकट और उद्धार की कहानी है, इसलिए वही नायिका है, और रचना का नामकरण उसी के नाम पर है। प्रासंगिक कथाएं हैं ही नही, उनके सकेत-मात्र मिलते हैं। आरम्भ से अन्त तक पाठक की उत्सुकता सजग रहती है कथानक के आकार-प्रकार, गठन, एवं विभाजन को देखकर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि यह तीन अंक के नाटक के लिए अत्यन्त उपयुक्त तथा सफल बन सकता है।

उपन्यास के पात्र, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, गुणों के प्रतिनिधि हैं, व्यक्तित्व की प्रतिमा नही। ई० एम० फोर्स्टर के शब्दों का व्यवहार करते हुए इन

---

१. तारा, पहला भाग, पृ० ४४

२. वही, पहला भाग, पृ० ४६

३. रंभा—यही कि जहानआरा शाही महल में अपने से बढकर किसी खूबसूरत नाजनी का आधिपत्य दिल में नहीं चाहती।' (वही, पहला भाग, पृ० ६३)

४. तारा, दूसरा भाग, पृ० १३

५. वही, पहला भाग पृ० ३८

६. वही, दूसरा भाग, पृ० २६

७. वही, वही, पृ० ५

पात्रों को फ्लैट[1] कहा जा सकता है। प्राचीन लोक-साहित्य में प्रायः ऐसे ही पात्र होते थे। जिनका निर्माण किसी विशेष गुण के ढांचे पर होता था, उनका विकास नहीं दिखाया जाता, प्रथम बार मिलने पर ही आप उनको पूरी तरह समझ लेंगे। ऐसे पात्र पाठक को कभी आश्चर्य[2] में नहीं डालते। इनमें अन्तर्द्वन्द्व नही होता। किसी भी विशेष घटना से उनके स्वभाव में परिवर्त्तन नहीं आता। 'तारा' उपन्यास के मुख्य पात्र तारा, जहानआरा, रोशनआरा, दारा, सलावत, रम्भा हैं; इनका पूरा रूप, जितना इस उपन्यास के लिए आवश्यक है, चित्रित कर दिया गया है; अमरसिंह, राजसिंह, चन्द्रावत, इनायतुल्ला, अर्जुन, और चन्द्रावती सामान्य पात्र हैं, जिनका यथास्थान उपयोग कर लिया गया है; शाहजहां, औरंगजेब आदि साक्षात् नहीं आते; कुछ छोटे-मोटे पात्र शाहजादियो के प्रेम-पात्र, दूती, कुटिनी, जासूस आदि हैं। इस प्रकार पात्रों की दृष्टि से इस उपन्यास मे बडी कसावट है। लेखक ने चरित्रचित्रण तीन प्रकार से किया है—स्वय अपनी वाणी से, दूसरे पात्रो के मुख से, और पात्र के क्रियाकलाप से; प्रथम शैली अत्यन्त सफल और अन्तिम शिथिल है। हिन्दू राजकुमारी और मुसलमान शाहजादियो को एक ही कसौटी—रूप, गुण, विवाह, चरित्र, वीरत्व, निष्ठा आदि—पर कस कर मानो उनकी तुलना करते हुए एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट सिद्ध कर दिया है। दारा और सलावत के व्यक्तित्व समान होते हुए भी स्वतन्त्र हैं। अर्जुन को छोड़कर शेष हिन्दू पात्रों मे राजपूती आदर्श के सामान्य गुण हैं। केवल रम्भा इसका अपवाद है; रम्भा का अपचित्रण लेखक का उद्देश्य नही, परन्तु उस किशोरी में चतुराई एवं माया की समस्त विद्या दिखाकर मानो यह सिद्ध किया है कि शाहजादिया इस माया का अपनी वासना के लिए प्रयोग करती हैं और राजकुमारियां अपनी रक्षा के लिए; विज्ञान एक ही है परन्तु पात्रभेद से उसका उपयोग अलग-अलग होता है। लेखक ने तो जहानआरा के शब्दो में तारा को भी 'चालाक और खूबसूरत'[3] बना दिया है। रम्भा पर तरस खाने[4] वालों को यह भी जानना चाहिए कि छल-छिद्रों का ज्ञान और उनको अपने अधीन करने की योग्यता चरित्र का कोई दोष नही है, मायावियो के बीच मे रह कर उनकी चालें न समझना मानसिक अविकास है, परन्तु छका कर अपनी रक्षा करना प्रतिभा का चिन्ह है; सिन्ध की राजपुत्री सूर्यकुमारी के समान दूसरी क्षत्री बालाएं भी विधर्मियो के चगुल में फंस कर अपनी चतुराई से उनके सरदारों का खून बहाकर क्या स्वय अपने सतीत्व की रक्षा नहीं कर सकी हैं? लेखक

---

१. 'एस्पैक्ट्स आफ दि नावेल' पृष्ठ ६३
इन दिअर प्यूरेस्ट फौर्म दे आर कन्स्ट्रक्टेड राउन्ड ए सिंगल आइडिया और क्वालिटी।

२. ई० एम० फोर्स्टर : 'एस्पैक्ट्स आफ दि नावेल, पृ० १०६
इफ इट नैवर सरप्राइज्ड, इट इज फ्लैट।

१. तारा, दूसरा भाग, पृ० १३

२. हिन्दी-उपन्यास, पृ० ८३

ने अपने एक उपन्यास 'खूनी औरत का सात खून' में एक किशोरी वीर-बाला को सतीत्व की रक्षा के लिए सात अत्याचारियो के खून की चतुराई सौपी है। इतिहास-वेत्ताओं को दारा के चरित्र पर आपत्ति हो सकती है, ऊपर दिखाया जा चुका है कि दारा को हिन्दू शास्त्रों की अवश्य संगति मिली होगी परन्तु उसमें मनोबल का अभाव था अन्यथा वैध अधिकारी होकर पिता और बहिन की सहायता एवं राजपूतों के सहयोग से भी वह सिंहासन क्यों प्राप्त न कर सका। सत्य यह है कि औरंगजेब और दारा की तुलना में इतिहास पहिले को कट्टर परन्तु दूसरे को मुलायम पाता है, इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

'किशोरीलाल ने 'तारा' उपन्यास मे इतिहास का जो रूप लिया है उसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है; देशकाल या वातावरण की सृष्टि इसी इतिहास से हुई है। देश में उस समय जैसी राजनीतिक परिस्थिति थी उसका चित्रण तो इतिहासकारो को स्वीकार्य ही होगा, क्योकि उसमें कल्पना का विशेष सहारा नही लिया गया। आपत्ति होती है शाही राजमहल के भीतर चलने वाले घटना-चक्रो पर। राजनीति मानो इन्द्रिय-लिप्सा और छद्म-नीति बन गई थी, सारा वातावरण भय और सशय से भरा हुआ था। 'जिस नाजनीन पर बादशाह या शाहज़ादो की नजर पड जाती वह फिर वगैर हरम में दाखिल हुए नहीं रह सकती'[1]। शाहज़ादियो के प्रेमी छिपकर सुरग की राह से[2] हम्माम में पहुँच जाते, और अपनी जान से हाथ धो बैठते थे। 'बहुतेरी मक्कारा दूती बन, जासूसी और भले घर की हसीन औरतो को निकाल लाने या खराब करने का पेशा भी करती थी'[3]। गुलामों और खूबसूरत बांदियों का उस समय मिक्का था। अलाउद्दीन, अकबर, जहाँगीर, चाहे जिसको देखिए सभी कामुक और लम्पट थे; उनके दरबारियो का भी यही हाल था। शाहजहाँ का शासनकाल तो ऐयाशी के लिए प्रसिद्ध रहा है। बर्नियर का आरोप है कि शाहजहाँ का अपनी बडी पुत्री जहानआरा के साथ अवैध सम्बन्ध था; मनूची और ट्रैवेर्नियर ने इसी प्रकार की अन्य बातें लिखी है। बर्नियर उच्च कोटि का विद्वान् था; उसकी निरीक्षण-शक्ति[4] बड़ी सूक्ष्म तथा तीव्र थी; मनूची जहाँनआरा का विशेष कृपा-पात्र था। अस्तु, इन लेखको के विवरण न तो निरीक्षण की दृष्टि से सदोष माने जा सकते हैं और न उन पर पक्षपात का दोष लगाया जा सकता है। अतएव स्मिथ महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि शाहजहाँ और उसकी बडी पुत्री पर जो खेद-पूर्ण दोष लगाये गये हैं उनको सिद्ध करना कठिन है परन्तु उनका खण्डन आसान नही।[5]

---

१. तारा उपन्यास, पहला भाग, पृ० १८

२. वही, पृ० ४३

३. वही, पृ० ५१

४. हिस्ट्री ऑफ शाहजहान ऑफ दिल्ली, पृ० २७

५. वही. पृ० ३३९

यह लम्पट वातावरण मध्यकालीन मुसलमानी शासन की एक मुख्य विशेषता है। 'भारत में जो पर्दे की चाल इतनी तेज़ी से बढ़ी इसका मुख्य कारण बेईमान मुसलमानो का हिन्दुओं के घर की सुन्दर स्त्रियों पर जुल्म करना ही था'[1] 'चारों ओर शैतानों का जाल फैला' हुआ था जिसमें 'किस्मत और कर्त्तब'[2] ही जिन्दगी का फैसला करते थे। दूतियों के कारनामों के लिए और नहीं तो जायसी के 'पद्मावत' पर तो विश्वास किया ही जा सकता है। जिसमें बादशाह की दूती राजमहिषी को बहकाने तक का प्रयत्न करती है। जैन कवि बनारसीदास ने सवत् १६९८ वि० (सन् १६१४ ई०) में जो अपनी आत्म-कथा लिखी है उसमें मुसलमान शासकों के अत्याचार का कुछ और प्रमाण[3] मिलता है। सम्पादक डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है: 'जिस दिन 'अर्द्ध कथा' की भाँति कुछ अन्य रचनाएँ भी प्रकाश मे आवेगी मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कुछ पृष्ठ निश्चय ही फिर से लिखने पड़ेंगे'[4]। साराश यह कि उपन्यासकार ने 'तारा' मे देश-काल का जो चित्रण किया है वह निराधार नही है; निश्चय ही वह दोनों पक्षों को सामने नहीं रखता परन्तु कलाकार को कथानक-निर्माण की इतनी स्वतन्त्रता तो होनी ही चाहिए।

'तारा' उपन्यास की शैली लेखक के अन्य उपन्यासो के समान ही है। मोटी-मोटी विशेषताओ का तो ऊपर उल्लेख हो चुका है। इस उपन्यास में उसने कथनात्मक शैली को अपनाया है, वर्णन अधिक नही है; परन्तु कथोपकथन बड़े सुन्दर हैं, उनका आकार, उनकी भाषा, और उनकी चुस्ती उपन्यास को नाटक का सहोदर बनाने की सिफारिश करती है। कथोपकथनो की बहुलता और विशेषता सामयिक प्रभाव मानी जा सकती है; ये सक्षिप्त हैं, अभिव्यंजनापूर्ण हैं, कथा को आगे बढाते हैं, चरित्र को स्पष्ट बनाते हैं, भाषा पात्रोपयोगी है। लेखक ने इस उपन्यास मे दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। घटना-केन्द्र शाही महल होने के कारण फारसी-मिश्रित हिन्दी और शेरो की बहार है; हिन्दू पात्र भी मुसलमानो के साथ मिश्रित भाषा ही बोलते हैं। इस उपन्यास को पढकर कोई यह नही कह सकता कि लेखक संस्कृत का इतना बडा पण्डित रहा होगा। एक स्थान पर तो उसने फारसी के मिठास[5] की प्रशसा भी कर दी है। आश्चर्य तब होता है जब लेखक दारा का चरित्रांकन करता हुआ स्वयं फारसी बोलने लगता है। अन्य उपन्यासो में प्रायः सस्कृत की सूक्तियाँ हैं, परन्तु इसमें शेर और गज़ल हैं, कई परिच्छेदों के मस्तक तक शेरो से मण्डित हैं। तारा की ६ पृष्ठ की लम्बी चिट्ठी[6] ब्रजभाषा पद्य मे है, जिसमें काव्य-गुण की कमी नही, और जो भार-

१. तारा उपन्यास, पहला भाग, पृ० ४७
२. वही, पृ० ४८
३. दे० अर्द्धकथा, पृ० ९, छन्द ११० से ११४ तक।
४. अर्द्धकथा
५. '...संस्कृत के बाद अगर किसी भाषा में मीठापन है तो सिर्फ ब्रजभाषा और फारसी जबान में' (तारा, पहिला भाग, पृ० १४)
६. तारा, तीसरा भाग, पृ० १५ से २१ तक।

तेन्दु-कालीन कविता का एक सुन्दर नमूना है :—

भूलि न धर्म-जाति-कुल-गौरव विनसन दैहौं।
मरि जैहौ, पै अधरम अरु अपजस नहिं लैहौ।
होइ राज-हंसिनी यवन-बक सौ अनुरागौ ?
गगधार-सी विमल, कर्मनासा-रस पागौ ?
चंद छाडि, संग राहु रोहिनी कब अनुरागै ?
यज्ञ-हविष का दई जात बुध-जन-कर कागै ?
देव-हेत उपहार, स्वान को दियो जात नहि।
सपनेहु तुम सुन्यो, अमृत-संग गरल-जोग कहि ।।[1]

उपन्यास का अन्त सयोग शृंगार मे हुआ है, उद्धार के बाद राजपूत-बालाए अपने-अपने पति के साथ हास-विलास-पूर्ण जीवन बिताती है। 'अपने माता-पिता के मरने का हाल·····सुन कर जो कुछ दुःख उस बेचारी कोमलहृदया बाला तारा या रम्भा को हुआ था·····उस दु ख भरी कहानी को यही समाप्त[2]' करके·····'एक चित्र खीच कर रंभा और चन्द्रावत जी के हृदय के गभीर प्रेमभाव को'[3]·····चित्रित करके अन्त में 'गाती हुई'[4] तारा को दिखाकर पर्दा गिर जाता है। गोस्वामी जी के इस उपन्यास में शैली की दृष्टि से जो कतिपय प्रभाव लक्षित होते है; इनमे मुख्य हैं .—रीतिकालीन शृंगार, समकालीन काव्य, समकालीन नाटचोदय, भाषा का दो-रूप व्यवहार, और पाठक के साथ कथात्मक सामीप्य।[5]

'तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी' सोद्देश्य उपन्यास हैं। इसमे नवीन सामग्री के आधार पर मुगल शाहीमहल के रहस्यो को खोल कर चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त लेखक का सामान्य दृष्टिकोण यह भी रहा है कि विलासी जीवन का अन्त कष्टमय होता है—'ऐशे दुनिया न कभी रज से खाली देखा'[6]। मुसलमानों के राज्य[7] की जड़ उसी समय तक स्थिर थी जब तक वे राजपूतो का सम्मान

---

१. यह कविता टॉड के विवरण का सुन्दर छायानुवाद है।

२. तारा, तीसरा भाग, पृ० ८३

३. वही, पृ० ८४

४. वही, पृ० ८७

५. कुछ उदाहरण देखिए :—

(क) यदि हमारे पाठक उन यन्त्रों की बहार देखना चाहें तो देख लें, हम उन यन्त्रों को नीचे लिख देते हैं···। (वही पृ० ३५)

(ख) प्यारे पाठक! बतलाइए यह मोगल कौन है ? कहिए और विचारिए तो सही कि मोगल कौन है ? और अगर इस मोगल को आप पहिचान न सकिए तो फिर आज से उपन्यास पढ़ने का हौसला भी न कीजिएगा। (वही पृ० ५१)

६. तारा, पहला भाग, पृ० ७४

७. वही, पृ० १०२

करते थे, परन्तु जब से उन्होंने 'सनातन धर्म'[1] को नष्ट करना चाहा, वे स्वयं मिट गये। इस उपन्यास मे लेखक का सनातनी रूप स्पष्ट हो जाता है। धर्म की प्रतिष्ठा और महत्ता का उसने प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। यह धर्म इस्लाम या हिन्दूमत नही, मानव-मात्र का सामान्य धर्म है, जिसकी अवहेलना मुसलमान करने लगे थे। उदाहरण के लिए मुगलराज्य मे अपने सबसे बड़े सहायक अमरसिंह की दुर्गति, सलावत द्वारा मित्र-कन्या तारा पर कुदृष्टि, शाहजादियो के भ्रूणहत्या आदि पाप सामान्य धर्म की विशेष उपेक्षा के द्योतक हैं। किशोरीलाल जी ने 'धर्म' को 'सम्प्रदाय' के अर्थ में न देखकर 'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित' के अभिप्राय से ग्रहण किया है। हिन्दू समाज के कतिपय दोषो का कारण भी इस्लामी अत्याचारो को सिद्ध किया है, पर्दा-प्रथा का तो स्पष्ट विश्लेषण है कि 'इसका मुख्य कारण बेईमान मुसलमानो का हिन्दुओ के घर की सुन्दर स्त्रियो पर जुल्म करना ही था'[2]; बाल-विवाह का राजसिंह द्वारा वाग्दता तारा का उद्धार दिखा कर अप्रत्यक्ष सकेत है। लेखक राजपूतों के गुणो से प्रभावित है; साथ माया से काम निकालना भी लेखक को पसन्द है; उसने सिद्ध किया है कि 'किसी दुष्टो के राजघराने की कोई भी लडकी मुसलमानो को नही दी गई। जो दी गईं वे राजकन्याए न थी, वरन् उन राजाओ की भुजिष्या लौडियो की लडकिया थी'[3]। अन्य ऐतिहासिक उपन्यासो के समान इसमे भी लेखक ने भाग्य को बलवान् मान कर निष्कर्ष निकाला है कि दु.ख और सुख की चलती-फिरती छाया है, दु ख मे हताश और सुख में विलासी बन जाना उचित नही, इसलिए मनुष्य को धर्म-पालन करना चाहिए। यही उसका सन्देश है :—

'ईश्वर सबको ऐसा ही सुखी-चिरसुखी करे' (तीसरा भाग, ८३)

अस्तु, तारा उपन्यास का उद्देश्य पाठकों के चरित्र को ऊपर उठाना है, उनको भटकाना नही; लेखक मे धार्मिक पक्षपात अवश्य है, परन्तु वह अधर्म को त्याज्य समझता है, सम्प्रदाय विशेष को नही।

सुल्ताना रज़िया बेगम वा रंगमहल में हलाहल

किशोरीलाल गोस्वामी का दूसरा केन्द्रीय इस्लामी शासन से सम्बन्ध रखने वाला प्रसिद्ध उपन्यास 'सुल्ताना रज़िया बेगम वा रंगमहल मे हलाहल' है। यह सन् १९०४ ई० में दो भागो में प्रकाशित हुआ था। इसमे गुलाम वश की शासिका रज़िया बेगम की व्यक्तिगत कहानी है। 'उपोद्घात' मे लेखक ने 'आपस की फूट के कारण' इस स्वाधीन देश के 'सदा के लिए गुलामी की जजीर से जकड़े' जाने का इतिहास बताया है; फिर रज़िया के शासन (अभिषेक तिथि १२३६ ई०) की चर्चा आती है; 'रज़िया

---

१. मेटन चहत 'सनातन धर्म' दम्भ जग छावत।
क्षत्रिय बाला लेन चहत है, यवन सलावत॥ (तारा, तीसरा भाग, पृ० १७)

२. वही, पृ० ४७

३. तारा, दूसरा भाग, पृ० ३३

अपने अस्तबल के दरोगा पर, जो एक अत्यन्त सुन्दर, बलिष्ठ और युवा था, और प्रतिदिन उसकी बगल में हाथ का सहारा देकर उसे घोड़े पर चढ़ाया करता था, आशिक हो गई और उसे 'अमीरुल-उमरा' का खिताब दे बैठी; इस कारण दरबारियों का जी उससे फिर गया'। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने कल्पना से कम और इतिहास से अधिक सहायता ली है। इस तथ्य को लेखक ने उपोद्घात में उद्देश्य-रूप से स्वीकार किया है;) 'पढ़ने वाले उपन्यास के साथ ही साथ कुछ-कुछ इतिहास का भी आनन्द लें जिसमें लोगों की रुचि केवल उपन्यास ही पर न रह कर इतिहास की ओर भी झुके, जिससे हिन्दी-भाषा में जो इतिहास का बिलकुल अभाव है, वह मिटे'। यूरोपीय लेखकों के अतिरिक्त उस रचना में बाबू श्याम सुन्दरदास के 'ऐतिहासिक विषय के संग्रह', राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के 'इतिहास तिमिरनाशक', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'बादशाह दर्पण' और बाबू नगेन्द्रनाथ मित्र के 'रजिया बेगम' नामक बंगला-प्रबन्ध से भी सहायता ली गई है। इस उपन्यास का दूसरा उद्देश्य, जिसे आन्तरिक अथवा मुख्य उद्देश्य भी कहा जा सकता है, उस सुभाषित[1] की यथार्थता का चित्रण करना है जिसमें यह कहा गया है कि यौवन, ऐश्वर्य, प्रभुत्व और अविवेक इन चारों मे से एक-एक भी अनर्थ का कारण बन जाता है, परन्तु जहां चारो ही एकत्र विद्यमान हैं वहां कितना घोर अनर्थ होगा—यह कल्पना कठिन है। रजिया के पास दुर्भाग्यवश चारो ही दुर्गुण एकत्र हो गये, फलतः न 'उसने सल्तनत का मजा उठाया और न जवानी का'[2]।) लेखक का विश्लेषण बड़ा मनोवैज्ञानिक और सहानुभूतिपूर्ण है, वह सारा दोष रजिया के माथे नही मढता, प्रत्युत यौवन-बसन्त मे प्रेम के मुकुल को स्वाभाविक मानता है; मुखपृष्ठ[3] पर तथा रचना के भीतर उसने कई शायरो के उद्धरण यह दिखाते हुए दिये हैं कि प्रेम जितना स्वाभाविक है उतना ही निष्ठुर भी, जो बच गया वह भाग्यशाली है अन्यथा 'इश्क मे किसकी आबरू न गई'।

उपन्यास का नाम 'रगमहल मे हलाहल' दो अर्थों के लिए बडा उपयुक्त है। स्थूल रूप से इसमें शाही रगमहल के भीतर चलने वाली पाशव-वृत्तियों की ज्वालामयी तृप्ति का रहस्योद्घाटन है; दिल्ली की शासिका रजिया अपनी योग्यता और गुणों के कारण इतिहास में प्रसिद्ध है परन्तु उसके वैयक्तिक जीवन का ईर्ष्या-रोषमय[4] व्यापार

१. मुखपृष्ठ पर यह सुभाषित अंकित है :—
यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम्॥

२. दूसरा भाग, पृ० ६१

३. संस्कृत सुभाषित के साथ-साथ मुखपृष्ठ पर उर्दू कवि दाग का यह शेर भी छपा हुआ है :—
ये वो मिसरी की डली है कि न बात इससे करे।
संखिया खा के मरे, इसको जबां पर न धरे॥

४. लेखक ने स्वय इसका संकेत किया है :—
'...किन्तु रजिया के मन का भाव कैसे हलाहल में मिला हुआ और भयंकर था—।'
(पहिला भाग, पृ० १३)

भी बडा रोमांचकारी है। सूक्ष्म दृष्टि से 'रगमहल में हलाहल' इस सत्य का संकेत करता है कि जो व्यक्ति जीवन को हास-विलास क्रीडा या रंगरेली मात्र समझकर उस के निकट पहुँचता है उसे अतृप्ति का हलाहल पान करना पडता है; जिसको सुधा समझ कर पान करने की लालसा होती है, वह वस्तुत: गरल सिद्ध होता है। ये दो अर्थ किशोरीलाल के ऐतिहासिक उपन्यासो के दोनो उद्देश्यो के समर्थक है। स्थूल दृष्टि से तो किशोरीलाल ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों मे उन सनसनीपूर्ण रोमाचकारी रहस्यों का चित्रण किया है जो इतिहास-सम्मत होते हुए भी इतिहास की आंख से छिपे हुए थे। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो इतिहास के आवरण में वे पाठक को जीवन का रहस्य समझा रहे हैं, काल की गति, भाग्य का चक्कर, सुख-दुःख की आंख-मिचौनी, और भावना एव कर्तव्य का संघर्ष उनके प्रिय विषय हैं। पहिले भाग के पहिले परिच्छेद और पहिले पृष्ठ पर 'दिल्ली मे धूम' शीर्षक देकर लेखक के सफदर का शेर—

हमेशा बदलता है ऐसा जमाना।
कि है आज इसका, कल उसका जमाना॥

लिखते हुए कथा प्रारम्भ की है, और दूसरे भाग का उपसंहार वह पाठको को उपदेश देता हुआ करता है —

'पाठक! देखा आपने, रजिया के इश्क का नतीजा देखा आपने![1] अफसोस, उस बेचारी ने अपनी जवानी मुफ्त खो दी और उसने न सल्तनत का मजा उठाया और न जवानी का।' (पृ० ९३) उपन्यास को सुखान्त मानने में आलोचको को सकोच हो सकता है, क्योकि इसका प्रारम्भ रजिया के राज्याभिषेक से और अन्त उसकी कब्र से होता है। फिर भी इसे सुखान्त ही माना जाएगा। मृत्यु से कोई रचना सुखान्त या दुखान्त नही बन सकती, मृत्यु ऐतिहासिक सत्य है उसको कौन मिटा सकता है; तब सत् और असत् के सघर्ष मे सत् की असत् पर विजय सुख की कसौटी है। रजिया के मन मे जो असत् लालसा जग गई थी वह उसके जीवन का अन्त करके भी विजयिनी न हुई इसी लिए इस उपन्यास को सुखान्त माना जाएगा। एक प्रश्न यह है कि असत् (रजिया) को उपन्यास मे मुख्य स्थान देकर प्रधान नायिका[2] क्यो बनाया गया। उत्तर यही होगा कि ऐतिहासिक दृष्टि से कथानक मे सब से शक्तिशाली व्यक्तित्व रजिया का ही है सारा घटना-चक्र उसी के इर्द-गिर्द घूमता है, इसलिए असत् की प्रतिमा होकर भी वही मुख्य पात्र या नायिका बनाई गई है।

उपन्यास का कथानक सुगठित है। इसमे एक ही कथा है, रजिया बेगम के शासन की। सन् १२३६ ई० में रजिया बेगम दिल्ली के सिंहासन पर बैठी, वह मर्दाना औरत थी, सारे राज्य का प्रबन्ध आप देखती और सबसे निस्संकोच भाव से मिलती-जुलती थी,

१. 'देखा आप ने' पदों को दुहरा कर इन पर जोर दिया गया है।

२. "—लड़की का नाम रजिया था, जो इस उपन्यास की प्रधान नायिका है—"।

(पहला भाग, पृ० ५)

वह 'खुद पर्दे की पाबन्द नहीं थी।[1] राजधानी में नित्य नये उत्सव मनाये जाते थे, बाज़ार सजाया जाता, सुल्ताना की सवारी बड़े धूमधाम से शहर में निकलती, शेर और भैंसे की लड़ाई होती, योद्धा[2] लोग जंगली भैंसे के साथ स्वयं लड़ते। इन 'खूबरू जवांमर्द' वीरों की सुल्ताना बड़ी कद्र करती थी। इनमें से याकूब और उसके शागिर्द अयूब का इस उपन्यास से विशेष सम्बन्ध है। रजिया ने अपने भरे हुए यौवन और सम्पन्न जीवन में देखा कि 'दिल शाद करने और तबियत में नई जान डालने के लिए एक दिलदार शख्स की निहायत जरूरत है; सो भी इस तरीके पर कि यह बात हमेशा पोशीदा रहे'[3]। कद्रदानी से उसने याकूब को अस्तबल का दरोगा बना दिया : 'मैं घोड़े पर सवार होकर हवाखोरी के लिए महल से निकलूंगी तो तुम मुझे मेरे घोड़े पर हाथ का सहारा देकर सवार करा दिया करोगे और अपने घोड़े पर सवार होकर बराबर मेरे साथ रहोगे'[4]। एक दिन रजिया ने याकूब से अपना प्रेम-निवेदन भी कर दिया, याकूब रजिया की सहेली सौसन का प्रेमी था। सौसन ने भी याकूब को समझाया, 'जो वह कहती है, उसे बिला उज्र कबूल कर लो, प्यारे, मैं हर हालत मे तुम्हारी ही हूँ'[5]। परन्तु याकूब दृढ था; 'क्या तुमने मुझे इतना कमीना समझ लिया है कि मैं तुम जैसी माशूका को छोड़ कर दौलत या बादशाहत के लालच मे पड़ कर फाहिशा के हाथ अपने दिल को बेचूंगा'[6] वह जानता था कि '.....यह किसी न किसी के साथ आशनाई ज़रूर करेगी और बात जाहिर होने पर अपने आशना के साथ दरबारियो के हाथ से मारी जाएगी'[7]। अन्त मे हुआ भी वही, याकूब और सौसन सुखी रहे; परन्तु रजिया के जीवन का अन्त करुण हुआ। रजिया की कथा आधिकारिक कथा है, अन्य कोई कथा प्रासंगिक कहलाने योग्य नहीं। सौसन-याकूब का प्रसंग इस कथा में बड़ा महत्वपूर्ण है। दूसरे स्थान पर अयूब-गुलशन का प्रसंग है, अयूब याकूब का शागिर्द था, उसकी वीरता पर रजिया की दूसरी सहेली गुलशन मोहित हो गई 'और अयूब भी उसे देखते ही उस पर मुश्ताक हो गया था'[8]। इस प्रेम-व्यापार में अल्तूनिया रजिया का प्रेमी बन कर आता है, परन्तु वह मारा जाता है। इन तीन दम्पतियों के जीवन का चित्र समान महत्व का तो नहीं, परन्तु एक दूसरे को समझने के लिए बहुत आवश्यक है। रजिया, सौसन और गुलशन इन तीनों महेलियों में सौसन सब से महान् है; उसका प्रेम उभयनिष्ठ है और बदले की भावना से रहित है, वह हिन्दू-कन्या के समान अपना सर्वस्व जिसको समर्पित करने का निश्चय कर लेती है उससे बदले मे कुछ नही चाहती; गुलशन का प्रेम उभयनिष्ठ

१. पहला भाग, पृ० ६
२. पहला भाग, पृ० १२
३. वही, पृ० ६४
४. वही, पृ० ११३
५. वही, पृ० ११७
६. वही, पृ० ११८
७. वही, पृ० १२२
८. वही, पृ० ७४

है, परन्तु उसे सर्वस्व त्यागकर निखरने का अवसर नही मिला; रज़िया के प्रेम में न तो एकनिष्ठता है न उभयनिष्ठता, वह त्याग नही कर सकता, वासना की अग्नि में तपता रहता है। याकूब, अयूब, और अल्तूनिया में याकूब सर्वोच्च है; सौसन के प्रति उसका प्रेम इतना दृढ़ है कि राज्य का लोभ ही नही, सौसन का आग्रह भी उसे विचलित नहीं कर पाता, वह स्वामि-भक्ति और कर्त्तव्य दोनो का निर्वाह कर सका है; अयूब और गुलशन दोनो एक-दूसरे के प्रतिबिम्ब हैं, वे सामान्य परन्तु सच्चे प्रेमी हैं; अल्तूनिया न प्रेमी है न दूरदर्शी, उसने समझा कि उसके सामने सोने का ससार खडा है परन्तु वस्तुतः वह उसके दुर्भाग्य की धूम्रकेतु थी। सच्चा प्रेम बदले में केवल प्रेम चाहता है, रूप या ऐश्वर्य नही, इसलिए जब तक रूप और सौन्दर्य के त्याग का साक्षात् अवसर नही आता वह अपने को कच्चा ही समझता है।

उपन्यास के इस कथानक को इतिहास से समर्थन भी प्राप्त है। हब्शी जलालुद्दीन याकूब को अस्तबल का दरोगा और अपना विशेष कृपा-पात्र बनाने के कारण रज़िया का अपने सरदारो से विरोध हो गया, पजाब के शासक अयाज ने खुलकर सुल्ताना से विद्रोह किया। असन्तुष्ट सरदारो ने याकूब को कत्ल कर दिया और रज़िया को गिरफ्तार करके अल्तूनिया की कैद मे रख दिया[1]। यही रजिया के पतन की कहानी है। जब अल्तूनिया ने देखा कि उसको इस उथल-पुथल में कोई लाभ नही हुआ तो उसने रजिया को कारागृह से मुक्त करके अपनी पत्नी बना लिया और बडी सेना लेकर दिल्ली पर चढ आया, उसका लक्ष्य रजिया को फिर से मल्का बनाकर स्वय शासन करना था। परन्तु कैथल के निकट बहराम ने उसको पराजित कर दिया; दूसरे दिन अल्तूनिया और रजिया को मार डाला गया[2]। कुछ इतिहासलेखको का मत है कि रजिया का याकूब के साथ अवैध सम्बन्ध था, परन्तु इसका विशेष विवरण उपलब्ध नही है। उपन्यास में सौसन की कल्पना की गई है। अयूब नाम के दरवेश की चर्चा[3] इतिहास मे भी मिलती है। बहराम तो ऐतिहासक पात्र है ही। इस प्रकार कथानक के मुख्य सूत्र इतिहास को उधेड़ कर ही निकलते दिखलाई पडते हैं। याकूब ने रजिया का प्रेम स्वीकार किया या नही, परन्तु उपन्यास में उसे महान् दिखाकर प्रेम को ठुकराते हुए चित्रित किया गया है।

उपन्यास के दो भाग हैं। पहले में १५ और दूसरे मे १७ परिच्छेद हैं। प्रथम भाग तक लेखक ने कथानक को कुतूहल-गर्भित ही रहने दिया है, समस्याओ का ज्वार ही उठता दिखाई पडता है। दूसरे मे तिलिस्मी और ऐयारी की छाया है, समस्याऐ वेग वती होकर सुलझने लगती है। इस कथा में सबसे ध्यान देने योग्य अवतारणा स्वामी ब्रह्मानन्द और उनसे शिष्य हरिहर शर्मा की है; आजकल की दृष्टि से १२२ वर्ष के स्वामी के तिलिस्मी करामात (योग-शक्ति) बड़े अस्वाभाविक लगते हैं; परन्तु लेखक

---

१. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वौल्यूम ३, तुर्क एण्ड अफगान्स पृ० ५९-६०

२. वही

३. वही, पृ० ६३

ने नजूमी बहराम की तुच्छता सिद्ध करने के लिए स्वामी ब्रह्मानन्द का आगमन आवश्यक समझा है; बहराम जैसे निकृष्ट व्यक्ति 'योग का रहस्य' नहीं जानते परन्तु उसका दुरुपयोग करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं; 'प्राकृतिक नियम के विरुद्ध इस शक्ति के प्रयोग करने से घोर अनिष्ट या विप्लव उपस्थित होता है और जगदीश्वर की इच्छा के विरुद्ध यह शक्ति कार्यकारिणी होती भी नहीं'[1]। दूसरा महत्वपूर्ण दृश्य हिन्दू-मुसलिम झगड़े का था, जिसकी तुलना जयशंकरप्रसाद रचित 'स्कन्दगुप्त' नाटक के चतुर्थ अंक के उस दृश्य से की जा सकती है जिसमें ब्राह्मण और बौद्ध आपस मे झगड़ते है, और जिसमें आजकल के झगड़ों की छाया भी देखी जा सकती है। यह दृश्य एक ओर तो फकीर वेषधारी रजिया के मुख से यह कहलवा कर कि 'हिन्दू कौम से बढ कर दुनिया मे सच बोलने वाली दूसरी जात नही है'[2] लेखक के जात्युत्थापक विचारो को व्यक्त करता है, दूसरी ओर रजिया की न्यायप्रियता का द्योतक भी है।

'सुल्ताना रजिया' उपन्यास मे भाषा उर्दूमिश्रित अवश्य है परन्तु 'तारा' उपन्यास की अपेक्षा कम। इसमें लेखक ने उर्दू के शेर बहुत दिये हैं और फुटनोट मे यह लिख दिया है कि 'इस उपन्यास मे उर्दू की कविताएँ जहा-जहा आवे, वे उर्दू शायरो की बनाई हुई समझनी चाहिए'[3]। सस्कृत-मिश्रित शैली के भी इस रचना मे अच्छे उदाहरण हैं, जिनमें लेखक का पडिताऊपन झलकता है[4]। सस्कृत-हिन्दी और उर्दू-हिन्दी दोनों पर लेखक का समान अधिकार इस उपन्यास के दो वर्णनो मे देखा जा सकता है :—

(क) संस्कृत-हिन्दी में रीतिकालीन परम्परा से वर्णन .—

'वे कलिया जो रात भर रगरलियाँ मना चुकी हैं तडका होते ही अभिसारिका नायिका की भाति अपना मुह नीचा कर लज्जा से सिमट जाती हैं, किन्तु जो रात भर विरहिनि कुलवधू की भाति संकुचित और उदास रहीं प्रातःकाल होते ही आगतपतिका की भाति फूली अंगो नही समातीं और खिलखिला उठती हैं' (पहला भाग, पृ० २१)

(ख) उर्दू-हिन्दी का काम-चलाऊ बातचीत मे प्रयोग :—

'हम लोग अपना फैसला आप करते हैं किसी बेगम बादशाह की पर्वा नहीं करते, यह बुजदिल हिन्दुओ का ही काम है कि जो दूसरो पर अपनी किस्मत के फैसले का भरोसा रखते हैं, इसलिए उनका जहां भी जी चाहे, हमारे बर्खिलाफ नालिश फर्याद किया करें'।

(पहला भाग, पृ० ४५)

---

१. दूसरा भाग, पृ० १३

२. पहला भाग, पृ० ४६

३. वही, पृ० २३

४. (क) 'त्रैलोक्यमोहिनी, परमस्वाधीना, भारताधीश्वरी, पूर्णयुवती और कुमारी रजिया बेगम—'।
(ख) 'धन्य कन्दर्प। तुम्हारा प्रताप धन्य है कि तुम जिससे चिपटते हो, उसका निजत्व पहले हीहर लेते हो।' (वही, ९३)

इस उपन्यास की शैली मुख्यतः वर्णनात्मक है, कथोपथन का 'तारा' उपन्यास की अपेक्षा कम सहारा लिया गया है, ब्रजभाषा पद्य नहीं है, रीतिकालीन शृङ्गारी वर्णन का अभाव ध्यान देने योग्य है, सभी प्रधान पात्र मुसलमान हैं, सत् और असत् के प्रतिनिधि हिन्दू और मुसलमान पात्रों के स्थान पर मुसलमानों मे से ही दोनों को छांट कर एक दूसरे की तुलना में खड़ा कर दिया गया है, तिलिस्म, ऐयारी, और जासूसी बहुत कम है, और जितनी है वह भी सुथरी; योग और तिलिस्म को अलौकिक मानकर एक दृष्टि से देखने की कोशिश लेखक ने की है, प्रायः वर्णन कम है। 'सुल्ताना रज़िया' उपन्यास में सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने वाला गुण चरित्र-विकास का प्रयत्न है, जो गोस्वामी जी के उपन्यास के लिए नई चीज़ है, किसी सीमा तक चरित्र-चित्रण का आधार मनोविज्ञान भी माना जा सकता है। 'तारा' उपन्यास में लेखक ने फारसी भाषा की माधुरी की सराहना की थी, यहा स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा हरिहर शर्मा को 'फारसी और सस्कृत विद्या का अभ्यास'[1] कराने से लेखक का फारसी के प्रति अनुराग झलक जाता है।

प्रसगतः इस उपन्यास मे गोस्वामी जी के राजनीतिक और सामाजिक विचार भी प्रतिबिम्बित हुए है। राष्ट्रीयता से लेखक का अभिप्राय मुसलमानों से देश को स्वतन्त्र कराने का है, अग्रेज़ी को निकालना नही। 'तारा' उपन्यास मे उसने अंग्रेज़ी प्रबन्ध[2] की प्रशसा की थी, यहा 'महाराज सप्तम एडवर्ड के राजसिहासन पर बैठने के समय दिल्ली दर्बार मे लाट कर्ज़न की सवारी का जलूस'[3] अप्रस्तुत बनकर आया है। पहले भाग के प्रारम्भ मे लेखक का ध्यान देश की दुर्दशा पर जाता है .'...जो भारतवर्ष सदा से सारी पृथ्वी का मुकुटमणि बना था, जिसकी आन सारा संसार मानता था और जो विद्या, वीरता और लक्ष्मी का एकमात्र विश्रामस्थान था, वह आज दीन, हीन और मलीन हो रहा है'[4]। इस दुर्दशा का उपाय स्वामी ब्रह्मानन्द का राजस्थान के राजाओं को एकता के लिए समझाना है जिससे 'अपने देश की विलुप्त स्वाधीनता का पुनः उद्धार करना बहुत ही सहज और सुखसाध्य'[5] हो सकता है। बीसवी शती के प्रारम्भ में जितने सामाजिक आन्दोलन हुए उनका देशोद्धार का विश्लेषण जाति को जगा कर उसका सगठन था, इसलिए स्वामी दयानन्द तक का ध्यान राजस्थान के राजाओं की ओर रहता था, राष्ट्रीयता का नवीन आदर्श तो गाधी जी के नेतृत्व से ही विकसित हुआ है। किशोरीलाल जी के सामाजिक विचारों मे दण्ड की कठोरता और गीता का उपदेश ध्यान देने योग्य है। इस्लामी शासन में तो दण्ड कठोर था ही, हिन्दू स्मृतियां

---

१. दूसरा भाग, पृ० ३
२. पहला भाग, पृ० ८
३. तीसरा भाग, पृ० ५५
४. वही, पृ० २
५. पहला भाग, पृ० १०

भी दण्ड-विधान करते समय सदय नही रहीं, लेखक ने उनमे सहमति प्रकट की है :— हमारी समझ से अपराध की संख्या घटाने जैसा कठोर दण्ड हेतु हो सकता है, वैसा साधारण दण्ड नही, यही कारण है कि महर्षियों ने अपराधो के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की है, हम उसी पक्ष को मानते हैं।[1] देश की दुर्दशा का सामाजिक कारण खोजते हुए लेखक उस समय के कुछ विचारको के समान इस सत्य पर पहुँचता है कि यदि महाभारत का युद्ध न हुआ होता तो इतने वीरो की क्षति न हुई होती और विदेशी जातिया देश पर आक्रमण करने में सफल न हो पाती'। भगवान् के उपदेश की गोस्वामी जी श्रद्धापूर्वक अवहेलना करते है : 'वे ईश्वर थे, अतएव उनके विचार अवश्य उत्तम ही रहे होगे; परन्तु हम तो यही समझते है कि उस भयंकर जनक्षय से भारतवर्ष के वीरो की एक प्रकार समाप्ति होगई'[2] इस कथन की आलोचना अभीष्ट नही, उद्देश्य केवल यह देखना है कि इन ऐतिहासिक उपन्यासो का उद्देश्य केवल मनोरजन न होकर राष्ट्र को जगाना भी था।

हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी

बगाल के अन्तर्गत रगपुरा राज्य के परिवार से सम्बद्ध दो उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी ने लिखे है; 'हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी' उपन्यास मे राजा नरेन्द्रसिह की पत्नी की और 'लवगलता वा आदर्शबाला' उपन्यास मे राजा नरेन्द्रसिह की बहिन की कहानी है। यह वर्णन उन चार-पांच वर्षों का है जब दुरात्मा सिराजुद्दौला के अत्याचारो से तंग आकर बगाल की जनता ने सन् १७६० की राज्यक्रान्ति की और सौदागर अग्रेजों की जड भारत में जमने लगी। 'प्रथम संस्करण' के 'निवेदन' के अनुसार 'हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी' तथा 'लवंगलता वा आदर्शबाला' दोनो उपन्यास सन् १८९० ई० मे छपने लगे थे, परन्तु इनका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १९०४ ई० मे ही सम्भव हो सका; सन् १९१५ ई० मे इनका द्वितीय सस्करण निकल गया था। लेखक ने इन उपन्यासो को एक ही योजना में रख कर 'हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी' उपन्यास को 'लवगलता उपन्यास का पूर्व भाग' माना है और 'लवंगलता वा आदर्शबाला' को 'हृदयहारिणी उपन्यास का उपसहार' बतलाया है। फिर भी ये दोनो उपन्यास अलग-अलग भी अपने आप मे पूर्ण है।

'हृदयहारिणी'[3] उपन्यास मे उन्नीस परिच्छेद तथा नवासी पृष्ठ हैं, प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक है और शीर्षोद्धरण भी। इसका कथानक सुलझा हुआ एव स्वल्प है। सन् १७५६ मे सिराजुद्दौला बगाल का नवाब बना; वह चरित्रहीन तथा दुराचारी था; जिन हिन्दू सेठो और धनपतियो ने अलीवर्दीखा के शासन को सुदृढ बनाया था उनको भी नये नवाब ने मुसलमान बनने के लिए धमकाया[4]। सिराजुद्दौला के व्यवहार

१. पहला भाग, पृ० ५९
२. दूसरा भाग, पृ० ८
३. श्री सुदर्शन प्रेस, वृन्दावन।
४. दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ दि ब्रिटिश एम्पायर, वॉल्यूम ६, पृ० १२७

से न तो हिन्दू सन्तुष्ट थे और न मुसलमान; घटना का शासक रामनारायण, मिदनापुर का प्रबन्धक राजाराम, पूर्णिया का राजा अदलसिंह, राय दुर्लभ, सेठ अमीचन्द, जगत-सेठ, और मीरजाफर सब नवाब के विरोधी बन गये और अंग्रेजों की सहायता से सिराजुद्दौला को गद्दी से उतारने को तैयार हो गये; क्लाइव ने वाटसन को एक पत्र में लिखा था कि नवाब की दुर्बलता और अत्याचारों के कारण मुर्शिदाबाद में इतनी अव्यवस्था और असन्तोष है कि जगत सेठ तथा मीरजाफर आदि बड़े-बड़े अधिकारियों ने गुप्त रीति से अंग्रेजों से सहायता मांगी है[1]। सिराज के मुख्य दुर्गुण दो थे—क्रोधी स्वभाव तथा इन्द्रियलिप्सा[2]; अधिकतर हिन्दू इन्हीं के कारण उससे असन्तुष्ट थे। प्रस्तुत उपन्यास में कृष्णनगर और रंगपुर के दो राजघरानों पर भी नवाब की कुदृष्टि पड़ी, परन्तु रंगपुर के कुमार नरेन्द्रसिंह के प्रयत्न से नवाब का पतन हुआ और इन राजघरानों की सम्पत्ति वापिस मिलने पर इनमें विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो गया।[3]

उपन्यास का नायक युवराज नरेन्द्रसिंह है जो वेष बदल कर मुर्शिदाबाद में गुप्त समाचार जानने के लिए वीरेन्द्रसिंह बनकर रहता है। नायिका कुसुम अपनी माता के साथ दुर्दिन बिताती हुई मालाएँ बेचकर अपना पालन कर रही थी। इसी प्रसंग में वीरेन्द्र (नरेन्द्र) से उसका परिचय हुआ। नायक ने सहायता के व्याज से कुसुम को टोपियाँ बनाने का काम दिया। नवाब की कुदृष्टि वहां भी न बच सकी। उसने नायक की बहिन लवंगलता को पकडवा मंगाया, परन्तु हिन्दुओं ने उसका उद्धार किया, यह कथा दूसरे उपन्यास में है। अन्त में क्लाइव की सहायता से नवाबी-क्रान्ति हुई, राजघरानों के दिन फिरे, और दुर्दिन-बन्धु नरेन्द्र तथा कुसुम विवाह-बन्धन में बंधकर सुखी जीवन व्यतीत करने लगे।

उपन्यास का नाम नायिका के नाम पर न होकर उसके गुण पर है। नायक की 'हृदयहारिणी' नायिका उसकी उचित शिक्षा से 'आदर्श रमणी'[3] बन गई। 'उस बालिका के मुखड़े से सीधापन, पहिनावे से दरिद्रता, रूप-रंग से उत्तम कुल की महिमा और चाल से घबराहट टपकती थी'[4]। उसने मुर्शिदाबाद में 'धीरज के साथ अपने धर्म्म को बचाये' रखा 'अबलाओं के लिए रावण सदृश दुराचारी सिराजुद्दौला'[5] उसका कुछ भी न बिगाड सका। यह स्पष्ट नहीं है कि नायक ने नायिका को कौन-सी शिक्षा दी जिसके कारण वह 'आदर्श रमणी' बन सकी। सम्भवतः प्राचीन भारतीय आदर्श के साथ-साथ नवीनता का स्वागत लेखक का 'आदर्श' है। सीता के समान पतिव्रता, सावित्री के समान दृढ़-निश्चया होने के साथ नायिका में नवीन युग का स्वावलम्बन भी है—वह

---

१. दि लाइफ आफ रौबर्ट लार्ड क्लाइव, वाल्यूम १, पृ० २३५
२. वही, पृ० १४६
३. पृ० १६
४. पृ० ३
५. पृ० २१

माला बनाकर अथवा टोपियाँ बेचकर अपने परिवार की जीविका चलाती है। लेखक ने नायक-नायिका के प्रेम को कुछ नया रूप देकर उसको कोर्टशिप के रूप में चित्रित किया है। वह 'इच्छा के विरुद्ध·····विवाह के लिये उद्योग' को सहन नहीं कर सकती, और उसका प्रण है कि यदि ऐसा हुआ तो 'पहिले ही मैं अपनी जान दे डालूंगी, या तुम्हारे घर से कहीं अपना काला मुह कर जाऊँगी·····और विवाह न करके सदा कुमारी ही रहकर अपनी जिन्दगी'[1] बिता दूंगी। कहने की आवश्यकता नही कि यह प्रण सावित्री के प्रण से भी कठोर है, इसमें आधुनिकता है—विशेषत: घर छोड कर निकल जाने में। लेखक ने इस 'आदर्श रमणी' में एक नवीनता और बतलाई है जो लेखक के स्वीकार न करने पर भी पश्चिमी प्रभाव से उत्पन्न है। अन्तिम परिच्छेद मे 'सोहाग-रात' का वर्णन करते हुए लेखक ने नायिका का रहस्य खोलते हुए लिखा है कि 'कुमुम विवाह के पहिले नरेन्द्र से बेधडक बातें करती, हास-परिहास करती, गले से लिपट जाती, और गालो को चूम लिया करती थी'[2]। इस चित्रण को 'आदर्श' मानना सबको आपत्तिजनक लगा था, जिसका उत्तर लेखक ने 'लवंगलता' उपन्यास के 'निवेदन' में 'हम सर्वथा पुरानी लकीर के फकीर नही बने हुए हैं' लिखकर दिया था। जो भी हो समर्थन भले ही पुराणों से हो जाय, यह प्रभाव नवीन ही है, जिसको अकित करते समय लेखक 'आदर्श' को भूल गया है।

नायक का चित्रण अधिक स्वस्थ है। उसमें क्षत्रियोचित गुण सभी है। उसका प्रेम-व्यापार भी संयत है। उसकी वीरता के प्रसंग में लेखक ने लिखा है कि 'बिना हिन्दुओं के ऐसी बाण-विद्या का परिचय भूमण्डल मे और कौन दे सकता है? यदि हिन्दुओ मे कुछ दोष है तो केवल यही कि इनमे एका नही है'[3]। इसी प्रसग मे गोस्वामी जी ने 'दुराचारी यवनो' को छल, कपट, और धूर्त्तता'[4] के लिए धिक्कारा है; 'मुसलमानो ने जब जिस देश को अपने अधीन किया, छल, कपट और दुराचार के कारण; और जहा ये गए, वहा लूट, खसोट, फूकने जलाने' ढाहने, उजाड़ने, लौडी गुलाम बनाने, और हिन्दू-धर्म तथा समाज को सत्यानाश करने ही मे अपनी बहादुरी दिखलाई'[5]। 'अंग्रेजो ने मुसलमानों के अत्याचार से इस अधमरे देश का पिण्ड छुड़ाया' इसीलिए अंग्रेजो का देश मे स्वागत हुआ। उस युग की राजभक्ति का मुख्य कारण अंग्रेजो को हिन्दुओ का त्राता समझना ही है।

नायिका के 'आदर्श' के साथ-साथ लेखक ने इस ऐतिहासिक उपन्यास मे कुछ सामाजिक विचार भी व्यक्त किये है। सती-प्रथा का समर्थन करता हुआ वह लिखता है कि कमलादेवी ने 'पति के साथ चिता पर जल जाने के लिए बड़ा हठ किया, पर उस

---

१. पृ० ४६
२. पृ० ८८
३. पृ० ४
४. पृ० ५
५. पृ० २३

समय वह गर्भवती थी, इसलिए लोगों ने उन्हें बलपूर्वक रोक रक्खा'[1]। नायक के पिता के नाम पर लेखक ने बाल-विवाह पर समझौता किया है : 'महाराज महेन्द्रसिंह बाल्य-विवाह के घोर विरोधी थे, इसलिए अब तक नरेन्द्रसिंह क्वारे थे और इनकी तेरह-चौदह बरस की बहिन का भी विवाह नहीं हुआ था'[2]। अठारहवें परिच्छेद में नायक ने 'बड़े धूमधाम से पिता का वार्षिक श्राद्ध किया और यह श्राद्ध बंगदेश में ऐसा हुआ कि जिसकी गाथा आज भी स्त्रियाँ ग्राम्य गीतो में गाया करती है'[3]। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए एक मास तक 'सहस्रचण्डी का अनुष्ठान' हुआ, 'एक सहस्र कगालों को नित्य भोजन कराया गया—और एक सौ आठ कुमारी नित्य जिमाई'[4] गईं। 'तेंतीसवें दिन अष्टोत्तर सहस्र ब्राह्मणों और उतनी ही कुमारियों को भोजन कराकर वस्त्र और यथोचित दक्षिणा दी गई और महा अनुष्ठान समाप्त हुआ'[5]। ये सब अनुष्ठान सनातन धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ही हैं।

इस ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास आवश्यकता से अधिक है, कुछ परिच्छेद तो केवल इतिहास बताने के लिए ही हैं—पांचवा और चौदहवा परिच्छेद तो इसीलिए अत्यन्त नीरस हैं। फिर भी जिन दो राजकुलो का वर्णन है वे इतिहास मे प्रसिद्ध नहीं है। लेखक की दृष्टि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी है और ऐतिहासिक तथ्यो पर भी। सिराजुद्दौला के अत्याचारो का चित्रण पूर्णत ऐतिहासिक है। कनाइव के साथ मीरजाफर, सेठ अमीचन्द और जगत सेठ की घटनाएं भी तथ्यात्मक सत्य है।

इस उपन्यास की कतिपय अन्य विशेषताएं भी हैं। सर्वप्रथम इसकी भाषा आदि से अन्त तक एक-सी है, फारसी का अधिक प्रभाव उस पर नहीं पड़ा। दूसरे इसमें अस्वस्थ चित्र अंकित नही किये गये। ब्रजभाषा के दो छन्द तो है परन्तु उर्दू शेरो की भरमार नही। किसी भी बहाने लेखक ने तिलिस्म या ऐयारी का चित्रण नही किया। कथानक छोटा एव सरल है। इतिहास का वर्णन लेखक का मुख्य उद्देश्य रहा है। मुसलमानो के प्रति घृणा और अंग्रेजो के साथ अनुराग लक्षित होता है। नाटकीय गति से 'ग्रन्थकर्ता' बीच मे आकर अपनी नायिका की प्रशसा कर जाता है—'धन्य उन्नतहृदये, हृदयहारिणी तू धन्य है'[6]। सुखान्त उपन्यास का अन्त विजय और 'सोहागरात' मे हो जाता है, नायक-नायिका एक दूसरे को 'सुप्रभात'[7] बोलकर चित्रपट से अलग हो जाते हैं, अन्य उपन्यासो के समान 'पुत्र जन्मोत्सव' तक लेखक ने प्रतीक्षा नही कराई।

लेखक का मत है कि 'उपन्यासो मे नायक-नायिका के रूप का वर्णन करना भी एक आवश्यक बात मानी गई है'[8] इसलिए उसने नायिका के 'नखशिख' का विस्तृत

१. पृ० ९
२. पृ० २८
३. पृ० ८४
४. पृ० ७८
५. पृ० ७९
६. पृ० ८३
७. पृ० ८९
८. पृ० ५७

वर्णन किया है, साथ ही नायक के नखशिख का संक्षिप्त चित्रण कर दिया है। लेखक ने 'नायक नायिका के रूप' को 'प्रेमाधार या प्रेम का निदान'[1] माना है और प्रेम का भी भावुकतापूर्ण वर्णन किया है।

लवंगलता वा आदर्शबाला

आगरा, दिल्ली और लखनऊ से पहिले बंगाल के इतिहास ने किशोरीलाल गोस्वामी को आकृष्ट किया। आगरा और दिल्ली पुरानी राजधानियां थी, उनका वैभव उजड़ चुका था; लेखक को ऐश्वर्य-वैभव में रुचि है, इसलिए उसने इन नगरियों के पुराने वैभवपूर्ण इतिहास से कथानक लिए, लखनऊ का वह इतिहास अपेक्षाकृत आधुनिक है जो इनके उपन्यासों मे आया है। बंगाल का भी अंग्रेजी सम्पर्क के बाद का इतिहास ही लेखक को अधिक आकर्षक एव मनोहर लगा। उनके कुछ प्रसिद्ध उपन्यास बंगाल की नवाबी को दृष्टि मे रखकर लिखे गये थे। सन् १८९० ई० मे उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'आदर्शरमणी वा हृदयहारिणी' दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' मे छपा था, उस समय प्रतापनारायण मिश्र उस पत्र के सम्पादक थे। इस उपन्यास की बडी प्रशसा हुई, साहित्य मर्मज्ञ उपन्यास-प्रेमियो ने 'आदर्श रमणी' के उदार चरित्र पर भक्ति प्रकट की। एक वर्ग ने इस चरित्र को पसन्द नही किया, उसको भारतीय रमणी का अंग्रेजी ढग पर विवाह-पूर्व प्रेम पसन्द नहीं आया। लेखक ने उसी कथा को लेकर लिखे गये अपने दूसरे उपन्यास 'लवंगलता वा आदर्शबाला' में उन आलोचको को अपनी नायिका के विषय में जवाब दिया। उसने यह नही माना कि उसकी नायिका का विवाह-पूर्व प्रेम नई लहर का असर है, बल्कि 'पुराण और साहित्य' के अन्तर्गत 'ऊषा, दमयन्ती, विद्यावती, तपती —आदि के कोर्टशिप'[2] से इसका समर्थन किया है; साथ ही कह दिया है कि '—जो कुछ लिखते है विचार के अनुसार ही लिखते हैं, क्योकि हम सर्वथा पुरानी लकीर के फकीर नही बने हुए है।'[3]

'लवंगलता वा आदर्शबाला' उपन्यास का पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १९०४ ई० हुआ था। इसे 'हृदयहारिणी उपन्यास का उपसहार भाग' बतलाया गया है, क्योकि इस में भी उसी वातावरण (देशकाल) से कथानक लिया गया है। 'हृदयहारिणी' उपन्यास में कृष्णनगर की राजकन्या कुसुमकुमारी के कारण जिस सैयद अहमद ने अपने मित्र नरेन्द्रसिंह पर भयानक वार किया था उसी नरेन्द्रसिंह की बहिन लवंगलता इस उपन्यास की नायिका है, इस पर सिराजुद्दौला उसी प्रकार कुदृष्टि रखता था जिस प्रकार कि कुसुमकुमारी पर सैयद अहमद। 'उस समय सारे भारतवर्ष में एक प्रकार से अराजकता फैली हुई थी—और सच तो यों है कि यदि उस समय यह देश अंगरेजो के हाथ में न जाकर किसी दूसरी अत्याचारी जाति के हाथ में जाता तो आज दिन यहा वालों

---

१. पृ० ५७

२. 'लवंगलता या आदर्शबाला' उपन्यास की भूमिका।

३. वही।

की दशा कैसी शोचनीय स्थिति को पहुँचती, इसके स्मरण-मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं'[1]। मुर्शिदाबाद का नवाब सिराजुद्दौला 'बडा क्रोधी, हठी, अत्याचारी तथा इन्द्रिय-परायण'[2] था, 'उससे बगाली मात्र का जी फिर गया था'[3] 'जी उसका मैला था, अंगरेजों से वह भीतरी डाह रखता था और फ्रासीसियो का पक्ष करता था; वरन् अपने यदा उन्हे नौकर भी रखने लग गया था'[4]। ऐयाश सिराजुद्दौला ने रगपुर की राजकुमारी लवगलता से अपना प्रेम-निवेदन लगभग उसी ढंग से किया जिस प्रकार कि विद्यापति के कान्ह ने राही से किया था, उसने वृद्धा का रूप बना कर अपने एक मुसाहिब को लवगलता के पास भेजा, परन्तु लवंगलता के मन में नवाब के लिए उसने कोई जगह न पाई। तब नवाब ने बलात् राजकुमारी को पकडवा कर 'हीरा झील' नामक महल मे कैद कर लिया। यहाँ लवगलता का प्रेमी मदनमोहन स्त्री का वेश धारण कर उससे मिला और उसका उद्धार भी किया। अत्याचारो की यह शृङ्खला चल रही थी कि प्लासी का युद्ध छिड़ गया और सिराजुद्दौला की लगभग वही दशा हुई जो सोने की लका मे राजा रावण की हुई थी; 'सतीत्वविनाशकारी, दुराचारी व्यक्ति की स्त्रियां प्राय. अन्त मे जैसे आपत्ति को भोगती हैं कदाचित् उन सभो (सिराजुद्दौला की सैकडो बेगमो) को भी उसी आपदा का सामना करना पडा'[5]।

इस उपन्यास मे ११३ पृष्ठ और १९ परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक है, और ऊपर सस्कृत का उद्धरण है। उपन्यास का उद्देश्य यह दिखाना है कि पाप स्वय मनुष्य को खा जाते है और जब बुरे दिन आने वाले होते है तो मनुष्य की बुद्धि फिर जाती है। इस उद्देश्य की घोषणा मुखपृष्ठ पर महाभारत के शान्तिपर्व से ली गई सूक्ति 'यथा करोति कर्माणि तथैव फलमश्नुते' भी है, और भीतर भागवत का कथन 'हिस्र स्वपापेन विहिसत' भी। ध्यान देने की बात यह है (जैसा कि पहले उपन्यासो मे हमने देखा है) कि लेखक इस उपन्यास मे अश्लील अथवा दूषित चित्र अंकित नही करता और न आद्यन्त वातावरण का ही गन्दा चित्र खीचता है। इस उपन्यास में भाषा एव वातावरण पर इस्लामी प्रभाव अपेक्षाकृत बहुत कम है। स्त्री-पात्र सभी अच्छे है; लवगलता तो नायिका है; सिराजुद्दौला की बेगम लुत्फउन्निसा भी नेक, परिणामदर्शिनी और उदार है, उसे हताश होकर आत्महत्या करनी पडती है; सैयद अहमद की बीबी और सिराजुद्दौला की बहिन नगीना बेगम भी अच्छी औरते है। इस प्रकार सभी स्त्रिया सामान्य से ऊचे चरित्र वाली है। इसके विपरीत पुरुष-पात्र या तो गिरे हुए है, या अपूर्ण है; सिराजुद्दौला तो नायक है, उसकी नीचता का क्या ठिकाना; लवंगलता का प्रेमी मदनमोहन भी पाठक को अधिक प्रभावित नही करता, वह सामान्य राजपूत है; सैयद अहमद तो खराब है ही; सेठ अमीचन्द ने 'लालच के

---

१. वही, पृ० ९
२. वही, पृ० १०४
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० १०७
५. वही, पृ० ११३

फेर में पड़ अपने तईं आप हानि पहुंचाई और कम्पनीवालों से उन्हें एक कौड़ी न मिली'।[1] राजा शिवप्रसाद को अंग्रेजों का खुशामदी और क्लाइव को क्रूर चित्रित किया गया है। इस उपन्यास मे तिलिस्म और जासूसी का स्थान डाकुओं के जैसे व्यवहार ने ले लिया है।

उपन्यास की नायिका पाठक का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट करती है। उसमें रूप और गुण दोनो का पर्याप्त समन्वय है। लेखक ने 'सुन्दरी लवगलता के नखशिख का वर्णन' आलंकारिक शैली पर मन को मार कर सक्षिप्त ही किया है।[2] प्रेमी मदन-मोहन जब उससे बहकी बाते करने लगा तो लवंगलता ने उसको रोक दिया; 'किन्तु उस प्रेम को मैं दूर ही से प्रणाम करती हूँ जिसमें गुरुजनो के बडप्पन और आदर का, भाव न हो'।[3] तब उसके प्रेमी ने एक वाक्य मे उसके गुणो का स्मरण किया: 'प्यारी, तुम समझदार और पढी-लिखी 'आदर्शबाला' हो'।[4] तस्वीर वाली कुट्टिनी का निरादर करते हुए लवगलता ने 'चाकू लेकर सिराजुद्दौला के चेहरे की नाक'[5] छील डाली। अपने भाई को उसने सलाह दी कि वह 'बुरा सलूक' करने वाले सैयद अहमद को भी 'जरूर पनाह'[6] दे। उस राजनन्दिनी का चरित्र इतना महान् है कि लेखक उसे 'पूज्य दृष्टि से अवलोकन'[7] करने की पाठको से आशा रखता है, और इसीलिए उसको 'आदर्श बाला' नाम दिया है। वस्तुत सनातनी गोस्वामी पर यह आर्यसमाजी प्रभाव है। वे यह अनुभव करते हैं कि नये युग की महिला को सान्दर्य, शील, चतुराई एवं उदारता से सम्पन्न होना चाहिए; और ये गुण केवल सुशिक्षा से ही आ सकते हैं; 'समझदार और पढी-लिखी' शब्दो पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है।

बगाली नवाबी के इस उपन्यास मे इतिहास सामयिक ही है, इसलिए उसे अधिक महत्व नही मिल पाया है। लेखक ऐतिहासिक उपन्यास लिखते-लिखते समाज को प्रमुख महत्व देने लगा है, उसकी नायिका सद्गुणो की मूर्त्ति है; उसका स्वरूप निश्चित और स्पष्ट है। यद्यपि चरित्र-विकास का अनुभव नहीं किया जा सकता, परन्तु चरित्र-चित्रण यहाँ सफलता से दूर नहीं रहा।

मल्लिकादेवी वा बंगसरोजिनी

सन् १९०५ ई० मे किशोरीलाल गोस्वामी ने बगीय इतिहास का एक उपन्यास 'मल्लिकादेवी व बंगसरोजिनी' दो भागों मे लिखकर प्रकाशित[8] किया। 'इस उपन्यास

---

१. वही, पृ० २८

२. (क) लवंग की मांग की उपमा ही क्या, जो अपनी लाल रसना से संसार को पुकार कर कह रही है कि ले 'माग'—जो जिसके जी में आवे सो मुझ से 'माग' ले।
(ख) नाक ने तो नाक की ही नाक काट ली है। (पृ० ९२)

३. वही, पृ० ४१

४. वही।

५. वही, पृ० ४९

६. वही, पृ० ७८

७. वही, भूमिका।

८. मुद्रक—हितचिन्तक प्रेस, काशी।

में बंगदेश की उस समय की घटना का वर्णन बड़ी उत्तमता से किया गया है जब दिल्ली के तख्त पर नेकनाम बादशाह गयासुद्दीन बलबन विराजमान था और बगाले की बाग-डोर एक महा अत्याचारी तुगरलखां जैसे निर्दय नवाब के हाथ में थी·····सन् १२७९ ई० में बगदेश में बड़ी भारी उलट-फेर हुआ था·····वहां के नवाब के कारण घोर सकट उपस्थित हुआ तब दिल्ली से स्वय शाहशाह ने आकर वहां शान्ति स्थापित की और अपने शाहजादे को बंगाल का नवाब बनाया'[1]। इस प्रकार इस उपन्यास में 'कई सौ वर्ष पहले के ऐतिहासिक रहस्य को चित्रित करने का प्रयत्न है। बंगीय जीवन के शेष उपन्यास सौ-दो सौ वर्ष का सामयिक इतिहास ही अंकित करते थे, उनसे यह उपन्यास प्राचीनता की दृष्टि से भिन्न अतः अधिक महत्वपूर्ण है।)

तेरहवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही बंगाल पर मुसलमानो का आधिपत्य हो गया और दिल्ली के अधीनस्थ नवाब सेन-राजाओ की गद्दी पर शासन करने लगे। गुलाम वश का कठोर बादशाह गयासुद्दीन बलबन जब वृद्ध हो गया और एक ओर से राज्य पर मुगलो के आक्रमण होने लगे दूसरी ओर आन्तरिक शिथिलता झांकने लगी, तो सन् १२७९ ई० में बगाल के नवाब तुगरल ने बादशाह को कर देना बन्द कर दिया। दण्डस्वरूप बलबन ने अवध से अमीनखा को तुगरल पर आक्रमण करने की आज्ञा दी; परन्तु अमीनखां पराजित हुआ और उसकी सेना के बहुत से अधिकारी तुगरल से जा मिले। क्रुद्ध होकर बादशाह ने अमीनखा को अयोध्या के मुख्य द्वार पर फासी दे दी। फिर मलिक तरगी को सेना लेकर भेजा गया परन्तु उसकी सेना भी तुगरल से मिल गई। तब बलबन स्वय अपने द्वितीय पुत्र बुगराखा को लेकर दो लाख सेना के साथ बगाल पर चढ आया। लखनावती से तुगरल भाग गया, बलबन पीछा करता हुआ सोनारगांव पहुँचा और वहां के राजा भोज पर जोर दिया कि वह तुगरल की खोज मे अपनी सेना को लगावे। अन्त में शेर अन्दाज और मुकद्दिर नाम के दो नायक खोज करते-करते एक स्थान पर पहुँचे जहा तुगरल अपने विश्वस्त सैनिको के साथ विश्राम कर रहा था। मुकद्दिर के बाण से तुगरल का सिर कट कर गिर गया, जिसे बादशाह के पास भेज कर शाही सेना ने विजय की घोषणा की। वापस लौटते हुए बलबन ने लखनावती के बाजार मे, दो मील से अधिक लम्बी सडक पर, तुगरल के सहायको को भाले की नोंक से छेद-छेद कर मार डाला। देखने वालो ने अपने जीवन मे कभी भी इतना क्रूर दृश्य न देखा था, अनेक दर्शक भय एव आतंक से मूर्च्छित हो गये। बलबन ने अपने पुत्र बुगराखां को यह दृश्य दिखाया और बगाल का शासक नियुक्त करते हुए उसे तीन बार चेतावनी दी कि जब तुम लखनावती में रहो अपने मन में यह बात याद रखना कि दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह करने का बगाल को साहस नही है।[2]

उपन्यासकार ने तुगरल को अत्याचारी, क्रूर तथा दुष्ट चित्रित करते हुए हिन्दू-

---

१. 'खूनी औरत का सात खून' उपन्यास के अन्त में दिये गये विज्ञापन से।

२. दि केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वॉल्यूम ३, पृ० ७९-८१

नरेशों के साथ उसके युद्ध को विशेष महत्व दिया है और सारे परिवर्त्तन का श्रेय भागलपुर राज्य के गुप्त सचिव यदुनाथसिह की पुत्री मालती को सौप दिया है। मालती यवन वेष में फरहाद नाम से तुगरल के यहाँ रहती थी, उसने युवराज नरेन्द्रसिह को अनेक प्रकार की सहायता दी और तुगरल की पुत्री शीरी का बलबन के पुत्र बुरगाखां के साथ विवाह करा दिया। अत्याचारी तुगरल ने भागलपुर के महाराज महेन्द्रसिह उनके प्रधान मत्री वीरेन्द्रसिह तथा गुप्त सचिव यदुनाथसिह आदि को 'एक कुदरती पहाडी के अन्दर कैद कर लिया' था। युवराज नरेन्द्रसिह ने तुगरल से युद्ध किया और उसे हरा दिया, इसी बीज बलबन का आक्रमण भी हुआ जिससे तुगरल के पैर बिलकुल उखड गये, वह छिप कर भाग गया और अन्त मे उसी रघुनाथसिह के हाथ से मारा गया जिसने हिन्दुओ के विरोध मे उसे सहायता दी थी।

कथानक में मुख्य परिवर्त्तन तो 'युद्धवीर रस मे विशुद्ध शृगार रस के मिलाने से'[२] हुआ है। बलबन के पुत्र से तुगरल की पुत्री का प्रेम दिखाकर अन्त मे उनका विवाह करा दिया गया है। इसी हेतु लेखक ने तुगरल को क्षमा प्रदान कराई है और उसे फिर से नवाब बनाने का बलबन से निश्चय कराया है। दूसरा परिवर्त्तन तुगरल का मुकद्दिरखा के हाथ से न मर कर रघुनाथसिह के हाथ से मारा जाना है; रघुनाथसिह मन्त्री यदुनाथसिह का सौतेला भाई था, वह तुगरल से मिल गया और उसे मालती को प्राप्त करने के लिए भडकाया; अन्त मे आत्मग्लानि के कारण रघुनाथसिह ने तुगरल से द्वन्द्व युद्ध किया और उसे मार स्वय सन्यासी हो गया। रघुनाथसिह कल्पित पात्र है, परन्तु उसकी जलन स्वाभाविक है, इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण है। तीसरा परिवर्त्तन मालती कल्पित पात्र का समावेश है। मालती ही अन्त में 'बग सरोजिनी' घोषित की गई है।[२] वह अपने पिता की कैद से परिवर्त्तन के समय तक पुरुष-वेष मे ही रहती है; कभी वह यवन-युवक फरिहाद बनकर तुगरल की विश्वास-पात्र है, कभी 'अपरिचित' हिन्दू के वेष में युवराज नरेन्द्रसिह की सहायता दे रही है। उसका रहस्य सबसे मनोरंजक है। तुगरल ने एहसान मान कर अपनी पुत्री से उसका विवाह निश्चय किया, शीरी ने विवाह न कर उसको भाई बना लिया, मल्लिकादेवी के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए देखकर युवराज क्रुद्ध हुए, अन्त में वह 'अपरिचित', अर्थात् 'फरिहाद', अर्थात् 'मालती' भागलपुर की रानी और 'बगसरोजिनी' सिद्ध हुई। जमालपुर की उस पहाड़ी का भी कथा मे विशेष महत्व है जिसमें भागलपुर के राज-परिवार को तुगरल ने कैद कर रखा था। 'सन् १३४८ ई० के भयंकर भूकप ने, जिसने बगदेश मे महाप्रलय मचाया था, जमालपुर की पहाडी को रसातल पहुँचा दिया और उसके साथ ही वह प्राकृतिक पार्वतीय भवन भी भूगर्भ मे समाधिस्थ हो गया। अब जमालपुर की पहाड़ी का जितना अंश दिखलाई देता है, वह पहिले के शतांश का भी शताश नही है।'[३]

---

१. दूसरा भाग, पृ० ३१
२. वही, पृ० १३१
३. दूसरा भाग, पृ० १३२

इतिहास ने इस कथानक को तुगरल के विद्रोह तथा कुफल के रूप में अंकित किया है। अतः उसमें बलबन की सहायता ढाका के पास सोनारगांव के राजा भोज ने की है। उपन्यास की दृष्टि में तुगरल अत्याचारी है, इसलिए हिन्दू जनता उससे असन्तुष्ट है; और क्योंकि धर्म की जय तथा अधर्म की पराजय स्वाभाविक है, इसलिए हिन्दू राजा तुगरल को युद्ध में पराजित कर देता है। इस राजा का नाम लेखक ने नरेन्द्रसिंह रख दिया है। यदि हिन्दू आपस में मिले-जुले रहते तो विदेशी उन पर आक्रमण न कर पाते, परन्तु हिन्दुओं की फूट ही उनकी शत्रु बनी। कथानक में रघुनाथसिंह एक आत्मघाती हिन्दू है जो हिन्दुओं के विरुद्ध तुगरल को भड़काता और उसकी सहायता करता है। तुगरल के अत्याचार उसी रूप मे चित्रित किये गये हैं जो राक्षसराज रावण में मिलता है और जिसका परिपाक पर-नारी-हरण में होता है। इसीलिए तुगरल मालती पर कुदृष्टि रखता है तथा 'मल्लिका, सुशीला और सरला को बांध कर'[1] मंगा लेता है। मल्लिका इस उपन्यास की सीता है, उसको लेकर ही नरेन्द्रसिंह और तुगरल में युद्ध होता है तथा अन्त मे उसका विवाह उसके मनोनीत पति नरेन्द्रसिंह से हो जाता है। शाहजादा और शीरी का मिलन प्रासगिक है, नरेन्द्रसिंह और मल्लिका का अभीष्ट। अस्तु, इस उपन्यास मे नरेन्द्रसिंह को नायक मान कर उनके दुष्टदलन एवं प्रेयसी की प्राप्ति की घटना को राम-रावण के आदर्श पर अंकित करने का प्रयास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे किया गया है।

उपन्यास का नायक नरेन्द्र तथा उपनायक शाहजादा है। नायक की विजय दो नायिकाओं के साथ विवाह से पूर्ण होती है। दोनों नायिकाओं के नाम पर ही उपन्यास का नाम है—'मल्लिकादेवी' वा 'बंगसरोजिनी' 'बगसरोजनी' तो 'मालती' की ही उपाधि है। यवनदम्पति को उपनायकत्व देकर लेखक ने उदारता का परिचय दिया है; उसके ये यवनपात्र अपने आदर्श के अनुसार सच्चरित्र तथा गुणधर है। मन्त्री आदि का भी आदर्श चित्रण है। इन मुख्य पात्रो मे केवल शाहजादा ही ऐतिहासिक है, शेष सब कल्पित। और शाहजादे का विशेष चरित्र यहां अंकित नही किया गया, उसका प्रेम भारतीय आदर्श पर चित्र-दर्शन से प्रारम्भ होता है, हिन्दू राजा और गुप्तचर के हाथ में खेलता हुआ वह सुखी जीवन बिताता रहता है। उपन्यास ने इतिहास से इतना स्थूल सत्य ही ग्रहण किया है कि बलबन का पुत्र तुगरल बगाल का नवाब बना। इतिहास ने बलबन की प्रचण्डता एव तुगरल की दुष्टता को अंकित किया है, इसमे से उपन्यास ने तुगरल की दुष्टता ही चित्रित की है और उसका रूप भी बदल दिया है। 'उसका रंग काला था, चेहरा भयावना और शीतला की कृपा से बिल्कुल बिगड़ गया था। उसकी आंखें बिल्कुल कपाल में धंस गई थी, जिनसे दुश्चरित्रता, क्रूरता, निष्ठुरता, और शठता चुई पड़ती थी और ऐसा जान पड़ता था कि संसार मे कोई भी ऐसा दुष्कर्म नही है, जिसे यह पिशाच प्रसन्नता से न कर डाले।'[2]

---

१. वही, पृ० ७ २. दूसरा भाग, पृ० ११

दूसरे उपन्यासों के समान यहां भी कथानक की परिणति पुत्रोत्पव, राज्यप्राप्ति तथा भक्ति मे हुई हैं; 'कुछ दिनों में शीरी, मालती, मल्लिका, सुशीला और सरला ने पुत्रोत्सव का परमानन्द प्राप्त किया और तब वृद्ध महाराज ने नरेन्द्रसिंह को सिंहासन पर बैठाकर अपना समय ईश्वराराधना में ही लगाया'।[1] लेखक ने हिन्दू पात्रो को राजपूती आदर्श मे ढालकर उनका आदर्श चित्रण किया है। दोनो प्रकार की भाषा के उदाहरण इस उपन्यास में भी उतने ही स्पष्ट एवं आकर्षक हैं। उच्च कुल के मुख्य हिन्दू-पात्र जब बातचीत करते है तो लेखक की भाषा पंडिताऊ हो जाती है : 'कोटि वृश्चिकदंशन की भांति यह वाक्य विनोद के रोम-रोम में विद्ध हुआ, वे धम्म से भूमि में गिरकर अश्रु-विसर्जन करते-करते कहने लने—'[2]। इसके विपरीत शीरी और फरहाद की अथवा शीरी और शाहजादे की बातों मे फारसी की छटा बिखरी पड़ती है। 'लेकिन इस जुमले का माकूल जवाब तय हो सकता है जब मैं यही इलजाम औरतों की मुहब्बत पर लगाऊ लेकिन ऐसा करना मैं इसलिए मुनासिब नही समझता कि मुझे इस बात का यर्कीन है कि आप मुझे तहेदिल से प्यार करती है'[3]। कथानक के बीच मे आने वाले अनेक शेर विषय के स्पष्टीकरण के साथ-साथ लेखक की शेर-प्रियता के भी द्योतक हैं। दूसरे भाग के तृतीय परिच्छेद में उर्दू की शैली पर गोस्वामी जी ने एक सुन्दर अप्रस्तुत-योजना की है जो लाक्षणिकता के कारण आकर्षक बन गई है : 'फर्राशी पंखा चल रहा है और उसके हुक्के पर रखी हुई चिलम अपने स्वामी की दुर्भाग्यता पर आप ही आप जल कर खाक हुई जाती है।'[4]

इतिहास से परिचित व्यक्ति को इस उपन्यास मे सबसे खटकने वाली बात यह लगती है कि बलबन को कथानक मे स्थान देते हुए भी उसकी प्रसिद्ध क्रूरता का लेखक ने प्रत्यंकन नही किया और फलस्वरूप सन् १२७९ ई० के परिवर्तन मे जो निर्दय वातावरण बगाल मे फैल गया था उसकी गन्ध भी इस रचना मे नही है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि लखनावती का अमानुषिक अत्याचार जिसको देख कर ही अनेक व्यक्ति मूर्च्छित हो गये थे इतिहास मे बलबन के व्यक्तित्व के लिए भी बदनाम माना गया है, उसका एक प्रमाण बंगभूमि से शताब्दियों तक आतंक का प्रसार था। लेखक को बलबन का चरित्र अभीष्ट न हो परन्तु यह नृशस आतक तो प्रस्तुत कथानक में अनिवार्य है। शायद मुहब्बत और विवाहो की धूमधाम मे टूटती हुई सासो का क्रन्दन यह सुन नहीं पाया। सत्य यह है कि जो कुछ इतिहास को विदित है लेखक की दृष्टि मे उतना ही इतिहास नही है, जो अविदित और अज्ञात है उसका चित्रण वह उपन्यास का कर्तव्य समझता है। दूसरे भाग के उन्नीसवे परिच्छेद मे कवि भारवि का जो श्लोक दिया गया

---

१. वही, पृ० १३२
२. दूसरा भाग, पृ० ३३
३. वही, पृ० ९२
४. वही, पृ० १७

है वह गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों का एक मुख्य सूत्र माना जा सकता है; श्लोक का अर्थ है कि कवि का ज्ञान बहुत सीमित होता है और राजाओं का जीवन स्वभावतः दुर्बोध एव रहस्यमय है[1], इसलिए उसका ठीक-ठीक चित्रण सम्भव नही है।

इस उपन्यास पर कई प्रकार के सामयिक प्रभाव हैं। मालती का चरित और जमालपुर की पहाडी का रहस्य जासूसी परम्परा में है, तिलिस्म न होते हुए भी यह पहाडी राजनीतिक कैदियो को सुरक्षित रखने का गुप्त स्थान है। दूसरे भाग के नवम परिच्छेद में 'एक मुक्तकेशी भैरवी हाथ मे वीणा लिए झंकार करती-करती तुगरल के शिविर मे प्रविष्ट[2] होती है; जिसके प्रभाव मे आकर 'तुगरल खां उछल कर भैरवी के चरणो पर गिर' पडता है। यह 'देवी चौधरानी' का प्रभाव माना जा सकता है।

लेखक महोदय ने नरेन्द्रसिह का मल्लिका के साथ विवाह दिखलाते हुए कई सामाजिक विषयो पर अपनी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्मति दे दी है। नरेन्द्र-मल्लिका, विनोद-सुशीला अथवा शीरी-शहजादे का विवाह किस प्रकार का माना जाए। मुसलमान दम्पति का विवाह तो चित्र-आदर्श-जन्य प्रेम का सूफियो का प्रभाव माना जा सकता है। परन्तु पौराणिक गोस्वामी जी के हाथ से आदर्श हिन्दू-दम्पति का विवाह-पूर्व प्रेम उस समय आलोचना का विषय बन गया था जिसका उत्तर लेखक ने अपने दूसरे उपन्यास 'लवगलता वा आदर्शबाला' मे दिया है।[3] प्रस्तुत उपन्यास मे उसने 'विवाह के पूर्व···परस्पर मिला कर प्रेम-सभाषण' को 'वैदिक और पौराणिक काल के कोर्टशिप के अनुसार'[4] माना है। कोर्टशिप स्वयं दो प्रकार की हो गई; एक आधुनिक जो पाश्चात्य प्रभाव है और जिसमे वर कन्या विवाह से पूर्व परस्पर मे परिचय प्राप्त करके वैवाहिक सम्बन्ध स्वयं निश्चय कर लेते है। दूसरी कोर्टशिप 'वैदिक और पौराणिक काल के अनुसार' है; इसकी दो विशेषताए हो सकती हैं—(क) विवाह का गुरुजनों द्वारा निश्चय, (ख) विवाह की बात सुनकर लज्जा और संकोच का आ जाना। इस विशेषता का सकेत एक वाक्य से मिलता है · 'किन्तु जब प्रणयिनों ने यह सुना कि अब विवाह शीघ्र होने वाला है, तब से न जाने क्यो **एक विलक्षण लज्जा तथा संकोच** ने इनको···अपने आधीन कर लिया'[5] रेखांकित शब्द उक्त विशेषताओ के आधार है। 'विवाह की तैयारियां बडे धूमधाम से' हुई है; 'महफिल और बारात', 'शुभ मुहूर्त्त में जुलूस' 'डंके, निशान, हाथी, घोडे, सवार' आदि के साथ 'अशर्फिया लुटाता हुआ' जाता है। 'आतिशबाजी, नाचरंग और महामहोत्सव'[6] का मनोहर वर्णन है। लेखक विवाह मे इन सब बातो को आवश्यक समझता है। दम्पति की क्रीडाओ का चित्रण

---

१. निसर्ग-दुर्बोधमबोध-विक्लवाः
क्व भूपतीनां चरितं, क्व जन्तवः॥

२. पृ० ५२

३. दे० पृ० २९४

४. दूसरा भाग, पृ० १०२

५. वही, पृ० १०२

६. पृ० १०४

तो लेखक ने नही किया, परन्तु इस सयम के लिए स्वयं खेद प्रकट किया है और पाठकों से क्षमा भी मागी है—समाज की इस प्रवृत्ति को वह अच्छा नही समझता। 'खेद है कि हम उस वासरगृह के सम्पूर्ण रहस्य को खोलकर न लिख सके, इससे कदाचित् हमारे रगीले पाठक कुछ हम पर चटकेगे, किन्तु क्या किया जाए, हम अपने समाज की जैसी वर्त्तमान अवस्था देख रहे है, उससे उस विषय का स्पष्ट न लिखना ही वर्त्तमान हिन्दू-समाज के लिए मगलकारक है।'[1] यह कहना कठिन है कि समाज की 'वर्त्तमान अवस्था' से लेखक का अभिप्राय आर्यसमाजी प्रभाव है, चरित्रहीनता है, अथवा करुणा-मय स्थिति है—शायद प्रथम ही हो। आर्यसमाज के एक अन्य सुधार पुनर्विवाह पर भी गोस्वामी जी ने चलता हुआ व्यग्य किया है। द्वितीय भाग के सप्तम परिच्छेद में विनोदसिंह से बात करते हुए सरला ने परिहास किया कि वह अपने पति को छोड कर दूसरे व्यक्ति से भी विवाह कर सकती है :—

सरला—'''आजकल पुनर्विवाह की विधि प्रचलित हुई है।

विनोद—ऐ, यह क्या बोल उठी।

सरला—आप हमें स्मरण करके यहां आए हैं न।

विनोद—तो इसमें पुनर्विवाह के प्रश्न की आवश्यकता क्या है?

सरला—कदाचित् आपका ऐसा ही विचार हो! अस्तु, मै सब भाति प्रस्तुत हूं। (पृ० ४४)

यह कहना अनावश्यक है कि आर्यसमाज केवल विधवा के लिए पुनर्विवाह की आज्ञा देता है, तलाक और विधवा-विवाह एक ही बात नही है। अपने सामाजिक उपन्यास 'आदर्श हिन्दू' मे लज्जाराम शर्मा ने विधवा-विवाह तथा तलाक[2] को समान बता कर इसका खण्डन किया है। प्रस्तुत प्रसग में भी वही तर्क झाक रहा है।

सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई

कवि पद्माकर ने लिखा है कि स्वर्ण में सुगन्ध नही होती और सुगन्ध में सोना नहीं होना, किन्तु उनकी नायिका[3] में सोना और सुगन्ध दोनो का अपूर्व योग है। किशोरीलाल गोस्वामी ने इसी उक्ति से प्रेरित हो कर[4] पन्नाबाई नामक एक ऐसी नायिका की कथा लिखी है, जिसके रूप मे स्वर्ण की आभा और गुण मे सुगन्ध का यश है। इस उपन्यास को 'ऐतिहासिक उपन्यास' कहा गया है; इसके दो भाग हैं, प्रथम भाग सन् १९०९ में और द्वितीय भाग सन् १९११ में प्रकाशित हुआ था। अन्य ऐति-हासिक उपन्यासो की तुलना से 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई' उपन्यास की

१. पृ० १०५

२. पहिला भाग, पृ० ९५

३. सोने में सुगन्ध ना सुगन्ध में सुन्यो री सोनो,
सोनो औ सुगन्ध तो मै दोनों देखियु है।

४. द्वितीय भाग, पृ० ३११

कतिपय विलक्षणताएं हैं। इसके नायक-नायिका इतिहास-प्रसिद्ध नहीं हैं और न इस उपन्यास में महलों के रहस्य का उद्‌घाटन किया गया है, तत्कालीन शासन के ऐश्वर्य का चित्रण है, कतिपय अनैतिहासिक कल्पनाएं भी हैं। दो भाग और दो जिल्द होते हुए भी परिच्छेदों और पृष्ठों की संख्या एक ही सिलसिले में है शीर्षक घटनाओं के सूचक हैं, उनको उद्धरणों से रंजित नहीं किया गया। भाषा मिश्रित है, कई गज़लें स्वानिर्मित[1] भी हैं दूसरे के शेर नहीं अपनाये गये। इस उपन्यास में लेखक मुगल-कालीन समृद्धि और ऐश्वर्य का खुलकर वर्णन कर रहा है; वर्णनों में उसकी विशेष रुचि है। लगता ऐसा है कि पिछले उपन्यासों में मुसलमानों का जो अरुचिकर चित्रण था उसकी प्रतिक्रिया इस रचना में हुई है और लेखक ने रहस्योद्‌घाटन का स्थान ऐश्वर्य और तिलिस्म को दे दिया। जो लोग तिलिस्म को ख्याली उछल-कूद समझते हैं उनको समझाते हुए गोस्वामी जी ने 'सुलताना रजिया बेगम या रंगमहल में हलाहल' उपन्यास में तिलिस्म की अप्रत्यक्ष तुलना[2] योग से की थी; इस उपन्यास में वे तिलिस्म के महत्व पर फिर जोर देते हैं; 'तिलिस्म की कुल बातें, जो कुछ कि किताबों में लिखी जा चुकी हैं, सही वो दुरुस्त हैं और वे हिकमत की कारीगरी से हर्गिज खाली नहीं है'[3]।

'पन्नाबाई' उपन्यास का कथानक अकबर के राज्यकाल का है। अकबर के खास जौहरी हीराचन्द के कोई संतान न थी, उन्होंने अपने मित्र के पुत्र मानिक को अपने पास रख लिया, वे मानिक को दत्तक पुत्र बनाना चाहते हैं। देवयोग से उनके एक कन्या का जन्म हुआ। 'लड़की के हो जाने से उन दोनों स्त्री-पुरुषों का विचार बदल गया और उन दोनों ने मानिकचन्द को दत्तक पुत्र न बना कर यही निश्चय किया कि स्यानी होने पर इसी लड़की के साथ मानिकचन्द का ब्याह कर दिया जायगा'[4]। पन्ना अपूर्व सुन्दरी थी, 'यहां तक कि खुद अकबर ने भी पन्ना की तस्वीर बनवा कर अपने यहाँ लटका रखी थी,[5] हीराचन्द को मानिक के विरुद्ध कुछ लोगों को भड़काया; 'अपने एक पालतू और कंगाल लड़के के हाथ' 'अपनी दौलत और अपनी लड़की तक दे डालने'[6] के विरुद्ध कर दिया। हीराचन्द ने मानिकचन्द को घर से निकाल दिया। मानिक बड़ा सच्चरित्र, सच्चा और बहादुर था। उसके गुणों पर रीझ कर लाड़िलीप्रसाद उसका सहायक बन गया। एक दिन बादशाह अकबर फकीर के वेष में घूम रहा था, मानिक ने उसे अपनी सबसे कीमती वस्तु—प्रेयसी की अंगूठी—तक दे डाली। अकबर बहुत प्रसन्न हुआ, और उसने पन्ना और मानिक का विवाह करा दिया)। इस प्रकार दो बिछुड़े हुए प्रेमी सदा के लिए एक हो गए। यद्यपि उपन्यास नायिका-प्रधान है, परन्तु नायक का चरित्र नायिका से भी उच्च चित्रित किया गया है; वह प्रेम, कर्त्तव्य एवं धर्म में दृढ़ है, हीराचन्द की किसी बात का बुरा नहीं मानता, उसका दिल आईने की

१. जैसे पृ० ३५२ पर : 'याद आती है, किशोरीलाल उस शब की सनम' आदि।
२. दे० पृ० २८७
३. प्रथम भाग, पृ० ११५
४. प्रथम भाग, पृ० ३
५. प्रथम भाग, पृ० ६३
६. वही, पृ० १८

तरह पाक और साफ है और उसके अन्दर उतनी ही जगह है जितनी जगह में सिर्फ[1] पन्ना समा सकती है। भाग्य ने उसका साथ दिया जिसमे वह हीराचन्द के घर रहा, उसका जामाता बना और लाडिलीप्रसाद तथा अकबर की उस पर कृपा रही। उसका जीवन सुख-दुःख की छाया का प्रत्यक्ष उदाहरण है अथवा यह कह सकते हैं कि जो दिल का साफ और तबियत का नेक है उसकी सहायता ईश्वर भी करता है।

'पन्नाबाई' उपन्यास की कहानी मध्ययुगीन लोक-कहानियो के रूप मे वर्णित है। रूप और गुण का अपूर्वयोग, प्रेम का भाग्य को हिला देने वाला परिपाक, संयोग की अद्‌भुत करामात, कगाल से अमीर और अमीर से खाक में मिलने की घटना, सर्वस्व दान, दोस्ती का अनुकरणीय आदर्श यहां देखने योग्य है। आधुनिक दृष्टि से कथा में संघर्ष और समस्याए नही है। तुलना द्वारा चरित्र की महत्ता यहा प्रतिपादित नही की गई। इस उपन्यास में तिलिस्म का एक नया रूप मिलता है। 'उस कमरे मे कही पर राग-रागनियो की; कही पर 'कोक' के वाहियात और फोश आसनो की; कही पर नायिका भेद की नायिकाओं की, कही पर चीन, रूम, ईरान, तुर्किस्तान, यूनान और कोहकाफ की परियो की···'[2] सुन्दर तस्वीरे बनी हुई थीं। ये तिलिस्म बादशाहो के खास खजाने थे, जिनमे वे अपनी सबसे कीमती वस्तुए संचित रखते थे;' ऐसे तिलिस्मी कारखानो के भेद को लोग अकसर अपनी जोरू या बेटो पर भी तब तक कभी जाहिर नही करते जब तक कि उसके जाहिर करने की जरूरत न समझी जाए'[3]।

लेखक ने जबर्दस्ती से अकबर के दरबार में पडितराज जगन्नाथ को दिखा दिया है और बादशाह से उनको बहुत-सा धन और 'नवनीत-कोमलांगी' यवनी फीरोज़ा को इनाम में दिलवा दिया है। वह शायद यह दिखाना चाहता है कि ऐशो-आराम की जिन्दगी ने हिन्दू-मुस्लिम का भेद मिटा दिया और अकबर के समान उसके मनचले दरबारी भी प्रेयसी को चुनते समय हिन्दू-मुस्लिम का भेद नही करते थे। इस इतिहास-विरुद्ध घटना के लिए उसने जो तर्क दिया है उसमें तनिक भी शक्ति नही; 'जबकि कालिदास नाम के कई कवि भिन्न-भिन्न समयो में हुए माने जाते है तो पंडित-राज जगन्नाथ भी यदि दो मान लिए जाय तो क्या हर्ज है'[4]। उपन्यास मे एक ओर तो अकबर के ऐश्वर्य एवं सद्‌गुणो की चर्चा है दूसरी ओर उसका 'मीना-बाजार' वाला रूप भी दिखलाया गया है। 'अकबर की इस बदमाशी' का पूरा वर्णन सम्मुख रखने के लिए पाठको से 'प्रताप' नाटक पढने की सिफारिश की है। एक मुख्य पात्र के शब्दों में यह बादशाह ज़ाहिरा मे जितना धर्मात्मा और वेदान्ती बनता है अन्दर ही अन्दर यह उतना ही ऐयाश और नफ्स-परस्त है'[5]।

१. वही, पृ० ३८
२. वही, पृ० १२१
३. प्रथम भाग, पृ० २७०
४. द्वितीय भाग, पृ० ३५३
५. प्रथम भाग, पृ० १५५

वस्तुतः यह रचना 'आस्मानी गर्दिश' का 'अनूठा किस्सा' है। इसको ऐतिहासिक मानना आसान नही। इसका शरीर ऐतिहासिक है, रक्त और मांस नहीं। लेखक दिलचस्पी मे बह गया है, साहित्यिक गम्भीरता की ओर नही गया। भाषा सरल है, कथोपकथन कम है। सामाजिक समस्याएं कम हैं। विलास का चित्र ऐसा नही जिसके कुपरिणाम को पढ कर मन स्वस्थ बने। नायक-नायिका सुन्दर है परन्तु उनके प्रति मन मे श्रद्धा नही जगती। ऐतिहासिक प्रतिपादन केवल जोधाबाई का है, 'जोधाबाई बेगम के नाम से मशहूर है, वह दरअसल जोधपुर के राजघराने की लडकी नही है बल्कि काश्मीर से खरीदी हुई एक ऊँचे लेकिन तबाह घराने की लडकी है···'[1] कट्टर सनातन धर्मी होते हुए भी किशोरीलाल जी आर्य-समाज के शुद्धि-आन्दोलन से सहमत दिखलाई पडते है : '···भला यह भी कोई बात है कि मुसलमान तो हिन्दुओ को मुसलमान बना ले, लेकिन हिन्दू भाई मुसलमानों को हिन्दू बनाना तो दूर रहा, अपने उन भाइयो को भी हिन्दू न बनावे, जो जबरन मुसलमान बना लिए गये हो'[2]।

गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह

नवाबी अमल से सम्बद्ध बगाली केन्द्र का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह' सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह १५ परिच्छेदो और ४१ पृष्ठों का एक छोटा-सा उपन्यास है। इसमें बगाल के अन्तिम नवाब मीरकासिम की पुत्री 'गुल' और पुत्र 'बहार' के करुण अन्त का वर्णन है। कथानक का विस्तार लगभग १५ वर्ष का है; परन्तु पहिले दो परिच्छेदो में सिराजुद्दौला, मीरजाफर और मीरकासिम तथा उसकी पत्नी मैना बेगम का वर्णन है; फिर पृष्ठ ६ से १४ वर्ष बाद की कहानी प्रारम्भ होती है—यही उपन्यास का मुख्य वर्ण्य भी है। उपन्यास में दो ही पात्र हैं—एक साथ पैदा होने वाले भाई-बहिन; लेखक ने बालक बहार को इस छोटे से 'उपन्यास का नायक'[3] और भोली गुल को 'छोटे से उपन्यास में लिखी हुई घटना की नायिका'[4] माना है। यदि मीरकासिम 'अंग्रेजों से मिल कर चलता तो अकाल ही में कालकवलित न होता और गुल तथा बहार की भी अकाल मृत्यु न होती'[5], परन्तु 'मीरजाफर खा की लड़की और मीरकासिम की प्यारी बीबी मैना बेगम'[6] के अन्तिम श्वास लेते-लेते मीरकासिम ने अग्रेजो से सन् १७६३-४ मे अन्तिम लडाई लड़ी जिसके बाद 'किसी ने बगाल मे मीरकासिम का मुख न देखा'[7]। मदोन्मत्त अंग्रेजो के हाथ से मासूम

---

१. वही, पृ० १४०
२. वही, पृ० १४३
३. पृ० २४
४. पृ० ३१
५. पृ० ३
६. पृ० ४
७. पृ० ८

बच्चे 'गुल' और 'बहार' भी सदा के लिए संसार से उठ गये। क्लाइव के ऊपर इस करुण दृश्य का बड़ा असर हुआ, उसने अपनी डायरी में[1] इस करुण प्रसंग को अंकित किया है। मुंगेर में आज भी उनकी कब्र बनी हुई है जिसको शुक्रवार को मुसलमान लोग फूलों से सजाते हैं। इस घटना के बाद क्लाइब को अपने देश से चिट्ठी मिली जिसमें उसके 'लड़के और लड़की के मरने की खबर थी'[2]।

उपन्यास का कथानक इतना छोटा है कि इसके आधार पर केवल एक करुण कहानीलिखी जा सकती है। मीरकासिम के दिनों का फेर, उसकी बेगम की शोकावसायिनी मृत्यु, नवाब और उसकी दोनों सन्तानों का एक दूसरे के लिए तड़पना, नाव में जाते हुए बहार का भ्रमवश या वस्तुतः सुरंग के मुहाने पर मीरकासिम को देखकर नाविक को किश्ती उधर ले जाने को कहना परन्तु नाविक का न मानना, गुल का शोक, मीरकासिम का छिपकर अपनी सन्तान को खोजना परन्तु उनकी कब्र को देखकर आत्महत्या कर लेना आदि प्रसंग इतने द्रावक हैं कि लेखक को अन्त में 'ओ३म् शान्ति' लिखकर पाठकों को धैर्य बंधाना पड़ा है। इस कथानक की मुख्य प्रेरणा मुंगेर की कब्र और क्लाइव की डायरी है। साथ ही इतिहास एव जनश्रुति के मिश्रण से भी कुछ प्रसंग आये हैं, जैसे 'धीरे-धीरे जब डोंगी बीच धारा से आगे बढ़ी, तब बहार ने देखा कि मीरकासिम सुरंग के मुहाने से बाहर निकल कर खडा है। यह देख उसने माझी से किश्ती किनारे पर ले चलने के लिए बहुत कहा, पर उसने एक न मानी'[3]; 'कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि गुल के मरने की खबर सुनकर मीरकासिम फिर लौट आया था और अपने दोनों बच्चों के भयानक परिणाम को देखकर उसने अपने तई आप मार डाला था[4]। लेखक ने कर्मफल में विश्वास दिखाते हुए क्लाइव के पुत्र-पुत्री की मृत्यु दिखाकर उपन्यास के अन्त को और भी द्रावक बना दिया है। सर्वत्र सर्वशक्तिमान् काल की महिमा का चित्रण है—यही रचना के मुखपृष्ठ पर अंकित भी था।

यह उपन्यास अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों से केवल आकार और मार्मिकता मे ही भिन्न नहीं, भाषा, शैली, वर्णन आदि में भी कुछ अलग है। यद्यपि नायिका-प्रधान है, परन्तु वह युवती नही बालिका है, उसकी एक ही विशेषता है—भ्रातृस्नेह। विलास, वैभव, दांव-पेंच आदि की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। करुणा का प्राधान्य होने से कही सस्तापन नहीं आ पाया, भाषा साफ-सुथरी, वर्णन संयत हैं। यदि उपन्यास में रस को स्थान मिलना चाहिए तो वह यहां अवश्य मिल सकता है। बीच मे जितने उद्धरण आये हैं वे ज्ञान-ध्यान के हैं, शृङ्गार आदि के नहीं। ऐसा लगता है कि लेखक जीवन के चलते चित्र खीचने में आम बोलचाल की उर्दू-हिन्दी का उपयोग ठीक सम-

---

१. पृ० ३०
२. पृ० ४१
३. पृ० १३
४. पृ० ३२

झता था, परन्तु शोक आदि मार्मिक भावों के लिए वह संस्कृतनिष्ठ भाषा को छोड़ न सका। उस 'हृदय-द्रावक वृतान्त को ऐसे करुण-व्यंजक शब्दों में[1] लिखकर लेखक ने 'हृदय की सच्ची वेदना' का परिचय दिया। मीरकासिम आदि के व्यक्तित्व को भूलकर पाठक रसमग्न हो जाता है, यही काव्य की विशेषता है। कथानक को जिस प्रकार लिया गया है उस रूप में यह सिनेमा की कहानी बनने के योग्य है; पहले दो परिच्छेद पृष्ठभूमि का दृश्य तैयार कर देते हैं; फिर पृष्ठ ६ पर उपन्यासकार ने लिखा है 'चौदह वर्ष बीत गये', इस दृश्य में बेगम की मृत्यु, फिर मीरकासिम का पलायन, फिर बहार की मृत्यु, तब गुल का अन्त, अनन्तर मीरकासिम की आत्महत्या, अन्त में क्लाइव को पत्र मिलना, मुंगेर की कब्र के साथ समाप्ति।

लखनऊ की कब्र वा शाहीमहलसरा

हमारे देश के इतिहास में किसी भी प्रदेश का भाग्य उतनी टक्करें नहीं खाता रहा जितना कि उस प्रदेश का जिसको 'अवध' कहा जाता है। रामायण-काल की 'अयोध्या' और बौद्धकाल की 'साकेत' राजधानियों पर होकर इतिहास हिन्दू-काल के कान्य-कुब्ज राज्य पर आ जाता है, जब 'अवध' कान्यकुब्ज या कन्नौज का एक भाग था। १२वीं शती के अन्तिम दिनो में मुसलमानों ने अवध पर अधिकार कर इसे कन्नौज से अलग कर लिया, तब से यह दिल्ली सल्तनत के अधीन बन गया। मुहम्मदशाह के शासन मे सत्तारूढ होने वाला खुरासान का एक सौदागर सादतखां सन् १७३२ ई० के लगभग अवध का शासक बना; जब नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया तो सादतखां ने दिल्ली से दगाबाज़ी की और 'नवाब वजीर' का खिताब लेकर वह स्वतन्त्र शासक बन गया।[2] दिल्ली और बंगाल की उथल-पुथल से अवध का महत्व और भी बढ़ गया, और लखनऊ के नवाब ऐशोआराम का निर्द्वन्द्व जीवन बिताने लगे। बंगाल का नवाब मीरकासिम जब भागकर लखनऊ की शरण में आया तो अवध फिर राजनीति के दांव-पेंच का केन्द्र बना। सन् १७६५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल की दीवानी मिलने के बाद अवध भी कम्पनी का मुखापेक्षी बन गया। अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे अवध एक ओर विलास-वैभव और दूसरी ओर राजनीतिक दमन का मुख्य स्थल था। वाजिदअली शाह का विलास और अवध की बेगमो की दुर्दशा इतिहास में सदा अंकित रहने वाली घटनाएं है। आज भी लखनऊ की तहजीब, नजाकत ऐयाशी, दरियादिली और हुनरपरस्ती हिन्दुस्तान भर में अपनी सानी नही रखतीं। जो लखनऊ धनसम्पत्ति, शक्ति और ऐश्वर्य मे बंगाल और दिल्ली से भी बहुत आगे बढ़ गया था उसके बादशाह ऐयाश निकले। 'बादशाह वजीर वा अमीर उमरा तो नज़र

---

१. पृ० २७

२. सर विलियम ली-वार्नर : दि लाइफ आफ दि मार्क्विस आफ डलहौज़ी, २, (दि अनेक्सैशन ऑफ अवध, पृ० ३०२-३)

पडने पर किसी औरत को भी, अगर वह उनके काबू में आ सके, हर्गिज़ नहीं छोड़ते और उसकी जात-पांत का मुतलक ख्याल न कर उसे अपनी बीबी बना लेते'[1] थे। इन 'ऐयाश बादशाहों के महलो में खूबसूरत औरतों का बड़ा रुतबा होता था और वे औरतें अपनी खूबसूरती के वाइस बडी शानोशौकत के साथ महल में रहती थी'[2]। 'खूबसूरती, नजाकत, नमकीनी, दिल्लगी, मज़ाक का शऊर, गुफ्तगू की लियाकत, कुछ इल्मी ताकत, गाने बजाने, नाचने के चौसर शतरंज वगैरह का जानना और नाजनखरे वगैरह मददगार जिस नाजनी के पास होते, बादशाही दिल पर वही फतह पा सकती थी···'[3]। 'लखनऊ का शाही महल इस किस्म की खूबसूरत नाजनियो का गोया नुमाइशगाह था। वहां पर एक से एक बढकर खूब-सूरत नाज़नियां रहती थी और अपने हुस्न वा चालाकी के सबब बादशाह के दिल को अपनी मुट्ठी मे लिए रहती थीं···'[4]। इन्ही नाजनियो ने लखनऊ की कब्र खोद दी और शाहीमहल मानों एक कब्रिस्तान बन गया।

'लखनऊ की कब्र वा शाहीमहलसरा' उपन्यास मे लेखक ने उसी विलासी राज-महल का वर्णन किया है। यह उपन्यास कई भागों में समय-समय पर छपता रहा। 'उपन्यास' मासिक पत्रिका मे इसका छपना प्रारम्भ हो गया, और यथाअवसर प्रकाशित करते हुए लेखक ने सन् १९१७ मे इसके ७ भाग पाठको को दिये। लगभग १५ वर्ष के समय में ७ भागों का छपना, इस बात का सूचक है कि जब कोई और उपन्यास तैयार नहीं होता था तब लेखक इसको छाप देता था। ध्यान आकृष्ट करने की मुख्य विशेषता यह है कि प्रत्येक भाग की कथा इतनी स्वतन्त्र है कि एक भाग को ही पढने वाला उपन्यास को अपूर्ण नही समझता, अन्त में यूसुफ और आसमानी दो पात्रों द्वारा प्रत्येक भाग जुड जाता है—बिजली के दो तारो के समान ये दोनो अभागे पात्र उसकी पीठ को छूकर 'कब्र' की कथा की रोशनी से चमकाते हुए, अन्तिम भाग में पहुँच कर सर्किट पूरा कर लेते हैं। 'चहार दर्वेश' के किस्से का इस उपन्यास पर आवश्यकता से अधिक प्रभाव है, कई बार इस किस्से की चर्चा आई है, 'गुलिस्ताने ख्याल', 'अलिफ लैला' आदि का भी इसके वर्णनों में योगदान है। यह 'उपन्यास' नही है, इसको 'किस्सा'[5] ही कहना चाहिए, स्थान-स्थान पर 'किस्सा कोताह' लिखने से छिपी हुई बात प्रकट भी

---

१. तीसरा भाग, पृ० ११
२. चौथा भाग, पृ० २८
३. वही, पृ० ३०
४. वही, पृ० २८
५. 'बगैर अपना किस्सा सुनाए, न तो तुम्हें ही चैन पड़ेगा और न मेरे ही दिल को तस्कीन होगी'। (पांचवां हिस्सा, पृ० ५)
'यह नसीरुद्दीन हैदर मेरे इस किस्से का चिराग है।' (छठा हिस्सा, पृ० २)
'जब मैं लिखने ही बैठी हूँ तो अपना किस्सा बिलकुल सही-सही ही लिखूंगी'। (सातवां हिस्सा पृ० ५)

हो गई है। लेखक की दृष्टि में यह किस्सा 'आशिकी-माशूकी' का बयान[1] है; इसके पाठक वे लोग कल्पित किये गये है जिन्होने 'फारसी और उर्दू के मशहूर मशहूर शायरों की दीवानें जरूर ही देख डाली होंगी'[2]; इनको स्थान-स्थान पर 'मेहरबान नाजरीन' कह कर सम्बोधित किया गया है। उपन्यास की भाषा उर्दू-हिन्दी है, शैली किस्से की है, पाठक उर्दू-फारसी पढे लोग हैं, वातावरण मुस्लिम है, पात्र मुसलमान है। अन्य उपन्यासों से तुलना करने पर इसकी पहिली विलक्षणता भाषा है, दूसरी पात्र एव वातावरण। इसके भागो को 'हिस्सा', और परिच्छेदों को 'बयान' कहा गया है। नीति-विषयक सूक्तियां नही है, आशिकी-माशूकी के शेर बहुत अधिक है। 'उपन्यास' की कसौटी पर कसकर इसे हम असफल पाते हैं; लगता है कि यह साहित्य नही था, अखबार चलाने के लिए भरती थी। सातवे हिस्से में इस रचना के उद्देश्य पर कुछ प्रकाश पडता है :—

(क) यह मेरी जिन्दगी का सच्चा खाका है—जो पढने वालो और पढ़ने-वालियों को शायद अच्छी ही नसीहत देगा।

(ख) यह नई उम्र कैसी खतरनाक होती है, जवानी का जोश कैसा जहरीला होता है, और नातजुर्बेकारी कैसी बुरी बला होती है···।

(ग) नाममझी का काम अखीर में क्या इनाम देता है और शोहदो की बहका-वट अखीर मे कैसा रंग लाती है···।

इस 'कन्न' मे ये गुण अरबी कहानियो के प्रभाव मे आये है। वस्तुत सारे किस्से की केन्द्र-शक्ति 'तकदीर की जंजीर'[3] है, ···वगैर तकदीर के एक तिनका भी अपनी जगह से नही हट सकता, इस तकदीर को 'खुदाबन्द करीम की मनशा' समझना चाहिए। तकदीर की ठोकरे खाने वाले युसुफ, आसमानी, दुलारी, (मलका जमानी), मुश्तरी आदि जिन्दगी भर खुराफात करते रहते हैं। सबसे खतरनाक आसमानी है, जिसने बेगमो के रहस्यो को जान कर उनको डरा-डरा कर अपने कब्जे मे कर रखा है। पाच रुपये में जान लेने के फैसले होते हैं[4], 'अपनी बहिन बेटियो से कसब'[5] कराया जाता है, सारी जिन्दगी 'भटयारे की सरा', दिल्ली के चावडी ब जार या दूसरे अड्डो पर काट दी जाती है, दूर-दूर से 'निहायत हसीन और कमसिन नाजनी' बेची और खरीदी जाती हैं। सारा वातावरण पैशाचिक और हब्शी आदतो से भरा हुआ है। परन्तु विलास के नग्न चित्र उपन्यास मे नही है, उनका सकेत कर दिया गया है वर्णन नही, वर्णन तो हथकडों, अत्याचारो, छिपे खजानो, स्त्रियो की खरीद-फरोख्त तिलिस्म और सुरगो-गुफाओ के है। यह सोचना कि 'दुनियां की सभी औरते खराब होती है, महज गलत और वाहियात

---

१. सातवां हिस्सा, पृ० ३८
२. वही, वही
३. चौथा हिस्सा, पृ० ६
४. पांचवां हिस्सा, पृ० ५८
५. वही पृ० ५५

है'[1] परन्तु जो नीच होते हैं उनके 'पैदाइशी खून के ऐब—दिन ब दिन ज़ाहिर होने—(लगते हैं) और (उनकी) बदतमीज़ी, बदज़ुबानी, बदइखलाकी और बदमाशी से सभी की नाकों दम आ'[2] जाता है, और 'कच्ची उम्र के लड़कों या लडकियों को बदजात लौडी या गुलाम'[3] बिलकुल खराब कर डालते है।

इस किस्से को ऐतिहासिक मानने में संकोच होगा। इसमे कई स्थलो पर सन् और तारीख का पूरा विवरण है, सन् १८२६ ई० में बादशाह गाजिउदीन हैदर के इकलौते लड़के नसीरुदीन हैदर की दुलारी के साथ शादी, उसकी अयोग्यता, ऐयाशी तथा पांच विलायती मुसाहबो का उसको अपने कब्जे में कर लेना,[4] पोशीदा खजाने के लिए हज़ारों मकानात का ढाह देना आदि घटनाएं ऐतिहासिक हैं फिर भी जिन रहस्यों का इस किस्से में उद्घाटन है वे इतिहास में कोई विशेष महत्व नही रखते। साथ ही लेखक की रुचि वर्णन में और किस्सों में इतनी अधिक है कि वह पाठक पर इतिहास का कोई प्रभाव नही डाल पाता। यह सन्देहास्पद ही है कि इस किस्से से पाठक को नसीहत मिलती है या नहीं, क्योकि ये रहस्य जीवन के साधारण रहस्य नहीं हैं, इसीलिए ये आधुनिक उपन्यास के लिए उपयुक्त भी नही है ; किस्से दिलचस्प हैं परन्तु साहित्यिक एवं समयानुकूल नही, इन से गोस्वामी जी की कीर्ति मे कोई वृद्धि नही होती।

कनककुसुम वा मस्तानी

(अर्थात् बाजीराव पेशवा और मस्तानी की कहानी)

बंगभाषा के 'साहित्य' नामक मासिक पत्र में श्रीयुत सखाराम गणेश देउस्कर ने 'बाजीराव और मस्तानी' शीर्षक एक तीन पृष्ठ का छोटा-सा लेख लिखा था, जिस का अवलम्बन लेकर किशोरीलाल गोस्वामी ने ६ परिच्छेद और ५४ पृष्ठ का यह उपन्यास लिखा है। दक्षिण भारत के घटना-स्थल को आधार मान कर लिखा हुआ उनका यही एक मात्र ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमे महाराष्ट्र वीर बाजीराव पेशवा और निजाम की भोग्या की पूर्वपुत्री मस्तानी के प्रेम का सुखान्त वर्णन है। रहस्यमय होने से इस प्रेम का महत्व है, परन्तु मस्तानी के गुणों के कारण वह और भी मूल्यवान बन जाता है।

सन् १७२१ ई० में पेशवा बालाजी विश्वनाथ के मरने पर उनके बडे लड़के बाजीराव, पेशवा की गद्दी पर बैठाये गये। उन्होंने अपनी कूटनीति के बल से निजाम जैसे प्रबल वैरी के भी दात खट्टे कर दिए। एक बार युद्ध में बाजीराव घायल हुए, उस समय उसमान नामक व्यक्ति ने उनकी बडी सेवा की। पृ० ८ पर बताया गया है कि एक जवान सवार बाजीराव के घायल शरीर को ले गया। पृ० ३४ पर उसको खूब-

१. छठा हिस्सा, पृ० ८२
२. वही, पृ० २३
३. सातवां हिस्सा, पृ० १२
४. छठा हिस्सा, पृ० ७

सूरत नौजवान कहा है। उसकी आवाज मीठी और सुरीली बताई गई है। अन्त में उसमान की हकीकत मालूम हो जाती है। 'मेरी लिबास मर्दानः है मगर फिल हकीकत मैं औरत हूं।···मेरी वाल्दः पर जो कि निहायत ही हसीन और बेनज़ीर औरत हैं, निजाम की बद निगाह पडी इसलिए उसने किसी ढब से मेरे वालिद को मार मेरी वाल्दः को अपने हरम मे दाखिल किया। एक रोज मैंने अपनी वाल्दः से इस अम्र में बातचीत की तो उन्होने मुझे इस बात की सख्त कसम दे दी कि मैं निजाम की जान पर किसी तरह का सदमा न पहुचाऊं। ···मेरा नाम मस्तानी है और मेरे पाक-दामन में अभी तक किसी शख्स ने उंगली नही लगाई है।'[1] सब को यवनबाला के रूप और गुण पर बड़ा आश्चर्य हुआ और रानी काशीबाई के आग्रह से बाजीराव का मस्तानी के साथ विवाह हो गया। 'कनककुसुम' सप्तम परिच्छेद का शीर्षक है, प्रसन्न हो कर अपना बनाते हुए बाजीराव ने सेवक उसमान की भुजा पर यह बांध दिया था।

इस उपन्यास मे कल्पना कम है, ऐतिहासिकता अधिक। भाषा स्वच्छ है, कथोपकथन कम है, वर्णन सुन्दर हैं; व्यर्थ की कविताए या उद्धरण नही रखे गए। इस उपन्यास का कथानक भी कहानी के लिए अधिक उपयुक्त है। मस्तानी का छद्मवेष पाठक की उत्सुकता को जगाता है, अन्त का रहस्योद्घाटन उसे आश्चर्य में डुबा देता है। महलो या विलास-वैभव आदि का वर्णन लेखक को अभीष्ट नही है। उसने एक सीधी-सादी प्रेम कहानी लिख दी है।

मस्तानी उपन्यास की नायिका है, उसका चरित्र सबसे स्पष्ट एव प्रभावशाली है। अभागे बाप और खूबसूरत मा की यह पुत्री अपने ही बल पर रोमान्स पर तुल जाती है। एक सौदागर से उसने बाजीराव की एक तस्वीर खरीदी और उसे देखते ही हज़ार जान से उस पर आशिक हो गई। उसने एक ओर अपने एकनिष्ठ चरित्र को रक्षा की, दूसरी ओर अपने मनोबल एव बुद्धिबल को सकलित किया। सावित्री के समान, माता-पिता के सहमत न होने पर भी, जिसको मस्तानी ने अपना पति कुमारावस्था मे ही मान लिया था, उसी बाजीराव को पाने के लिए उसने पुरुषोचित साहस से काम लिया, और अपने प्रेम, साहस, चरित्र, सेवा एव निष्ठा के बल पर अपने वर को प्राप्त कर सकी। तीन स्त्री-पात्रो रानी काशीबाई, मस्तानी, और मस्तानी की मा मे से मस्तानी सर्वोज्ज्वल है, रानी का चरित्र-वर्णन अभीष्ट न था, वे उदार बन कर अपने पति को मस्तानी के साथ विवाह करने की अनुमति देती हुई देखी जाती है, मस्तानी और उसकी मा मे बडा अन्तर है, मा अपने पति को भूल कर निजाम की भोग्या बनी रही, 'शायद अपने शौहर को दिल से भुलाकर निजाम पर मेहरबान हो गई'[3], परन्तु बेटी ने जिसको अपना पति एक बार मन से मान लिया उसी को उप स्य मान कर प्राप्त करने में सफल हुई, मां पर निजाम की कुदृष्टि पड़ी और वह हरम में

१. पृ० ४८ तथा ४९
२. पृ० ४९
३. पृ० ४८

दाखिल हो गई; बेटी पर भी न जाने कितने लोगों की कुदृष्टि पड़ी होगी परन्तु उसका पाकदामन अछूता था। जो व्यक्ति दृढ और एकनिष्ठ होता है उसकी बाधाएं भी, परीक्षा लेकर, अनुचरी बन जाती हैं।

इस उपन्यास में युद्धभूमि तथा वनभूमि के चित्र है परन्तु तिलिस्म तोड़ने में लेखक ने समय नष्ट नहीं किया। वह निजाम का विलासी जीवन भी चित्रित कर सकता था, परन्तु उसकी आवश्यकता न समझी गई। मस्तानी के रूप में एक आदर्श भारतीय नारी का चित्रण लेखक का अभीष्ट है; और हिन्दू-मुसलिम एकता का इसमें हल्का-सा प्रयत्न है, भले ही वह आर्यसमाजी शुद्धि-आन्दोलन से प्रभावित हो। ऐतिहासिक उपन्यासों में यह सबसे कौतूहल-वर्द्धक है; शैली की दृष्टि से साहित्यिक और प्रौढ है।

मथुराप्रसाद शर्मा के उपन्यास

नूरजहां बेगम व जहांगीर

प० मथुराप्रसाद ने इस युग मे 'सच्चे इतिहास' का चित्रण करने के लिए उपन्यास के क्षेत्र मे कदम रखा। सन् १९०५ ई० मे रचित इन की 'नूरजहा बेगम व जहागीर'[1] एक ऐतिहासिक घटना की किताब है। इसमे अकबर के प्रिय पुत्र जहाँगीर और उस की प्यारी बेगम नूरजहा का हाल, प्रेम का होना इत्यादि का आद्योपान्त वृत्तान्त लिखा गया है। इसके पढने से उस जमाने की तथा जहागीर और नूरजहा की प्रेमादिक की बाते आँखो तले घूम जाती हैं'[2]। मुखपृष्ठ पर लेखक ने इस रचना को 'उपन्यास बतलाया है।

प्रस्तुत पुस्तक के दो भाग है, फिर भी यह ७२ पृष्ठो मे पूरी हो जाती है। प्रथम भाग मे नूरजहा की कहानी उसके माता पिता के जीवन से प्रारम्भ हो कर मुख्य कथा की पूर्वपीठिका तैयार करती है। द्वितीय भाग मे जहागीर की कहानी है, उसका और उसकी बेगम का जीवन अकित किया गया है। भारत के इस्लामी इतिहास मे नूरजहा स्वय एक भावुक केन्द्र बनी हुई है। उसके जीवन की चार परिस्थितिया बड़ी मनोरम है—उसका जन्म, उसका प्रेम, उसका विवाह, और उसका विलास। परित्यक्ता होकर भी बालिका मेहर अपने माता-पिता को फिर मिल गई—यह सयोग ही तो है। उसका प्रेम जिस भोलेपन मे प्रारम्भ हुआ था, वह कबूतर वाली घटना अपनी स्वाभाविकता में ही रोमानी है। शेर अफगन के साथ मेहर का विवाह दुर्भाग्य या सन्तोष की गाथा है। अन्त मे अपने पति की मृत्यु के बाद वह सलीम की भोग्या बन कर आनन्द-विलास का जीवन बिताती है। यह सदा विवादग्रस्त रहेगा कि शेर अफगन की हत्या मे जहाँगीर का कितना हाथ था और उस हत्या का उद्देश्य क्या था इसके बाद अपने पति के हत्यारे के साथ मिलकर, उसकी प्रेयसी एवं भोग्या बनकर जिस

---

१ प्रकाशक—उपन्यास-बहार आफिस, राजघाट, काशी।

२. भूमिका से।

नूरजहाँ ने अमनचैन का जीवन बिताया उसका मन किस धातु का बना था—यह मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है, विशेषत उस परिस्थिति में जब कि पहले पति से उसके एक संतान भी थी। मुसलमान शासन में ऐसी घटनाए आश्चर्यजनक नही। किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा रचित 'कनककुसुम वा मस्तानी' उपन्यास[1] में नायिका मस्तानी की माता भी अपने पति के हत्यारे निजाम की भार्या बन गई थी, और उसी जीवन में सुखी रहने लगी थी। रजिया बेगम ने उस अल्तूनिया के साथ विवाह किया[2] जो उसके प्रेम-पात्र याकूब का कट्टर शत्रु एव नाशक था। अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद उस मलिक नायब से विधवा बेगम ने विवाह कर लिया जिसने अलाउद्दीन के तीनो लडकों की आँखे निकलवाई[3]। फिर भी नूरजहाँ का महत्व इसलिए है कि उसने चिरकाल तक बादशाह के हृदय पर ही नही हिन्दुस्तान पर भी अप्रत्यक्ष रूप से, शासन किया।

इस रचना मे इतिहास पर आवश्यकता से अधिक जोर है। कथा का विभाजन परिच्छेदो या प्रकरणो मे न करके लेखक बीच-बीच मे शीर्षक देता जाता है। और उन घटनाओ के सत्यासत्य पर विचार करता जाता है जो उस शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित है। फलत: वर्ण्य विषय पर उपलब्ध समस्त सामग्री की परीक्षा भी खण्डन-मण्डन-पूर्वक की गई है। लेखक तर्क पर तर्क देता है और सत्य की खोज का प्रयत्न करता है, 'प्रथम तर्क यह है—दूसरे यदि वह भी मान लिया जाय—तीसरे यह भी मान लिया जाय—चौथे यह बात बहुत ही विचार के योग्य है—यह सब बाते बनावटी झूठ है और जितने कारण इस विषय मे दिखाये गये है वे सब निर्मूल है'[4]।

अपने निष्कर्षो को प्रमाणित करते हुए लेखक के दूसरे इतिहास-लेखको तथा उपन्यास-लेखको की कडी आलोचना की है। 'तुजुक जहागीरी', एलफिस्टन रचित 'इतिहास-हिन्द', मिर्जा हैरत रचित 'सवानउमरी नूरजहा बेगम' के अतिरिक्त अनेक इतिहास-ग्रन्थो की सहायता लेकर 'जो ऊपर लिखा गया है वह कई एक निरपेक्ष इतिहास-लेखको के लेख का सार है'[5]। लेखक ने उन सभी विवरणो का खण्डन किया है जो 'अपनी मनगढित कल्पनाओं मे फैक्टस स्थापित करने के लिए' लिखे गये हैं। सबसे अधिक रोष उर्दू के एक उपन्यास पर है जिसके लेखक ने इतिहास के साथ बहुत स्वच्छन्द व्यवहार किया है। 'लाहौर में एक उपन्यास 'मेहरुन्निसा बेगम' के नाम से 'खादिम ए तालीम' प्रेस मे छपा है—उसके बनाने वाले मुशी अहमदहुसेन खा बी० ए० हैं, उन साहब ने स्वयं ही हिन्दुस्तान के सर वाल्टर स्काट बनने की चेष्टा की है, इस उपन्यास में कुछ अंश प्रोफेसर आजाद के उन विषयो का लिया है जो उन्होने सलीम

---

१. दे० पृ० २४७
२. दे० रजिया बेगम।
३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वौल्यूम ३, पृ० ११९
४. पृ० २७
५. पृ० १६

व नूरजहां के बारे में वर्णन किया है, पर मुशीजी ने चरित्रों को इस तरह उलटा-पलटा है और ऐसी-ऐसी कपोल-कल्पनाओं की जोड़जाड़ की है कि उसे पढ़ने से बुद्धि चकरा जाती है और भ्रम में पड़ना होता है—अपने को हिन्दुस्तान का सर वाल्टर स्काट विदित करने के लिए और केवल टके कमाने के लिए किस ऊटपटांग के साथ एक सच्चे इतिहास का रक्तपात किया[1]। इतिहास-प्रसिद्ध चरित्रों में तो 'उलटा-पलटा' न करना चाहिए, परन्तु 'सच्चे इतिहास' का लिखना उपन्यासकार के लिए आवश्यक नहीं' है। इसी प्रकार 'कहानियों के लिखने वाले होकर भी इतिहासवेत्ता बनने का चाव'[2] रखने वाले मिर्जा हैरत की भी कड़ी आलोचना स्थान-स्थान पर की गई है।

इतिहास के अतिरिक्त इस उपन्यास में लेखक की दृष्टि 'ईश्वर की अद्भुत लीला'[3] पर भी रही है जो 'प्रतिदिन रंक से राव' और विपुल सम्पत्तिशाली को पथ के भिखारी' बना देती है। मिर्जा गयास की जीवनी से लेखक ने पाठकों को सावधान किया है : 'यह संसारी सुख पानी के बुलबुले के समान है न पैदा होते देर और न नाश होते'[4]। जहांगीर के जीवन से शर्मा जी ने 'भोगविलास में पड़ रहने वाले विलासी पुरुषो को जगाया है कि वे मृत्यु का भय खाकर अच्छे-अच्छे काम करें। इस प्रकार इतिहास और उपदेश दोनों इस उपन्यास में हाथ में हाथ डाले दिखाई देते हैं।

लेखक की भाषा सरल है, मुसलमानी इतिहास होने पर भी फारसी का प्रभाव अधिक नहीं है। बीच-बीच में उर्दू के शेर भी हैं और ब्रजभाषा के दोहे भी। वर्णन एवं कथोपकथनों का अभाव है। लेखक मे कल्पना पर तर्क का प्राधान्य है। इसलिए वह सृजन नही कर सका, परीक्षा करता रहा है। 'नूरजहा बेगम व जहागीर' एक ऐतिहासिक प्रबन्ध है, सफल ऐतिहासिक उपन्यास नही। कहानी सुनाकर पाठकों को इतिहास का ज्ञान कराना और कुछ शिक्षाएं देना ही लेखक का अभीष्ट है, जिसमे सफल रहा है।

जयरामदास गुप्त के उपन्यास

नवाबी परिस्तान वा वाजिदअलीशाह

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त के उपन्यासो को पढकर[5] श्री जयरामदास गुप्त ने उपन्यास लिखना आरम्भ किया। उनकी रचनाओं मे से 'कश्मीर पतन', 'रोशनआरा' और 'नवाबी परिस्तान' ऐतिहासिक उपन्यास है। प्रस्तुत पुस्तक की प्रेरणा भी गंगाप्रसाद

---

१. पृ० १७
२. पृ० २३
३. पृ० ४
४. पृ० ५
५. भूमिका

गुप्त की 'बनाई हुई वाजिदअली शाह नामक किताब' है। साथ ही 'केसरुल तवारीख' 'हिस्ट्री आफ अवध', 'शब लखनऊ', 'मुश्ताक जौहरा', 'गार्ड आफ लखनऊ ट्रावेलर्स' आदि पुस्तकों से भी सहायता ली गई है। 'नवाबी परिस्तान वा वाजिदअलीशाह'[1] नामक उपन्यास में लेखक ने 'इस उपन्यास के प्रधान नायक, जगतप्रसिद्ध विषयी व विलासी, लखनऊ के अंतिम नवाब वाजिदअलीशाह'[2] के जीवन के कुछ दृश्य उपस्थित किये गये है। 'नवाव वाजिदअलीशाह की ऐयाशी, उनके जमाने का रोमांच खड़ा कर देने वाला वृत्तान्त, उनके कौतूहल-वर्द्धक गुप्तभेद, तथा उनके महल का रहस्य, बेगमों की उस्तादी उनकी चहेतिनों की भयानक लीला, लोमहर्षण दण्ड—उनके केसरबाग की सैर'—'आदि के चित्रण में लेखक स्वयं बह गया है। उपन्यास के दो भाग हैं; पहिले भाग में सवा सौ और दूसरे भाग मे पौने दो सौ पृष्ठ हैं। उपन्यास की प्रत्येक 'झलक' एक नवीन परिस्थिति का चित्रण करती है।

लखनऊ की बेगमें और विलासी नवाब इतिहास में अपना अलग महत्व रखते हैं। वाजिदअलीशाह के समय में विलास और वैभव का इतना आधिक्य था कि देश भर का धन और रूप वहा इकट्ठा हो गया। नवाब को परियों के बीच से शासन-प्रबन्ध देखने का तनिक भी अवकाश नही था। महल के अन्दर रूपवती नारियों के ईर्ष्याद्वेष और तज्जन्य षड्यन्त्र चलते रहते थे। निर्दयतापूर्वक हत्या, छल-प्रपंच द्वारा सतीत्व-नाश, रहस्यगोपन के लिए अमूल्य उपहार उस वातावरण में सामान्य बाते थी। लखनऊ का केसरबाग 'परिस्तान की टक्कर' का था। सवेरे से शाम तक नवाब का कार्यक्रम परियों की महफिल मे ही बीतता था। इसी वातावरण को लेकर किशोरीलाल गोस्वामी ने 'लखनऊ की कब्र' नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा है, जिसमे 'आस्मानी' नामक सुन्दरी का पैशाचिक जीवन रहस्य के रूप मे चित्रित किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में भी वैसा ही प्रयत्न है।

इन उपन्यासो की विशेषता यह है कि तथ्यो के अभाव मे वातावरण का चित्रण लेखको का अभीष्ट बन गया है। अतः जो लोग उस युग के जीवन की झांकी देखने के लिए इन उपन्यासो को पढते हैं उन्हें इनसे सन्तोष होता है। गोस्वामी जी की तुलना में गुप्तजी को सफलता कम मिली है क्योकि गोस्वामी जी अधिक कुशल कलाकार थे। परन्तु इस उपन्यास की भाषा सरल है, फारसी से अधिक प्रभावित नही; केसरबाग का वर्णन मनोरम है; कथानक सुगठित है, तिलस्मी रहस्य कुछ कम हैं। वर्णन और विवरण दोनो का कथानक में समान योग है। गोस्वामी जी की रचना के ही समान इस उपन्यास में रहस्य है, यथार्थ जीवन की झाकी कम, जो रहस्य लखनऊ के परिस्तान का है वह किसी भी 'हरमसरा' का हो सकता है।

प्रस्तुत उपन्यास में तीन नायिकाओ और दो मुख्य पुरुष-पात्रो का चित्रण है। नायिकाएं रोशनआरा, जहांनआरा और आसमानी है। 'सुन्दरी रोशनआरा के बाप-मां

१. काशी जगदेश्वर प्रेस में मुद्रित।
२. पृ० १७७, दूसरा भाग

दोनों मर चुके है और यहां पर केवल इसका एक भाई है जो इस जगह मौजूद है[1], उसका 'नाम हरमसरा के रजिस्टर में' लिखा जा रहा है। दूसरी नारी जहानआरा है जो 'नवाब वाजिदअलीशाह की चहेती'[2] भी है और 'बहादुर नवयुवा शमशेरसिह पर आशिक'[3] भी है। अस्मानी 'जैसे स्वरूप में सुन्दरी थी आचरण में वैसे ही राक्षसी',[4] लौंडियां 'नित्य अच्छे-अच्छे जवानो को आस्मानी की आज्ञानुसार पकड कर ले जाती थीं जिनसे वह अपनी दिली आरजू निकाला करती थी'[5]। इन जवानों में से किसी अभागे को फांसी दे दी जाती थी, किसी को कत्ल कर दिया जाता था, जिससे कि वह बाहर जा कर रहस्य प्रकट न करे। एक कोठरी मे चारों तरफ नीचे से ऊपर तक चुटीले और नुकीले लम्बे-लम्बे छड लगे हुए थे'[6] जिममें डाला हुआ युवक चिल्लाता था तो 'लौंडिया उसकी चीख की आवाज सुनने के साथ ही तेजी के साथ हंसने'[7] लगती थी जिससे आवाज बाहर न फैले। शमशेरसिह ऐसा ही एक अभागा युवक है परन्तु वह वीर है, वह इन पिशाचियो के फन्दे से बच जाता है। इसी प्रकार रोशनआरा ने अपना धर्म बचाने के लिए आत्महत्या की और 'अपनी सच्ची पाकदामिनी जो औरतों का अमूल्य रत्न है, दिखलाई'[8]। इस प्रकार रोशनआरा तथा शमशेरसिह इस उपन्यास के आदर्श पात्र हैं, मुसलमान लडकी को 'सती' सिद्ध करके लेखक ने उदारता का परिचय दिया है। 'उजाड जगहो मे, डाकुओं के भयानक अड्डो पर, जुएखाने इत्यादि मे चक्कर लगाने'[9] पर भी यह उपन्यास अधिक भयानक नही है। चित्रण की दृष्टि से भी यह उपन्यास सामान्य कोटि का ही है।

ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यास

लालचीन

सन् १३९७ ई० में दक्षिण देश का बादशाह मुहम्मद द्वितीय मर गया और उसका बडा लडका ग्यासुद्दीन गद्दी पर बैठा। वह सत्तरह वर्ष का हठी एवं विवेकहीन युवक था। तुर्की गुलामो का सरदार तुगलचीन गुलबर्ग का शासक और राज्य का प्रधान अधिकारी बनना चाहता था, परन्तु ग्यासुद्दीन ने उसको नियुक्त न किया, इस कारण तुगलचीन बादशाह का शत्रु बन गया। बदले की भावना से गुलाम ने अपनी पुत्री के साथ युवक बादशाह को फंसा कर अपनी मुट्ठी में कर लिया और अवसर पाकर उमकी आंखें निकाल डाली और उसके मुख्य सहायकों को धोखा देकर मार डाला। अब तुगलचीन ने उसके सौतेले भाई शममुद्दीन दाऊद को गद्दी पर बैठाया और स्वयं शासन करने लगा। इससे शाही खान्दान के लोग असन्तुष्ट हो गये, उन्होंने गुलाम और नये बादशाह के विरुद्ध सगठन किया और चालाकी से उन दोनों को कैद कर लिया। फीरोज

---

१. पहिला भाग, पृ० ३७ २. दूसरा भाग, पृ० ९४ ३. वही, पृ० ३०
४. वही, पृ० ९२ ५. वही, पृ० ९० ६. वही, पृ० १३३
७. वही, पृ० १३४ ८. वही, पृ० १५२ ९. वही, पृ० १६६

बादशाह बन गया। शमसुद्दीन की आखे निकाल कर उसे जेल मे डाल दिया गया। अन्धे ग्यासुद्दीन को कैद से निकाल कर उसके हाथ में तलवार दे दी गई जिससे वह तुगलचीन के टुकड़े-टुकड़े कर सके। इस प्रकार बीस अप्रैल से पन्द्रह नवम्बर तक सन् १३९७ ई० में आन्तरिक हलचल के उपरान्त ताजुद्दीन फीरोजशाह दक्षिण का बादशाह बना।[1]

इस घृणित एव रोचक कथा को श्री ब्रजनन्दन सहाय ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'लालचीन' (सन् १९१६ ई०) मे आधार बनाया है। गुलाम तुगलचीन ही उपन्यास का नायक लालचीन है। ग्यासुद्दीन और लालचीन मे जो अधिकार के लिए द्वन्द्व चला उसमें लालचीन ने चालाकी से काम लिया और अपनी पुत्री की सहायता से क्रूर एव निर्दय कर्म के द्वारा शाही घराने को तबाह कर दिया। उपन्यास में तीन पुरुष-पात्र मुख्य है, पुरुषो मे लालचीन, ग्यासुद्दीन तथा शम्सुद्दीन और नारियों में कलसुम तथा लुत्फुन्निसा के व्यक्तित्व ध्यान देने योग्य हैं। पुरुषो के नाम तथा गुण का समर्थन इतिहास से होता है।

लालचीन इस उपन्यास का नायक है। वह गुणशाली, योग्य परन्तु क्रूर है। उसे आशा थी कि उसे दासता से मुक्ति मिल जायगी। परन्तु ग्यासुद्दीन के व्यवहार ने उसकी 'आशा को निर्बल' कर दिया और तब 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, आदि एक-एक कर लालचीन के हृदय में अपना प्रभुत्व जमाने लगे।'[2] 'ग्यास के सर्वनाश का उसने दृढ संकल्प किया'।[3] उसने अपनी गृहिणी कलसुम से परामर्श किया तो 'पैशाचिक कर्म और विचारो मे उसकी पूरी प्रवृत्ति'[4] हो गई; 'सत्य तथा धर्म के मार्ग पर चल कर तुम अपने वाछित पद पर कदापि नही पहुँच सकते हो'।[5] कलसुम का मत था कि 'यदि अमृत देने से कोई मरे तो विष देने का क्या काम।...जिस प्रकार चारा देकर मीन को फंसाया जाता है और खेल खेला कर उसे मारा जाता है उसी प्रकार आप गयास को फासिये।'[6] अस्तु, अवसर पाकर एक दिन 'लालचीन ने तप्त सीकचो को गयास की दोनो आखो मे अपने हाथो मे गडा दिया'[7] और फिर 'सुलतान का नाम लेकर एक-एक कर प्रधान उमराओ को अपने यहा उनके घर से बुला कर उनका वध किया'[8]। लालचीन दुर्बल पात्र है, उसकी प्रेरणा-शक्ति उसकी पत्नी कलसुम है; मरते समय उसने स्वयं भी स्वीकार किया 'हा, इस अनिष्ट का मूल कारण मै ही हू, इसमें सन्देह नही'[9]। अन्त मे पाप का घड़ा भर गया और 'लालचीन के कधे पर गयास ने हाथ देकर बलपूर्वक खड्ग द्वारा उसकी गर्दन पर वार किया'[10] लेखक ने गुलाम लालचीन के मन में छिपी हुई ग्रन्थि को मनोवैज्ञानिक चिमटे से सफलतापूर्वक बाहर निकाला

---

१. दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, वाल्यूम ३, टर्क्स एण्ड अफगान्स, चैपटर १५, पृ० ३८६-३८७

२. पृ० ३	३. पृ० ८	४. पृ० १५
५. पृ० १३	६. पृ० ५३	७. पृ० ६१
८. पृ० ११८	९. पृ० २५८	१०. पृ० २८६

है : 'दासों के साथ राजकुमारो सा बर्ताव नही किया जा सकता···किन्तु उनके साथ मनुष्य जैसा व्यवहार करना तो उचित है',[1] और 'स्वाधीनता से बढ़कर तो संसार में कोई नियामत नहीं है, क्योंकि पराधीनता पतन की सूचक है और स्वाधीनता अभ्युदय की'।[2]

स्त्री-पात्रों में लालचीन की पुत्री को इतिहास भी जानता है। उपन्यास में उसका नाम लुत्फुन्निसा है। उसके दो प्रेमी हैं : गयासुद्दीन और शम्सुद्दीन। 'रूप तथा यौवन के संयोग का जो प्रभाव मानव-हृदय पर पड़ता है वही इस अलौकिक सौन्दर्य का प्रभाव शम्स के हृदय पर पड़ा किन्तु इसमे कुवासना का लेश-मात्र नही था',[3] 'शम्स उसे प्रेम भरी आंखो से देखता है और गयास कुवासना-जनित दृष्टि से'[4]। लुत्फुन्निसा ग्यास से घृणा करती है परन्तु उसको अपना शिकार बना कर पिता के हाथों सौंपने में वह क्रियाशील है। उसे शम्स से प्रेम है परन्तु वह शासन नहीं चाहती; शम्स पर मैं अपने प्राण निछावर कर चुकी हू, किन्तु इस गद्दी की स्वामिनी बन मैं बेगम नाम धराना नही चाहती। पिता जी समझते नही जिस दिन मेरा विवाह शम्स के साथ होगा उसी दिन असन्तोष अधिक बढ जायगा'[5]। वस्तुत: गुलाम की पुत्री होने पर भी लुत्फुन्निसा अपने गुणों में महान् है। वह एक ओर नारी के गुणो की मूर्त्ति है दूसरी ओर राजनीति में दक्ष, आगे चलकर पाप से बच कर सन्तोष का जीवन बिताना उसका उद्देश्य बन गया। जब लालचीन मार डाला गया और शम्सुद्दीन की आखें निकाल ली गईं तब भी लुत्फुन्निसा ने कितने निर्मल उद्‌गार प्रकट किये : 'हाथ से राजदण्ड छूटा, आप का धर्म बचा'[6]·····'मे राज्य नहीं चाहती थी किन्तु आपको सदा चाहती रही'[7]। यह नारी चरित्र उपन्यासकार की उज्ज्वल सृष्टि है।

कथानक का निश्चित संकेत लेखक ने इतिहास से लिया है। दोनों मुख्य पात्र इतिहास मे भी इन्ही गुणो का आभास देते हैं। परन्तु कल्पना के द्वारा शेष व्यक्तित्व का सम्पूर्ण प्रत्यकन लेखक के कौशल से संभव हुआ है। स्वामी द्वारा अनादर, आशाओं पर तुषारापात, पत्नी की प्रेरणा, और स्वर्णावसर लालचीन के पतन के कारण हैं। यह कहना कठिन है कि लेखक स्वातन्त्र्य की भावना से अधिक प्रभावित हुआ है अथवा हीनता-ग्रन्थि के सिद्धान्त से। जो जन्म से दास है उसका पुरुषार्थ उसे आजन्म दास नहीं देख सकता और मार्ग में जो बाधाए आती हैं उनको नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए उसकी दास भावना प्रखर हो उठती है। लुत्फुन्निसा के विषय में लेखक ने यह नही बतलाया कि क्रूर पिता और पिशाचिनी माता की सन्तान होकर भी वह इतनी समझ-

१. पृ० ५
२. पृ० ४५
३. पृ० १९
४. पृ० २१
५. पृ० १९६
६. पृ० २९१
७. पृ० २९२

दार और संतुलित क्यों बन गई थी। समस्त चित्रण से ऐसा लगता है कि लेखक की नायक के प्रति सहानुभूति है, उसकी दुर्बलता को स्वाभाविक मानता हुआ लेखक नायक को हीन चित्रित नहीं करता, प्रत्युत उसकी ग्रन्थिहीन प्रतिमा का रूप उसकी पुत्री में दिखाकर उसे सामान्य से ऊंचा सिद्ध कर देता है।

'लालचीन' उपन्यास १७ परिच्छेद और २९२ पृष्ठों में पूरा हुआ है। इसकी भाषा सर्वत्र एक सी है ; सभी पात्र मुसलमान हैं, इसलिए उनकी भाषा-विषयक विशेषताएं उपन्यास में समाविष्ट न हो सकती थीं। बीच में उर्दू की कविता आ गई है। वर्णन लम्बे-लम्बे भी हैं। कई स्थानों पर स्वगत का उपयोग है। तिलिस्म के प्रति लेखक की रुचि नही है, पृष्ठ २२६ पर केवल एक तिलिस्मी दुर्ग के दर्शन होते हैं जिसका विशेष महत्व नही है। सामाजिक समस्याओं का चित्रण इस उपन्यास में नहीं है। लेखक की दृष्टि इतिहास और राजनीति पर रही है। कतिपय स्थलों पर नाटकीय प्रभाव आ गया है, जैसे पृष्ठ बारह पर नायक सोच विचार करता हुआ कहता है: 'जरा इसमें अपनी गृहिणी से तो परामर्श कर लूं' ; मानो रंगमंच पर अभिनय कर रहा हो। लेखक ने नायक का नाम 'लालचीन' लिखा है जब कि इतिहास में 'तुगलचीन' है : यह परिवर्तन नाम का विकल्प भी हो सकता है।

इस उपन्यास की 'भूमिका' श्री अवध बिहारी शरण ने लिखी। इससे इस उपन्यास पर तथा प्रसंगतः हिन्दी-उपन्यास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। शरण जी ने बताया है कि 'हिन्दी-साहित्य में उपन्यास के प्रायः दो ही उदेश्य समझे जाते हैं ; एक तो मनोरजन करना और दूसरे कोई उच्चभाव अथवा आदर्श प्रदर्शित करना'। परन्तु 'इस उपन्यास में चरित्र का चित्रण ही प्रधान रखा गया है'। परिस्थितियों के कारण व्यक्ति किस प्रकार बदलता है 'इसका ज्ञान केवल अनुभवी लेखक' को ही होता है। अस्तु, 'किस अवस्था में पड़कर स्वामिभक्त लालचीन स्वामिद्रोही बन जाता है और किस प्रकार रक्त की प्यासी अपनी स्त्री की उत्तेजना में पड़कर वह अपने स्वामी का सर्वनाश करने पर उद्यत होता है''''''और किन भावों के उदय होने पर लुत्फुन्निसा सिंहासनारूढ शम्स का तिरस्कार करती है और फिर राज्यच्युत होने से उसी को अपनाती है' आदि व्यक्ति के चरित्र पर परिस्थितियों का प्रभाव दिखलाते हैं। भूमिका की इस स्थापना से सभी पाठक सहमत होंगे और प्रस्तुत उपन्यास को एक नया एवं उन्नत मार्ग स्वीकार करेंगे। वस्तुतः इसकी रचना सामान्य से कुछ उच्च स्तर के पाठक के लिए ही हुई है।

'भूमिका' की दूसरी स्थापना है कि इस उपन्यास से 'एक गूढ़ राजनीति का उपदेश मिलता है कि किसी देश में युगान्तर उपस्थित करने से उस देश का कुछ लाभ नहीं होता'—'जो कोई अपने देश का सच्चा हितैषी हो वह केवल क्रमशील परिवर्तन का प्रयत्न करे, युगान्तर का कदापि उपाय न सोचे'। सम्भव है इस स्थापना से लेखक स्वयं भी सहमत रहे हों। गयासुद्दीन गुलामों को समाप्त कर देना चाहता था, इसलिए उसका इतना भयंकर विरोध हुआ। उत्तर भारत में भी बलबन (राज्यकाल सन् १२६५

से १२८५ तक) ने शम्सी गुलामो का ध्वंस[1] प्रारम्भ किया था और गुलामों को असंतुष्ट भी कर लिया था। यह सहसा स्वीकार कर लेना कठिन है कि लालचीन का व्यक्तित्व समस्त पैशाचिकता के लिए उत्तरदायी नहीं है केवल 'अवस्था' ने ही सब कुछ कराया है। मध्यकालीन मुसलमान-शासन में इस प्रकार की पैशाचिकता अनेक बार देखने को मिलती है; सन् १३१६ ई० मे अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके विश्वासपात्र मालिक नायब ने एक-एक करके उसके तीनों पुत्रों की आंखें निकलवा डाली थी और उनको मरवा डाला था[2]; इस प्रकार की घटनाओ मे इतिहास भरा पडा है। अतः गुलामी की छटपटाहट ने लालचीन से यह सब कुछ कराया, ऐसा स्वीकार करना निर्विवाद नही है। यदि इस उपन्यास में लेखक का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि क्रान्ति द्वारा देश की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन वांछनीय नहीं है, उसके लिए क्रमिक परिवर्तन ही अभीष्ट है, तो इसमें लेखक को सफलता नही मिली; क्योकि उपन्यास को पढ़कर यह भावना पाठक के मन पर नही जमती।

किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासो से तुलना करने पर इस उपन्यास की कतिपय विशेषताएं लक्षित होती हैं। दोनों का सम्बन्ध इस्लामी शासन से है, परन्तु उनमें मुसलमानों के दुर्गुणो का चित्रण है, इसमें मुसलमान के भीतर के मानव का चित्रण। उन उपन्यासों के कथानक इतिहास की ओट में छिपे हुए रहस्य हैं, इसका कथानक इतिहास द्वारा अनुमोदित है। किशोरीलाल ने अपनी कल्पना से इतिहास में घना परिवर्तन कर दिया है, ब्रजनन्दन सहाय की कल्पना इतिहास से भ्रष्ट नही होती। उन उपन्यासों मे पात्रों का वर्गगत चित्रण है, इसमें उनकी व्यक्तिगत विशेषताए अकित मिलती हैं। किशोरीलाल के उपन्यासों में चरित्र का चित्रण तो मिल जाता है परिस्थिति-जन्य विकास नही जो इस उपन्यास की एक मुख्य विशेषता है। गोस्वामी जी की भाषा प्रायः पात्रानुसार परिवर्तित हो जाती है, परन्तु सहाय जी की आद्यन्त एक-सी है। उक्त लेखक ने सनातनी विचारो का प्रचार तथा धर्म की जय अपना लक्ष्य बनाया था, जो इस लेखक मे प्राप्य नही। किशोरीलाल कवि तथा गोस्वामी थे, ब्रजनन्दन सहाय लेखक तथा विचारक; फलतः रीतिकालीन परम्परा का जो निर्वाह उनमे है उसकी गन्ध भी यहां नही मिलती। ऐतिहासिक वातावरण का अंकन दोनो मे से किसी में सफल नही हुआ, गोस्वामी जी सामाजिक उद्देश्य से इतिहास के निकट गये थे और सहाय जी मनोवैज्ञानिक प्रेरणा से। यह उपन्यास सामान्य से उच्च स्वर का है हिन्दी-उपन्यास की परम्परा मे एक निश्चित विकास का संकेत है।

---

१. पूर्व-मध्यकालीन भारत, पृ० १०३ तथा १०८
२. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाल्यूम ३, पृ० ७३ और ८७
३. वही, पृ० ११९-१२०

मिश्रबन्धुओं के उपन्यास

वीरमणि

मिश्रबन्धुओ ने 'पुष्यमित्र', 'विक्रमादित्य' और 'वीरमणि' नाम के ऐतिहासिक आख्यानो की रचना की है। 'वीरमणि' मध्यकालीन मुस्लिम-शासन का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् १९१७ ई० मे हुआ था। यह २१३ पृष्ठ और १८ अध्यायो की पुस्तक है; इसके और लेखकों का नाम 'श्यामबिहारी मिश्र' 'शुकदेवबिहारी मिश्र' छपा हुआ है।

इस उपन्यास की प्रेरणा वही है जो कन्हैयालाल मणिकलाल मुन्शी के 'भगवान् कौटिल्य' उपन्यास मे रही है। 'उत्तरीय भारत मे नैमिषारण्य नाम के बड़े तीर्थस्थान में गोदावरी के निकट नैमिषनाथ त्रिपाठी नामक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण होते थे' उनके '४५ साल के सुकर्मो के फलस्वरूप एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ'। यही वीरमणि उपन्यास का नायक है, जिसके व्याजस्वरूप लेखक ने तपस्वी, मेधावी, धर्मप्राण कान्यकुब्ज ब्राह्मण का पुरातन इतिहास अंकित किया है।

उपन्यास के कथानक का सम्बन्ध अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल से है और मुख्य घटनाएं चित्तौड के प्रसिद्ध युद्ध मे अवसित होती हैं। दिल्ली के अधीन खैराबाद का नवाब बड़ा विलासप्रिय था, उसकी कुदृष्टि वीरमणि की पत्नी नलिनी पर पडी। वीरमणि अत्यन्त अध्ययनशील और गम्भीर था इसलिए नलिनी उससे असन्तुष्ट रहती थी, उस असतोष मे उसका ध्यान बाल-परिचय के ललित पर गया, और वह उसको प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहने लगी। नवाब ने अवसर देखा और ललित के पास पहुँचाने के बहाने नलिनी को पकडवा कर अपने यहा मंगा लिया। नलिनी का उद्धार हुआ और ललित के उपदेश से उसने अपना धर्म बचा लिया—यह ललित को भाई मानने लगी। इसी बीच चित्तौड का युद्ध छिड गया। नलिनी की मृत्यु भी हो गई। अन्त मे पद्मा वीरमणि की पत्नी बनी, इनकी सन्तान कान्यकुब्ज-शिरोमणि समझी जाती है।

सन् १३०२-३ मे चित्तौड पर आक्रमण करके अलाउद्दीन ने रत्नसिह के साथ विश्वासघात किया और सन् १३०५ में चित्तौड का प्रसिद्ध जौहर हुआ। इन दो वर्षों में उत्तर भारत मे हलचल मच गई, चित्तौड का यह युद्ध राजपूती आदर्श की परीक्षा थी, अनेक जाने-अनजाने लोगो ने इस युद्ध में भाग लिया। लेखक ने जिस वातावरण का चित्रण किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक है। इतिहास मे अलाउद्दीन अपने दुराचार के कारण बदनाम है, उसने हर प्रकार से हिन्दुओं को नष्ट करने का प्रयत्न किया है, उसके कर्मचारी भी वैसे ही दुष्ट हो गये होंगे; खैराबाद का नवाब भी बगाल का सिराजुद्दौला बन गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतः मुसलमानों का जैसा चित्रण इस उपन्यास में किया गया है वैसा इतिहास-सम्मत है।

हिन्दुओं के चित्रण में लेखक ने मौलिकता का परिचय दिया है, क्योंकि उसके मुख्य हिन्दू-पात्र ब्राह्मण हैं क्षत्रिय नहीं, अतः उनका स्वरूप इतिहास में उपलब्ध नहीं

होता। नायक वीरमणि आदर्श ब्राह्मण है, वह ब्रह्मविद्या में दत्तचित्त होकर भौतिक-उथल-पुथल पर ध्यान नही देता। फलत: उसकी युवती पत्नी उपेक्षा का अनुभव करती है, जिसके लिए पति ही सर्वस्व है वह बदले में पति को केवल अपने मे अनुरक्त देखना चाहती है। नलिनी के मन में एक चोर भी था, बालकपन का साथी ललित, पति से उपेक्षित होकर वह ललित के स्वप्न देखने लगी। उपन्यासकार ने दुर्बल नारी का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। नलिनी पाप पर उतर गई तो ईश्वर ने उसको दण्ड दिया, वह ललित के समीप न पहुँच कर नवाब की बन्दिनी बन गई। ललित के उपदेश से नलिनी के प्रेम का उदात्तीकरण भी एक मौलिक एवं नवीन चरण है। दोनो पुरुष पात्र वीरमणि और ललित महान् है, पौराणिक आदर्श के, यथार्थ धार्मिक। हिन्दू नारियो में नलिनी पापिनी है और पद्मा धर्मप्राणा, एक दुर्बल है दूसरी दृढ़, लेखक ने नलिनी को हीन दिखाने के लिए ही पद्मा की सृष्टि की है। कहने की आवश्यकता नही कि नायिका के सिर पर ही सारा दोष मढ़ने मे लेखक की सनातनी दृष्टि उत्तरदायी है।

इस ऐतिहासिक उपन्यास में कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर विचार किया गया है जिससे हिन्दू-धर्म की श्रेष्टता प्रतिपादित होती है। हिन्दू-धर्म सनातन है किसी व्यक्ति विशेष का चलाया हुआ सम्प्रदाय-मात्र नही; इसमे शास्त्र, अवतार और महापुरुष अनेक हैं, एक नही, यह विशेषता अन्य प्रचलित धर्मो मे नही है, 'पृथ्वी पर हिन्दू, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान नामक चार प्रधान मत है, सो इसमे से तीनो अन्तिम धर्मों के चलाने वाले एक-एक महात्मा थे, किन्तु हिन्दू-मत का प्रवर्तक कोई नहीं सीख पडता'[1]। हिन्दू-धर्म में परमार्थ के तीन मार्ग माने गये हैं—ज्ञान, कर्म और उपासना; उपासक भी दो प्रकार की है निर्गुण, निराकार ब्रह्म की अथवा सगुण, साकार, अवतारी ईश्वर की। लेखको का मत है कि निर्गुण पंथ सबके लिए सुगम नही है इसलिए सामान्य जनता के लिए मूर्त्तिपूजा ही एकमात्र आधार है: 'जो लोग निर्गुणोपासना सम्बन्धी उच्च विचारो को भी हृदयगम नही कर सकते, वे प्रतिमा से लाभ क्यो न उठावे ?[2] इस स्थापना में मुसलमानो को ही उत्तर नही दिया गया, आर्यसमाजियो से भी समझौते का प्रयत्न है। कर्मफल में विश्वास हिन्दू-धर्म की एक विशेषता है जिसको इस उपन्यास में नवाब और नलिनी के जीवन में प्रत्यक्ष भी दिया गया है और जिसकी सैद्धान्तिक चर्चा भी कर दी गई हैं, 'क्या मनुष्य सदैव इसी जन्म के कर्म का फल भोगता है ? मैंने उस जन्म में न जाने कौन से कुकर्म किये थे जिनके फल आज भोग रही हूं[3]।

मुसलमानों के सम्पर्क से हिन्दू-समाज में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं, जिनमें से एक-दो पर इस उपन्यास में विचार है। रावण सीता को चुराकर ले गया परन्तु राम ने सीता को पवित्र मानकर उसका आदर किया, मध्ययुग में भी अनेक महिलाएँ मुसलमानों द्वारा चुराई गईं और उनके घरवालों ने उनका उद्धार किया और उनको पवित्र

१. पृ० १२
२. पृ० २१
३. पृ० ५३

माना[1]। कालान्तर में हिन्दू-समाज निर्बल बन गया और बलाद्-भ्रष्ट व्यक्ति को अपनाने में आनाकानी करने लगा। फलतः अनेक व्यक्तियों को अनिच्छा से मुसलमान बनना पड़ा। लेखक ने हिन्दू-समाज की इस प्रवृत्ति पर खेद प्रकट किया है। नलिनी कहती है: 'जब एक बार मैं दुर्दशा के साथ डाकुओं द्वारा अपने घर से निकाली जा चुकी हूं तब फिर वही जाने की मुझे इच्छा नहीं होती, मैं अपने पति के कुल में कलंक लगाना नही चाहती'[2]। मुसलमान तो इस बात को जानते ही हैं कि 'हिन्दू ऐसे कम अक्ल हैं कि जब कोई आदमी किसी तरह हम लोगो में एक मर्तबा मिल जावे या हमारे साथ खाना खा लेवे तो उसे भी वे अपने दीन मे नही रख सकते और न वापिस ले सकते हैं'[3]। दूसरी समस्या पर्दे की है। हिन्दुओं में कभी पर्दा नही रहा, परन्तु असभ्य विदेशियो की कुदृष्टि से बचने के लिए महिलाए पर्दे में रहने लगी: 'ये लोग अपनी प्रकृति को भलीभाति समझे हैं और अपने देशवासियो की दुष्टताओ को भी नित्य भुगतते आये हैं, सो अपनी महिलाओ को तो पिजरबद्ध पक्षियो की भाति बन्द रखते है और दूसरो की बहू-बेटियो को तकते है'[4]। मध्यकालीन इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जगली मुसलमानो ने अपनी बर्बरता का प्रयोग अबलाओं और बच्चों पर किया, परन्तु हिन्दू लोग सदा धर्म का पालन करते रहे। नवाब के शब्दों मे 'मैने तेरी आबरूरेजो मे कोई कसर नही उठा रखी लेकिन फिर भी तूने मेरी बीबी की इज्जत रख ली'[5]। अपने सम्मान की रक्षा के लिए हिन्दू-महिलाओ ने जौहर का सहारा लिया और वे सती होने लगी; इस उपन्यास मे सती-प्रथा को निन्द्य नही ठहराया[6] गया। किशोरीलाल गोस्वामी के समान मिश्रबन्धु इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एकता के अभाव मे मुसलमान हिन्दुओ को पराजित कर सके अन्यथा सभ्यता की दृष्टि से वे बहुत पिछड़े हुए हैं 'बलवृद्धि करके इन्होने हमें अनैक्य के कारण पराजित तो कर दिया है किन्तु राज्य-शासन-प्रणाली, मनुष्यों के अधिकार आदि विचारो में इनकी शिक्षा बहुत अपूर्ण है'[7]। हिन्दुओं में विवाह एक संस्कार है, वह एक जन्म का ही नही, जन्म-जन्म का बन्धन है। इस उपन्यास में संकल्प से ही विवाह को पूर्ण मान लिया गया है, वह अपरिवर्तनीय है: 'मानसिक भाव से यह मेरी स्त्री हो चुकी है और इस भाव का लौकिक व्यवहारमात्र शेष है'[8] और 'मनुष्य का हृदय तो एक ही होता है, वह बाजार का सौदा नही, न ऊचे से ऊचे दामों पर नीलाम होता है[9]।

१. दे० 'लवंगलता' उपन्यास की नायिका का चित्रण।
२. पृ० ७२
३. पृ० ३०
४. पृ० ४४
५. पृ० १३७
६. पृ० ७
७. पृ० ५
८. पृ० ९८
९. पृ० १०१

'वीरमणि' उपन्यास में कला की दृष्टि से किसी विकास की सूचना नहीं मिलती। स्त्री की रक्षा में प्राण अर्पण करने वाले नायक वीरमणि को वीर गोरा के साथ[1] दिखाने में ऐतिहासिक घटना का पुट है; वातावरण अवश्य इतिहास से अनुमोदित है। भाषा दोनों प्रकार की है—पात्रों के अनुकूल। लेखकों ने उपदेश-वृत्ति को अधिक अपनाया है जिससे कथा में कौतूहल की मात्रा कम रह पाई है। जासूसी का योग परम्परा के कारण है। आदर्श ब्राह्मण का चित्रण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नये कदम हैं। नायक और नायिका का चरित्र सफल तथा मौलिक है। सस्कृत, ब्रजभाषा और उर्दू के छन्द बीच-बीच में आ ही गये हैं। समस्त चित्र स्वस्थ है परन्तु अधिक मनोरंजक नहीं। भाषा का एक उदाहरण देखा जा सकता है :—

'दुःख या सुख चित्त में होता है किसी पदार्थ में नही चाहे वह कैसा ही घृणास्पद या ललित क्यो न हो।' (पृष्ठ ७६)

इस उपन्यास की किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों से तुलना आवश्यक है। दोनों लेखक सनातनी ब्राह्मण हैं, उन्होंने मुस्लिम इतिहास का चित्रण करते हुए हिन्दुओं को आदर्श और मुसलमानो को नीच अंकित किया है। परन्तु गोस्वामी जी मुसलमानों की बुराई दिखाने में अधिक सिद्धहस्त हैं और मिश्रबन्धु हिन्दुओ की अच्छाई प्रदर्शित करने मे। उनके हिन्दू राजपूती आदर्श के क्षत्री हैं, इनके धर्म-रक्षक ब्राह्मण। ऐतिहासिक सूत्र के सहारे सामयिक-सामाजिक समस्याएं दोनो अंकित करते हैं, परन्तु वे कट्टर है ये उदार—इन्होंने जिन प्रथाओ का ठीक समझा है उनकी चर्चा करदी है, खण्डन में समय नष्ट नही किया। ऐतिहासिक दृष्टि से दोनो लेखकों को एक ही स्थान प्राप्त होगा; परन्तु घटनात्मकता यहा बहुत कम है। इस उपन्यास में नायक-नायिका, चरित्रचित्रण, दाम्पत्य जीवन की एक अत्यन्त स्वाभाविक समस्या, तथा प्रेम का उदात्तीकरण सराहनीय है। धर्म की जय दिखाने मे मिश्रबन्धु गोस्वामी जी के निकट है और ब्रजनन्दन सहाय से दूर। यह उपन्यास गोस्वामी जी के उपन्यासो से अधिक साहित्यिक है।

---

१. पृ० १६२

: ५ :

घटनात्मक उपन्यास

नवयुग से पूर्व की परम्परा

बगला और हिन्दी मे 'उपन्यास' नाम से जो साहित्य प्रचलित है उसके दो वर्ग हैं। एक वर्ग मे वे पुस्तके आती है जिनकी परम्परा निश्चय ही पाश्चात्य प्रभाव का परिणाम है, इनको 'सामाजिक' तथा 'ऐतिहासिक' उपन्यास कहा जा चुका है। दूसरा वर्ग उन पुस्तकों का है जो पाश्चात्य प्रभाव के उपरान्त रचित होने के कारण 'उपन्यास' तो कहलाई परन्तु उनकी परम्परा इस प्रभाव से पूर्व की है। इस वर्ग की रचनाओ को 'घटनात्मक उपन्यास' की संज्ञा दी जाती है। श्री जे० सी० घोष[1] के अनुसार इस वर्ग मे तीन प्रकार का कथा-साहित्य आता है—रोमान्स, रजन-कथा (टेल) तथा नीति कथा (फेबल)। ये रूप यूरोपीय प्रभाव से पूर्व हिन्दू तथा मुसलमान दोनो जातियों के साहित्य म विद्यमान थे।

नीतिकथा (फेबल) की परम्परा बहुत पुरानी है। वस्तुत. इसका जन्म भारत मे ही हुआ था और 'जातक' कथाएं इसका सबसे पुराना रूप है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार फेबल की मुख्य विशेषता पशु-पक्षियो को पात्र बनाकर उनके माध्यम से मानव को नीति का उपदेश देना है, इस विशेषता का समर्थन जातक-कथाओं से भी होता है। प्रेमचन्द-पूर्व-काल मे ऐसी कहानियाँ भी लिखी गई जिनमे पात्र पशु पक्षी हैं, 'तोता कहानी' (सन् १८२८) इस प्रकार की रचना का एक प्रसिद्ध उदाहरण है। परन्तु उस युग की प्रवृत्ति पशु-पक्षियों की कहानी के पक्ष मे नही थी, 'उपन्यास' नाम के लिए मानव को कहानी का पात्र बनाना आवश्यक था। 'गुप्तगोदना' उपन्यास मे किशोरीलाल गोस्वामी ने 'तोता कहानी' के वर्ग की रचनाओ को, स्पष्ट शब्दों में 'उपन्यास' वर्ग से बाहर निकाल दिया है : 'अगर दिलचस्पी के साथ ही साथ सब्र को अख्तियार किये हुए पाठक लोग इस ऐतिहासिक उपन्यास को धीरज के साथ पढ़ते चले जायेंगे तो आशा है कि उनका भली भांति मनोरजन होगा और हमारा भी सारा परिश्रम सफल हो जायगा। कारण यह कि यह कुछ तोता कहानी तो है नही, बल्कि उपन्यास है और उपन्यास भी कोई मामूली नही वरन् ऐतिहासिक सिलसिलो का भंडार है। इसलिए यह उसी ढग से लिखा जाएगा जिस तरह कि इसका लिखा जाना, इतिहास और उपन्यास की तराजू पर तुलता जायगा'[2]। 'यह कुछ तोता-कहानी तो है नहीं,

१. बेंगाली लिटरेचर, दि नावेल, पृ० १५२

२, दूसरा हिस्सा, पांचवां बयान, पृ० ३३-४

बल्कि उपन्यास है' वाक्य से यह तो स्पष्ट ही है कि उस युग में 'उपन्यास' को 'तोता कहानी' आदि की तुलना में उच्च साहित्य समझा जाता था साथ ही इस सत्य का भी समर्थन होता है कि 'उपन्यास' संज्ञा प्राप्त करने वाली कहानी में पात्र मानव ही हो सकते थे—वे काल्पनिक लोक के हो (घटनात्मक उपन्यासो में), वर्तमान परिस्थितियो के हों (सामाजिक उपन्यासों में), अथवा अतीत जीवन के हो (ऐतिहासिक उपन्यासों में)।

'रोमान्स' और 'रजन कथा' 'घटनात्मक उपन्यास' के दो रूप हैं। ये यूरोपीय प्रभाव के अनन्तर रचित होने पर भी उक्त प्रभाव से पूर्व की परम्परा में है। इनकी सामान्य विशेषता यह है कि इनमें जिस जीवन का चित्रण किया गया है वह उन सिद्धान्तो द्वारा शासित नही होता जो हमारे जीवन पर लागू हुआ करते है, अतः इनमें हमारे प्रत्यक्ष जीवन की यथार्थ छाया नही पाई जाती। रोमान्स मे पात्र, दृश्य एव घटनाएं सामान्य जीवन से दूर के (रिमोट फ्रोम ऐवरी-डे-लाइफ) होते हैं—अतिरजित, आदर्श एवं अपूर्व। रंजनकथा (टेल) मे कल्पना का इतना अधिक शासन होता है कि उस पर विश्वास या अविश्वास का प्रश्न ही नही उठता—उसका उद्देश्य तो मनोरजन है, सूरजभान वैश्य रचित 'कटा हुआ सिर' (सन् १९१२) एक ऐसी ही रंजन-कथा है जिसमे विचित्रपुर का राजा अपनी पुत्री का विवाह उस श्याम के साथ कर देता है जिसने राजा के महल से बहुत बडी चोरी की थी और जो राजकर्मचारियो से चालाकियां खेल-खेल कर उनके चंगुल से साफ बच गया था।

रोमान्स की परम्परा ने आलोच्य काल को 'चित्र-विचित्र घटनाओ से भरे हुए ···जासूसी, तिलिस्मी ऐयारी के ढंग के अनूठे उपन्यास'[1] दिये। इन उपन्यासो को रोमान्स की परम्परा में मानना निर्विवाद नही है, क्योंकि रोमान्स जिस प्रकार की असामान्यता का पक्षपाती है ठीक वैसी ही इन उपन्यासो में नही पाई जाती। रोमान्स में अतिमानवीयता होती है, परन्तु ये उपन्यास घटना-चक्र पर ही जीवित रहे है। फिर भी डा० श्रीकृष्णलाल ने 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास तथा उसकी परम्परा को 'आल्हखण्ड' आदि वीरकाव्यों की दूरारूढ़ परम्परा में माना है,[2] जो उचित ही है, क्योकि इस परम्परा के प्रवर्तक देवकीनन्दन खत्री के सम्मुख मनोरंजन के साथ-साथ राजपूती जीवन का आदर्श भी था जो उनकी रचनाओं में भली भाति प्रतिफलित हुआ है। सामान्य रंजन-कथाओं से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तिलस्मी, जासूसी और ऐयारी के उपन्यास कलात्मक हैं, इनको लोक-साहित्यमात्र नहीं माना जा सकता, कथा का निर्वाह, वर्णन की प्रचुरता, कुतूहल को जगाना, आदर्श की स्थापना आदि कतिपय विशेषताएँ प्रतिभा एवं विशेषज्ञता के बिना नहीं निभाई जा सकतीं। तिलिस्म, जासूसी तथा ऐयारी ये तीनो शब्द पुराने है और इस्लामी प्रभाव से भारतीय साहित्य मे आये है। इनका प्रयोग करता हुआ सामान्य पाठक यह समझता है कि 'तिलस्मी उपन्यास',

१. 'राजकुमारी' उपन्यास के अन्त में दिये गये विज्ञापन से।

२. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास. पृ० २९४

'जासूसी उपन्यास', तथा 'ऐयारी के उपन्यास' ये तीन भेद अलग-अलग हैं। परन्तु यथार्थ यह नही है। 'ऐयारी' तो साधन है, इसका उपयोग तिलस्म के लिए होता है, अतः सभी तिलस्मी उपन्यासों में ऐयारी अवश्य मिलेगी। जासूसी भी तिलस्मी उपन्यासो में साधन बन कर जाती है—सभी तिलस्मी उपन्यासों मे जासूसी के चमत्कार है, परन्तु कुछ उपन्यास ऐसे भी है जिनमे जासूसो की चतुराई ही चित्रण का विषय बनी है। सत्य तो यह है कि जब तिलस्मी उपन्यासो का जनता ने स्वागत किया तो उनके चतुर जासूसों को नई परिस्थिति मे डाल कर तिलस्म से भिन्न कार्यों के लिए भी उनका वर्णन किया गया—इस परम्परा के उपन्यास अपराध का पता लगाने के लिए जासूसो का उपयोग करते है, यह घटनात्मकता पर पाश्चात्य प्रभाव है। अस्तु, रोमानी परम्परा के घटनात्मक उपन्यासो के दो वर्ग माने जा सकते है—तिलस्मी तथा जासूसी, प्रथम पर पाश्चात्य प्रभाव नही है, परन्तु द्वितीय यूरोपीय प्रभाव से चला और अब तक चल रहा है, प्रथम के प्रवर्त्तक देवकीनन्दन खत्री थे और द्वितीय के गोपालराम गहमरी।

रजनकथा की परम्परा मे जो उपन्यास लिखे गये हैं उनकी न कोई सख्या है और न रूप-रेखा। उनका एकमात्र गुण दिलचस्पी है, पात्र मानव हैं, परन्तु घटनाएं दिल की धडकन से चलती है। वास्तविक लोक-साहित्य तो यही है, जिसमे न कोई साहित्यिक छाप है और न 'शिष्ट समाज' की झाकी। लेखक भी अशिक्षित थे और पाठक भी। कही किसी लेखक ने अगर ऊचा आदर्श रखना चाहा तो अन्त मे कोई उपदेश दे दिया, अन्यथा रसीली लावनियां, भजन या गीत भर कर अपनी पुस्तक को पूरा कर दिया, 'मिस जोहरा' (सन् १६१३) उपन्यास मे निहालचन्द वर्मा ने 'खाली किस्से की दिलचस्पी' के बाद 'मतलब की बाते' समझाते हुए पाठको को सलाह दी है कि 'आप लोग अपनी प्यारी लडकियो के कोमल हृदय पर बेपर्दगी तथा स्वतन्त्रता का वृक्ष न उगने दो', 'किस्मत का खेल' उपन्यास मे विट्ठलदास नागर उपदेश देते है कि 'सदा ब्राह्मण के भगत होकर रहना उनको कदापि नाराज न करना', 'जिन्नो की महफिल' (सन् १६१२) मे बांकेलाल चतुर्वेदी ने प्रसंग के बिना ही अन्त मे वैरागियो की खबर ले डाली है—'बैरागी भारत में बढ़ गये, भीख मांगकर खाते है' आदि।

अस्तु घटनात्मक उपन्यासो के सामान्यतः तीन वर्ग हो सकते हैं:—

(क) तिलस्मी उपन्यास

(ख) जासूसी उपन्यास

(ग) अद्‌भुत उपन्यास

'अद्‌भुत उपन्यास' नाम नया नहीं है। बंगभाषा में रामसदय भट्टाचार्य ने सन् १८६१ में 'अद्‌भुत उपन्यास' की रचना की, जिससे 'अद्‌भुत रसात्मक उपकथा'[1] की परम्परा चलने लगी। हिन्दी में जो चित्र-विचित्र उपन्यास लिखे गये उनको सामान्यतः अद्‌भुत भी कहा गया। ज्योतिषी हरदेवप्रसाद मुदर्रिस के 'सूरजमुखी' उपन्यास की पीठ पर जिस 'नवीन छपे हुए अद्‌भुत उपन्यास' साहित्य का विज्ञापन है उसके

१. बांगला साहित्येर इतिहास, द्वितीय खण्ड, उपन्यासेर सूत्रपात, पृ० १६५

विषय हैं—'एक संभ्रान्त घर की कुलटा की अद्भुत कहानी', 'चतुर चोर ने किस तरह पुलिस को धोखे में डाला', 'एक कपटी मित्र का कपट और कामीजनो की दुर्दशा', 'ठगो के सात बड़े-बड़े चरित्र', आदि। विचित्रताओं से भरे हुए ये उपन्यास गुण में अद्भुत होने के ही कारण सामान्य पाठक का मनोरजन करते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध मे घटनात्मक उपन्यास के तीनों भेदों पर विस्तार-पूर्वक विचार करना आवश्यक है।

तिलस्मी उपन्यास

सन् ७११ मे छह हजार घोड़े और नौ हज़ार ऊट लेकर मुहम्मद ने सिन्ध पर आक्रमण किया, तभी से हमारे देश का इतिहास एक नये रूप मे दिखलाई देता है। लगभग एक हजार वर्ष तक हिन्दुओ के साथ मुसलमानो का संघर्ष चला, अन्त मे सन् १७५७ की प्लासी की लड़ाई मे इस्लामी साम्राज्य के सपने सदा के लिए धुल गये। सघर्ष का यह युग ऐतिहासिक और घटनात्मक दोनों प्रकार के उपन्यासो को प्रभावित करता रहा है। इस बीच में भारत के क्षत्रियो, विशेषतः राजपूतो ने, जिस वीरता का परिचय दिया है उसकी तुलना विश्व इतिहास मे बहुत खोजने पर ही कदाचित् मिले। एक ओर बर्बर आक्रमणकारी स्त्रियो और बच्चो पर नृशंस अत्याचार करते, पराजितो का अग-भग करके उनका प्राण हरते, आग लगाते, प्रजा को लूटने, छत्र-छिद्र का प्रयोग करते और आतक फैलाते थे। दूसरी ओर वीर क्षत्री धर्मयुद्ध करते हुए अपनी रक्षा कर रहे थे। उस सघर्ष मे क्षत्रियो ने हजारो की सख्या मे मिलकर देश-धर्म पर अपने प्राण निछावर कर दिये। सर विलियम म्यूर[1] का निष्कर्ष है कि सिन्ध के युद्ध का इस्लामी राजनीति में एक विशेष महत्व है, जो लोग इस्लाम को स्वीकार नही करते उनके दो वर्ग मान लिये गये, एक वर्ग मे पैगम्बरी मत है और दूसरे मे मूर्तिपूजक, पराजित होने पर पैगम्बरी मतो के अनुयायियो (ईसाइयो, यहूदियो) को जज़िया देने पर जीवित रहने दिया जाता था, परन्तु मूर्तिपूजको के लिए प्राणदान के अतिरिक्त दूसरा मार्ग मुसलमान बन जाना ही था। अस्तु, हमारे देश का मध्ययुगीन इतिहास जौहरों से भरा पडा है। प्रेमचन्द-पूर्व-काल मे राष्ट्रीयता का आदर्श एक हजार वर्ष की बर्बरता से देश को मुक्त करना था जिसका चित्रण उपन्यास-क्षेत्र मे सर्वप्रथम बंकिमचन्द्र ने किया। मध्यकालीन सघर्ष की विशेषता यह है कि जो वयस्क क्षत्री पराजित होगये वे जीवित नही बचे, स्त्रिया जलकर स्वाहा हो गईं और पुरुष मारकाट मचाते हुए धराशायी हुए।

आधुनिक युग का इतिहास इस दृष्टि से कुछ भिन्न है। सन् १७५७ से विदेशी सौदागरों के भारत मे पैर जमने लगे और विदेशी सैनिक भारतीय युद्धो मे दोनो ओर से सम्मिलित होने लगे। प्लासी का युद्ध अग्रेजो और फ्रांसीसियो दोनो के सम्पर्क का फल था। सन् १७६५ में कम्पनी को बगाल मे दीवानी का अधिकार मिल गया। इससे पूर्व नवाबों ने जमीदारों से कस करके कर तो वसूल किए थे परन्तु उनको जमीन के

---

१. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वौल्यूम ३, पृ० ३

परम्परागत अधिकार से वंचित न किया था[1]। जहां-जहां अंग्रेजी प्रभाव बढा वहीं सैनिक और जमीदार जीविका से वंचित होते गए। जब कम्पनी ने देशी रियासतों को हडपना प्रारम्भ किया तो युद्धजीवी जातियाँ बिल्कुल आवारा बन गईं। केवल अवध में ही साठ हजार भारतीय सैनिक बेकार हुए जिनमें से केवल कुछ लोग ही पुलिस आदि मे लग सके थे[2]। देशी सैनिको को निकाल कर उनके स्थान पर अंग्रेजी सैनिको की नियुक्ति के फलस्वरूप, मध्यकाल से सर्वथा भिन्न इस आधुनिक युग में, हमारा देश ऐसे अनेक दलो से आक्रान्त हो गया जिनको लाचार होकर जीवित रहने के लिए बस्ती से दूर अपना सगठन करके केन्द्र बनाने पडे और लूटमार करके अपना काम चलाना पडा। 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास में प० बालकृष्ण भट्ट ने डाकुओ के एक ऐसे सरदार का चित्रण किया है जो सस्कारो से बहुत उच्च था और जो धनपतियो का धन लूट कर निर्धनो में बाटना अपना कर्त्तव्य समझता था। दुर्गाप्रसाद खत्री रचित 'लाल-पंजा' उपन्यास में 'डाकुओ के एक ऐसे दल का हाल है जो अमीरो को लूटकर गरीबो का घर भरते थे, वे कहके, सूचना देके, डाका मारते थे और जहा जाते थे वहा अपना चिन्ह लालपंजे का एक निशान छोड जाते थे'[3]।

इतिहास ने ठगो और पिडारियो की विस्तारपूर्वक चर्चा की है तथा अंग्रेजो को इनके नाश का श्रेय दिया है, परन्तु इस बात पर ध्यान नही दिया कि इस प्रकार के दल अंग्रेजो के आने पर ही भारत मे क्यो पैदा हो गए। सर विलियम ली-वार्नर ने इनको मनुष्य शरीर मे ऐसे भेडिये बतलाया है जो लूट तथा हत्या के आन्तरिक प्रेम के ही कारण आपस मे दल बनाकर रहते थे[4]। वे आगे लिखते हैं कि जिन प्रान्तों में ब्रिटिश राज्य था और जिन रियासतो मे अंग्रेजी रक्षा स्वीकार करने से सभ्य प्रभाव फैल गया था उनमे से निकाले गए युद्धजीवी, रक्त पिपासु साहसिक मध्यभारत मे इकट्ठे हो गए और अमीर खा, चीतू अथवा किसी भी अन्य सरदार के दल मे सम्मिलित होकर युद्धाक्रान्त प्रदेशो तथा शातिजीवी धनी प्रान्तो में लूट मार करने लगे[5]। एक दूसरे अंग्रेज इतिहासकार के अनुसार १८ वी शताब्दी मे अब भारत का भाग्य युद्धजीवी साह-सिको (मिलीटरी एडवेचरर्स) तथा निरकुश डाकुओ के हाथ मे खेल रहा था ठगो की

१. दि इकनौमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ४३

२. दि लाइफ आफ दि मारक्विस आफ डलहौजी, दि अनेक्सेशन आफ अवध, पृ० ३३८

३. विज्ञापन से।

४. दि नेटिव स्टेट्स आफ इण्डिया, पृ० १०६
'दे वर ए कम्यूनटी ऑफ ह्यूमन जैकाल्स, व्हू हर्डेड टुगैदर अट्रेक्टिड बाई दि लव ऑफ प्लंडर एण्ड मर्डर'।

५. वही, पृ० १०८,...दि सोल्जर्स आफ फौरचुन, एण्ड दि कट-थ्रोट्स एण्ड वैन्डिटी आफ इंडिया, ड्रिवन फ्रोम दि प्रोविन्सेज गवर्नड बाइ दि ब्रिटिश और फ्रोम दि प्रोटेक्टेड स्टेट्स इन व्हिच ए सिविलाइज्ड इन्फ्लयूएन्स हैड बिन इस्टेब्लिश्ड, शुड गैदर राउन्ड दि करकस इन सेन्ट्रल इंडिया, एण्ड जौयन दि स्टैंडर्ड्स ऑफ अमीरखां, चीतू, और एनी अदर लीडर व्हू कुड प्रौमिस दैम दि स्पौयल्स आफ सिविल वार एण्ड दि प्लन्डर आफ डिस्ट्रिक्ट्स एनरिच्ड बाई पीस।

संख्या बढ़ती चली गई और हैदराबाद से अवध तथा बुन्देलखण्ड से राजपूताना तक समस्त मध्यभारत में इन गुप्त हत्यारों को अपने कारनामे दिखाने का पूरा अवसर मिला[1]। लैफ्टीनैंट जनरल मैक्ल्योड इनेस के अनुसार सन् १८५७ की क्रान्ति में चतुर्थ दल, जो अपनी भावना तथा शक्ति के कारण विशेष घातक था, उन लोगों का था जिनके लिए अंग्रेजों की सत्ता आ जाने पर, राजनीतिक उथलपुथल एवं सैनिक शौर्य के द्वारा अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के पुराने मार्ग बन्द हो गए थे[2]। अस्तु, मध्यकाल से भिन्न, आधुनिक काल में, पराजित राज्यो के सैनिक जीविका-विहीन हो कर अपने शौर्य का दुरुपयोग करके असम्मानित जीवन बिताने पर बाध्य हुए। सैनिक-वृत्ति छिन गई थी, व्यापार समाप्त हो रहा था, आजकल की सी नौकरियां थी नही, भीख ये मांग न सकते थे। अतः शस्त्रजीवियों का शस्त्र प्रजा की रक्षा के लिए न उठ कर उन लोगो पर चलने लगा जो या तो इनके शत्रु बन इनको मार देना चाहते थे अथवा कुकर्मों से धन संचय करके गुलछर्रे उड़ा रहे थे।

इस शस्त्रजीवी वर्ग ने समकालीन साहित्य को दो प्रकार की प्रेरणा दी—एक मे विदेशीय दृष्टि थी और दूसरी में देशीय। विदेशीय दृष्टि से कर्नल टेलर ने अग्रेजी मे जो कथाएं लिखी उनमे 'कन्फेशन्स् आफ ए ठग' (सन् १८३९) का विशेष महत्व है। हिन्दी में इसका अनुवाद श्री रामकृष्ण वर्मा ने सन् १८८९ ई० मे 'ठग-वृत्तान्त-माला' नाम से किया, इसमे ठगो और पिडारियो के भयंकर उपद्रवो तथा घोर हत्याकाडो का वर्णन है। यह पुस्तक कुछ समय तक लोकप्रिय भी रही होगी, परन्तु साहित्य मे इस सरणि का अनुकरण उपन्यास-लेखको ने न किया। आगे चलकर 'पुलिस वृतान्त-माला' तथा 'कॉस्टेबल वृत्तान्त-माला' प्रकाशित हुई जिनमें उक्त पुस्तक की वर्णनात्मक छाप है। 'कहानी किस्से' और 'अद्भुत उपन्यास' से बढकर इन मालाओ का मूल्य नहीं था। देशीय दृष्टि से शस्त्रजीवी वर्ग ने 'तिलस्मी उपन्यास' को प्रेरित किया। 'तिलस्मी उपन्यास' के पात्रों में अंग्रेजी अत्याचार से सताए हुए जीविका-विहीन आवारा शस्त्रजीवी तथा मध्यकालीन संघर्ष में चमकते हुए वीर क्षत्री के गुणो का मिश्रित प्रतिफलन है। यद्यपि नायक एवं प्रतिनायक दोनों ही प्रायः हिन्दू हैं और पारस्परिक संघर्ष में प्रेम तथा आत्मसम्मान दोनों की रक्षा कारण बनी है, फिर भी पात्रों को मध्यभारत के बीहड वनो, घोर कन्दराओं, और ऊंची-नीची पहाड़ियों में नाम-रूप बदल कर जिन कठिनाइयों का सामना करना पडता है वे समकालीन शस्त्रजीवियों के जीवन से प्रभावित हुई होंगी—वीरकाव्य परम्परा में उनका वर्णन उपलब्ध नहीं है। 'इन्दुमती वा वन-विहंगिनी (सन् १९०६)

---

१. डेमोट्रियस सी० बौल्गेर : लार्ड विलियम बेंटिंग, पृ० ६९।

२. दि सिपोय रिवोल्ट, पृ० ८
'एएड ए फोर्थ ग्रुप, स्पेशली डेन्जरस फ्रोम दिअर स्प्रिट एएड एनर्जी, वाज फोर्मड बाइ दोज़ व्हू फ्लेटेड एट दि क्लोजिंग आफ दोज़ आउटलेट्स फौर एम्बीशन, एएड दि लौस आफ दोज़ औपरच्यूनिटीज फौर अग्रैन्डाइजमैंट थ्रू पोलिटिकल इन्ट्रिग और मिलटरी प्रोवेस, दैट हैड बीन करैंट आफ ओल्ड'।

'ऐतिहासिक उपन्यास' में किशोरीलाल गोस्वामी ने एक ऐसे क्षत्री का वर्णन किया है जो मुसलमान बादशाह की नीचता से युद्ध मोल लेकर और उसमें विजयवंचित होकर अज्ञातवास के लिए वन में चला जाता है तथा जिसकी प्रतिज्ञा है कि जो वीर पुरुष दुष्ट बादशाह से बदला लेगा उसके साथ वह अपनी एकमात्र पुत्री इन्दुमती का विवाह कर देगा। इस प्रकार के उदाहरण मध्यकालीन इतिहास में प्राप्य तो हैं परन्तु संख्या में अधिक नहीं, क्योंकि अधिकतर क्षत्री तो युद्धक्षेत्र में प्राण त्याग बैठे थे। बस्ती से दूर रहकर संगठन करते हुए सन्यासियों ने बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' उपन्यास में भी राजनीतिक आन्दोलन किया था, परन्तु वह भी तिलस्मी शौर्य से भिन्न है। किशोरी-लाल गोस्वामी के 'कटे मुंड की दो-दो बातें' उपन्यास मे तिलस्म का स्वामी कतलू खां डाकू है जिसने जमुर्रद पहाडी पर अपना गुप्त महल 'सीममहल' बना रखा था और जिसे अंग्रेजी सेना ने नष्ट किया था। इसी प्रकार 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास मे नायिका को लेकर राज-परिवारों में जो बद्धमूल वैर बढा उसका बदला लेने के लिए शिवदत्तसिंह अज्ञातवास मे चला गया और 'चन्द्रकान्ता संतति' मे अनेक घटनाओं का कारण बना। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि तिलस्मी उपन्यास पर वीर-काव्य-परम्परा एवं समकालीन शस्त्रजीवी-जीवन का सम्मिलित यथार्थ प्रभाव है।

तिलस्म

'तिलस्म' शब्द हिन्दी-भाषा का नहीं है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार पुरानी ग्रीक भाषा का 'टेलेस्मा' शब्द अरबी भाषा में 'तिल्सम' बना, अंग्रेजी में उसका रूप 'टेलिस्मन' है, इसके सामान्यतः दो अर्थ हैं—ताबीज, तथा जादू के लेख जो जिसके अधिकार मे हो उसको लाभ पहुँचाते हों। 'हिन्दी-साहित्य-कोश' के अनुसार 'यूनानी शब्द 'टेलिस्माने' से तिलस्म शब्द निकला है जिसका अर्थ है इन्द्रजाल, जादू, अलौकिक कारनामें'। श्री ब्रजरत्नदास के अनुसार 'तिलस्म शब्द का अर्थ है—ऐसी आश्चर्यजनक कल्पना जो दिखलाई न पड़े, कोष के रक्षार्थ नियत की गई भयावनी शक्ल या कुछ दवाओं तथा लग्नों के मेल से कोष पर बांधा हुआ यन्त्र आदि। यह शब्द अरबी में भी यूनान से आया हुआ जान पडता है। प्राचीन ग्रीक भाषा मे 'टेलेस्मा' शब्द मन्त्र-तन्त्र के लिए प्रयुक्त होता था, जिससे अंग्रेजी शब्द 'टेलिस्मन' बना है'[1]। अस्तु, 'तिलस्म' शब्द का आविर्भाव यूनानी के 'तिलेस्मा' तथा अरबी के 'तिल्सम' से माना जा सकता है। सन् ७११ में जब मुहम्मद ने सिन्ध पर चढ़ाई की और वह केवल नगर पर घेरा डाले पडा रहा तो नगर का एक पुजारी मुहम्मद से मिल गया। उसने बताया कि ब्राह्मणों ने एक तिलस्म बना कर भंगवा झंडे के नीचे रख दिया है। उसको नष्ट किये बिना मुहम्मद विजय प्राप्त नहीं कर सकता।[2] मुहम्मद ने अपने अश्वारोहियों की सहायता से पहले उस तिलस्म को नष्ट किया फिर नगर को जीत लिया। भारत में 'तिलस्म'

---

१. हिन्दी-उपन्यास, पृ० ४६

२. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वौल्यूम ३, पृ० २

शब्द सर्वप्रथम उसी दिन आया होगा, उससे पूर्व संस्कृत आदि भाषाओं में उसे कुछ और कहते होंगे।

'तिलस्म' शब्द सन् ७११ में आया परन्तु तिलस्मी विद्या का उपयोग भारत में पहले से ही चल रहा था। हो सकता है यूनानी अथवा असीरियन जातियो के सम्पर्क से अरबी और सस्कृत दोनों भाषाओ एवं उनके बोलने वालो मे यह शब्द और इसका उपयोग साथ-साथ ही आये हों। मूल 'तिलस्मा' शब्द अरबी भाषा में तो अधिक परिवर्तित न हुआ—उसे 'तिल्सम' कहने लगे, परन्तु सस्कृत में इसका अन्तिम अक्षर 'मा' ही रह गया, जिससे आगे चल कर 'मा' अथवा 'माया' शब्द लक्ष्मी, इन्द्रजाल, जादू-टोना, छल-कपट आदि अर्थो मे व्यवहृत होने लगे। यहाँ यह विवेचन सम्भव न होगा कि अथर्ववेद के इन्द्रजाल, माया आदि पर विदेशी प्रभाव है या नही। परन्तु यह निश्चय है कि रामायण-काल के असुर लोग माया-विद्या मे दक्ष थे, असुर मारीच ने राम को छलने के लिए मृग का रूप धारण कर लिया और सचमुच पुरुषोत्तम राम उसके पीछे धनुष-बाण लेकर चल दिये—'मरीचिका' के ऐसे उदाहरण आजकल के उपन्यासो में भी मिलते है, 'चन्द्रकान्ता सन्तति' मे इन्द्रजीतसिह को गिरफ्तार करने के लिए शिवदत्तसिह के ऐयार शेर का रूप धारण करके जगल मे दहाड़ते फिरते थे। असुरो ने दूसरा छल सीता के साथ किया कि राम और लक्ष्मण के साक्षात् रूप के दो सिर लाकर सीता को विश्वास दिलाना चाहा कि राम-लक्ष्मण मारे गये। 'चपला' उपन्यास मे भी चपला के सामने उसके प्रेमी की बनावटी कलाई लाकर उसे ऐसा ही विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया गया है। इस आसुरी विद्या के लिए असुर-लोग भाति-भाति के अनुष्ठान करते, और शक्तियो का आवाहन करते थे। यदि विभीषण ने राम को भेद न बताया होता तो रावण के सिर कटते रहते और साथ ही नये लगते रहते, उसका मरना सभव न था, क्योंकि मायारचित सिरो के कटने से मायावी का कुछ नही बिगडता। 'बग-सरोजिनी' उपन्यास मे नरेन्द्रसिह ने युद्ध करके तुगरल का सिर काट लिया और कुछ देर बाद 'अपरिचित' को दिखाया तो उसकी सम्मति मान कर गरम पानी से धोने से वह सिर तुगरल का न निकला। राम ने भी सावधान होकर एक माया-सीता का निर्माण कर लिया था, जिससे असुर छल करे तो भी असली सीता का कुछ न बिगाड सके। ये सारे चमत्कार 'ऐयारी' के अन्तर्गत आते है, परन्तु इनका प्रादुर्भाव असुरो की 'मा', 'माया', अथवा असीरियन जातियो के 'तिलेस्मा' से ही है।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास मे सिद्धबाबा से जब सुरेन्द्रसिह ने यह पूछा कि 'तिलिस्म किसे कहते है और क्यो बनाया जाता है ?' तो उन्होने तिलस्म का सिद्धान्त इस प्रकार समझाया :

'तिलस्म वही शख्स तैयार करता है जिसके पास बहुत माल-खजाना हो और कोई वारिस न हो। तब वह अच्छे-अच्छे ज्योतिषयों-नजूमियो से दरयाफ्त करता है कि उसके या उसके भाइयों के खान्दान में कभी कोई प्रतापी और लायक पैदा होगा या नहीं। आखिर ज्योतिषी और नजूमी इस बात का पता देते हैं कि इतने दिन के बाद

आपके खान्दान में एक लड़का प्रतापी होगा, बल्कि उसकी जन्मपत्री भी लिख कर तैयार कर देते हैं, उसी के नाम से खजाना और अच्छी-अच्छी कीमती चीजों को रखकर उस पर तिलस्म बांधते है।'

'आजकल तो तिलस्म बांधने का यह कायदा है कि थोडा बहुत खजाना रखकर उसकी हिफाजत के लिए दो-एक आदमी को बलि दे देते हैं, वह प्रेत या सांप हो कर उसकी हिफाजत करता है और कहे हुए आदमी के सिवाय दूसरे को एक पैसा लेने नहीं देता, मगर पहिले यह कायदा नही था। पुराने जमाने के राजो को जब तिलस्म बांधने की जरूरत पडती थी तो बडे-बडे ज्योतिषी-नजूमी, वैद्य, कारीगर और तान्त्रिक लोग इकट्ठे किये जाते थे। उन्ही लोगो के कहे मुताबिक तिलस्म बाधने के लिए जमीन खोदी जाती थी, उसी जमीन के अन्दर खजाना रख कर ऊपर तिलस्म-इमारत बनाई जाती थी। उसमे ज्योतिषी-नजूमी, वैद्य, कारीगर और तान्त्रिक लोग अपनी-अपनी ताकत मुताबिक उसके छिपाने की बन्दिश करते थे, मगर साथ ही उसके नक्षत्र और ग्रहों का भी ख्याल रखते थे, जिसके लिये वह खजाना रक्खा जाता था।'[1]

सामान्यतः जिसके सन्तान नही होती वह अपना अर्जित धन जमीन मे दबाकर मर जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि सर्प बनकर वह उसकी रक्षा करता रहता है। अधिक धनवान् लोग गुप्त स्थानो पर अपना कोष सुरक्षित रखते है और कभी-कभी उसका रहस्य मन मे छिपाये हुए ही ससार से चल बसते है। मध्ययुग मे अनेक राजा-महाराजा शत्रुओ से बचाने और आपत्काल मे सहायता लेने के लिए अपना कोष गुप्त स्थानो पर रखते थे, इसका पता किसी एक विश्वस्त मन्त्री को ही होता था; कई बार तो पुश्तैनी खजाने के विषय मे राजा को भी न बताया जाता था। लखनऊ के नवाबी खजाने की ऐसी खोज कई बार हो चुकी है। तिलस्म इनसे अधिक महत्व की वस्तु है। जितना अधिक ऐश्वर्य उनके अन्दर छिपा होगा उतना ही उस तिलस्म का महत्व समझना चाहिए, ऐसे तिलस्म सैकडो अथवा हजारो वर्षो मे कही मिलते है, और उसको जो तोडता है वह बडा नक्षत्री और भाग्यशाली होता है। वीरेन्द्रसिह ने तो चुनार का का तिलस्म तोडा था, परन्तु 'इस हजार वर्ष के अन्दर कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जिसने तिलस्म तोडा हो'[2]। किसी भी खडहर को देख कर जानने वाले अनुमान लगा लेते है कि यह 'कोई पुराना तिलस्म है' : 'मैंने अपने उस्ताद से सुना था कि सफेद चिउटिया जहा नजर पडे समझना कि वहां जरूर कोई खजाना या खजाने की चाबी है'[3]। अस्तु तिलिस्म का सम्बन्ध ऐश्वर्य से है, इसकी विजय के साथ सम्पति तथा यश दोनो जुडे हुए है।

तिलस्म बांधने में ज्योतिषी, वैद्य (रासायनिक), कारीगर (शिल्पी), तथा तान्त्रिक (मन्त्रसिद्ध आदि) की सहायता ली जाती है। शिल्पी तो अपनी कला से

१. चौथा हिस्सा, बीसवा बयान।
२. चन्द्रकान्ता सन्तति, पहला हिस्सा, पहला बयान।
३. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, इक्कीसवां बयान।

उसको मजबूत सुरक्षित, दुर्भेद्य, तथा रहस्यपूर्ण बनाता है। रासायनिक तरह-तरह के घोलों से उसकी सामग्री को सहस्रों वर्ष तक काम आने वाली बना देता है। ज्योतिषी और तान्त्रिक उसका भविष्य निश्चय कर देते हैं कि यह जिस व्यक्ति को प्राप्त होगा उसका क्या नाम होगा और उसका जीवन कैसा रहेगा। तिलस्म की सुरक्षा दो प्रकार से होती है। एक तो उसको बाधकर उसकी कुंजी किसी तेल के पात्र में रखने से जिसको मिलना चाहिए उसे स्वत: कुंजी प्राप्त हो जाती है। दूसरे किसी दरोगा की नियुक्ति से, यह दरोगा अपनी सन्तान को इसका रहस्य परम्परा से सिखला कर आवश्यक काल तक इसे गुप्त रहने देता है। पहिला साधन रसायन तथा ज्योतिष पर अधिक विश्वास करना है। दूसरे में इस प्रकार का ध्यान रखा जाता है कि यदि अनधिकारी किसी कारण से तिलस्म को तोड़े तो वह स्वयं नष्ट हो जाय।

तिलस्म जिस प्रकार बाधा जाता है उसी प्रकार तोड़ा भी जाता है। तेजसिंह ने ज्योतिषी जी से कहा—'आप रमल और नजूम से पता लगाइए कि यह तिलस्म किस तरह और किसके हाथ से टूटेगा'[1]। रातभर ज्योतिषी जी रमल फेंकने और विचार करने में लगे रहे। प्रातःकाल उन्होंने कहा—'रमल से मालूम होता है कि इस तिलस्म के तोड़ने की तरकीब एक पत्थर पर खुदी हुई है और वह पत्थर भी इसी खण्डहर में किसी जगह पर पड़ा हुआ है।' खण्डहर को देखते-भालते सब लोग चबूतरे के पास आये जिस पर पत्थर का आदमी हाथ में किताब लिये सोया हुआ था। ज्योतिषी ने कहा—'तुम एक कागज पर इसकी नकल उतार लो'। वे लोग घूम-घूम कर आठ पहल का खम्भा या चबूतरा तलाश करने लगे। ज्योतिषी जी ने कहा—'बस यही खम्भा है, इसी का पता उस किताब में लिखा है, इसी के नीचे जमा-पूंजी यानी वह पत्थर जिसमें तिलस्म तोड़ने की तर्कीब लिखी हुई है, गड़ा है। यह भी मालूम हो गया कि यह तिलिस्म कुमार के हाथ टूटेगा, क्योंकि उस किताब में जिसकी नकल कर लाये हैं इसका अन्दाज ६ हाथ ३ अंगुल लिखा है सो कुमार ही के हाथ से पूरा हुआ, इससे मालूम होता है कि यह तिलस्म कुमार ही के हाथ से फतह होगा।'[2] ज्योतिष और किताब के बिना न ऐयारी सफल होती है और न तिलस्म टूटता है। यह किताब सांकेतक भाषा में खुदी थी, अन्य चालबाजियों के साथ-साथ किताब को अपने हाथ में करने की भी ऐयार लोग कोशिश किया करते थे। 'भूतनाथ' उपन्यास में प्रभाकरसिंह ने रामदास से धोखा खाया, उसने ऐयारी के बटुये में से बड़ी सावधानी से बेहोशी की दवा निकाली और प्रभाकर सिंह को सुंघा दी, जब उसे विश्वास हो गया कि वे बेहोश हो गये तो उनकी जेब में से वह किताब निकाल ली जिसमें इस तिलस्म का कुछ हाल लिखा हुआ था।[3] सिद्धनाथ बाबा को मालूम हो गया था कि 'यह पहाड़ी एक छोटा-सा तिलस्म है और चुनार के इलाके में भी कोई तिलस्म है जिसके हाथ से यह टूटेगा उसकी शादी जिसके साथ होगी

१. चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, तेईसवां बयान।
२. वही, चौबीसवां बयान।
३. तीसरा हिस्सा, तीसरा बयान।

उसी के दहेज के सामान पर यह तिलस्म बंधा है और शादी होने के पहिले ही वह इसकी मालिक होगी'[1]।

पुस्तक के अतिरिक्त तिलस्म खोलने (पुरुष के हाथ से तिलस्म टूटता है, नारी के हाथ से यह खुलता है) का दूसरा मार्ग तिलस्म की कुंजिया प्राप्त करना है। जब सिद्धबाबा ने दीवाल की जड के सूराख से सफेद चीटियों को निकलते देखा तो उनको विश्वास हो गया कि खजाना या खजाने की कुंजी उसी छिद्र मे है। उसने कमर से खजर निकाल कर कुमारी चन्द्रकान्ता के हाथ मे दिया और कहा कि तुम इस जमीन को खोदो'''हाथ ही भर के बाद काच की छोटी-सी हाडी निकली जिसका मुह बन्द था''' उसके भीतर किसी किस्म का तेल भरा हुआ था जो हाडी के टूटते ही बह गया और एक तांबी का गुच्छा उसके अन्दर से मिला[2]। उस गुच्छे मे तीस तालिया थी, जिनसे तीसो ताले खुलते थे। इस प्रकार के तिलस्म की विशेषता यह है कि जिसके हाथ खुलना होता है उसके सहायक को देवयोग से इसके रहस्य का पता लग जाता है। शौर्य का अभाव होने के कारण इस प्रकार के तिलस्म का वर्णन कम है।

तिलस्म का दरोगा अपने आपमे एक विशिष्ट व्यक्ति है। इस पद पर दो प्रकार के लोग नियुक्त होते हैं। एक तो वे जो पैत्रिक परम्परा से तिलस्म की रक्षा करते हुए गुप्त स्थान पर साधु आदि के वेष मे रहते हैं। दूसरे वे जिनकी नौकरी इस पद पर होती है, वे रक्षक या स्वामी नही होते। घाटी मे भूतनाथ की निगाह एक साधु पर पडी जो बुड्ढा, और तपस्वी जान पडता था, उसके सिर और दाढी के सफेद बाल बहुत घने और लबे थे। साधु ने कहा—'अगर तुम इस घाटी मे अपना कब्जा बनाये रहोगे और तुम्हारी चाल-चलन अच्छी देखूंगा तो एक दिन तुमको उस तिलस्म का दारोगा भी बना दूगा क्योकि अब मे बहुत बुड्ढा हो गया हू और तिलस्म के नियमानुसार अपने बाद के लिए किसी न किसी को दारोगा बना देना बहुत जरूरी है।'[3] साधु की बात सुनकर भूतनाथ बहुत ही प्रसन्न हुआ। वह जानता था कि तिलस्म का दारोगा बनना कोई मामूली बात नहीं है, उसके कब्जे मे बेअन्दाज दौलत रहती है और उसकी ताकत तिलस्मी सामान की बदौलत मनुष्य की ताकत से कही बढ-चढकर रहती है। '' तिलस्मी दारोगा होने के कारण ही इन्द्रदेव कैसे चैन और आराम के साथ रहता है, दुश्मनो का उसे जरा भी डर नही है और वास्तव में उसके दुश्मन उसका कुछ भी बिगाड नही सकते'।[4] 'चन्द्रकान्ता सन्तति' मे शिवदत्तसिह के ऐयार ने बाबाजी का वेष धारण कर इन्द्रजीतसिह को फंसाने के लिए अपने को तिलस्म का दरोगा बतलाया : 'मेरे परदादा, दादा और बाप उसी तिलस्म के दारोगा थे. जब मेरे पिता का देहान्त होने लगा तब उन्होंने उसकी

---

१. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, बीसवां बयान।
२. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, इक्कीसवा बयान।
३. भूतनाथ, दूसरा हिस्सा, छठवां बयान।
४. वही।

ताली मेरे सुपुर्द कर मुझे उसका दारोगा मुकर्रर कर दिया। अब वह वक्त आ गया है कि मैं उसकी ताली तुम्हारे हवाले करूँ, क्योंकि वह तिलस्म तुम्हारे ही नाम पर बाधा गया है और सिवाय तुम्हारे कोई दूसरा मालिक नहीं बन सकता'[1]। दरोगा का पद बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण है, अपने जीवन-काल मे उसे ऐसा व्यक्ति तलाश कर लेना पड़ता है जो तिलस्म की रक्षा को अपना पवित्र कर्तव्य मान कर वर्तमान दरोगा की मृत्यु के बाद उस बोझ को अपने ऊपर ले सके। यह व्यक्ति दारोगा का पुत्र भी हो सकता है तथा अन्य कोई योग्य अधिकारी भी। दूसरे प्रकार के दारोगा, जो नौकरी करते हैं, अपने जीवन-काल के लिए ही नियुक्त होते है, वे न मालिक है और न इनके कोई विशेष अधिकारी है। ये ऐसे तिलस्म के रक्षक होते है जिनका स्वामी स्वय जीवित है। 'भूतनाथ' उपन्यास मे जमानिया तिलस्म[2] का दारोगा इसी प्रकार का है जो विश्वासपात्र तथा चालाक होने के कारण इस पद पर नियुक्त किया गया है। दारोगा का पद स्त्री को भी मिल सकता है, 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में एक औरत जो मायारानी के नाम से पुकारी जाती है उस तिलस्म का राज्य करती है'[3]।

यद्यपि तिलस्म कोष की विशेष काल तक रक्षा के लिए बनाया जाता है फिर भी यह केवल खजाने की कोठरी-मात्र नही है। तिलस्म एक किले के समान है जो अपने आप में सब सुविधाओ से पूर्ण होता है। मनुष्य-जाति तो उसमे नही होती, शेष सभी बातें एक सुन्दर नगर के समान होती है। मीठे पानी की नहर, फलो के वृक्ष, साफ-सुथरे स्थान, अमूल्य रत्न-राशि, सब कुछ उसके अन्दर मिल जायेगा। तिलस्मी इमारत कितने क्षेत्रफल में हो सकती है इसका अनुमान कठिन है, क्योंकि वह तो एक बडा नगर है—नगर से भी बडा जिसमे पहाडिया और नहरे भी होती हैं। इमारत इस प्रकार की बनी होती है कि उसकी किवाडे अपने आप खुल जाती और बन्द होती रहती हैं, पौदो मे पानी स्वयं लगता रहता है, सफाई हुई ही रहती है। चुनार के तिलस्म का वर्णन देखिए :

"नीचे एक लम्बी-चौडी कोठडी नजर आई जिसके चौखट मे किवाड के पल्ले नही थे। पहिले चपला ने खूब गौर करके देखा फिर अन्दर गई। दरवाजे के भीतर पैर रखते ही ऊपर वाली चौखट के बीचो-बीच से एक लोहे का तख्ता बडे जोर के साथ गिर पड़ा। चपला ने चौक के पीछे देखा तो दरवाजा बन्द पाया।"

"घूमते-घूमते चपला का पैर एक छोटे से गड्ढे में जा पडा साथ ही उसके एक आवाज़ हुई और दरवाजा खुल गया, और कोठड़ी में चांदना भी पहुच गया। यह वह दरवाजा नही था जो पहिले बन्द हुआ था, बल्कि यह दूसरा दरवाजा था।"

"आखिर उस दरवाजे की राह से कोठड़ी के बाहर हो एक बाग में पहुंची, देखा कि छोटे-छोटे फूलों के पेडों मे रंगबिरंगे के फूल खिले हुए हैं। बाग के एक तरफ से

१. पहिला हिस्सा, पहला बयान।
२. तीसरा हिस्सा।
३. छठवां हिस्सा, पांचवां बयान।

छोटी नहर के जरिये से अन्दर पानी पहुच कर बाग मे छिडकाव का काम दे रहा है, मगर क्यारियां उसमे की कोई भी दुरुस्त नही है ।"

"जैसे-जैसे रात बीतती जाती थी बारहदरी की चमक भी बढती जाती थी। छत, दीवार, जमीन, खभे सब चमक रहे थे। कोई जगह उस बारहदरी मे ऐसी न थी जो दिखाई न देती हो। बल्कि उसकी चमक से सामने वाला थोडा हिस्सा बाग का भी उजाला हो रहा था।"

"अजदहे को देखने के लिए चपला उसके पास गई। संगमर्मर के पत्थर पर पैर रक्खा ही था कि धीरे-धीरे उस अजदहे ने दम खीचना शुरू किया, बल्कि यहा तक तेजी से उसने दम खीचा कि चपला का पैर न जम सका। वह खिचकर उसके पेट में चली गई साथ ही जाने से बेहोश भी हो गई।"[1]

प्रभाकरसिह जिस तिलस्म मे पहुचे वह और भी विचित्र था। "कई कोठडियो मे घूमते फिरते वे एक ऐसी कोठडी मे पहुचे जो लम्बाई-चौडाई में वहा की सब कोठडियो से बडी थी। वहा चारो तरफ की दीवारो मे बडी-बडी बारह आलमारिया बनी हुई थी और उन सभी के ऊपर नम्बर लगे हुए थे। सात नम्बर की आलमारी उन्होने किसी गुप्त रीति से खोली और उसके अन्दर चले गये। नीचे उतर जाने के लिए सीढिया बनी हुई थी अस्तु उसी राह से प्रभाकरसिह नीचे उतर गये और एक दालान मे पहुंचे। देखा कि दालान बहुत चौडा है और यहा की जमीन मे बहुत-सी लोहे की नालिया बनी हुई हैं जो सडक का काम देने के लिए है तथा उन पर छोटी-छोटी बहुत-सी गाडिया रखी हुई हैं जिन पर सिर्फ एक आदमी के बैठने की जगह है।

"प्रभाकरसिह एक गाडी के ऊपर सवार हो गये जिसकी पीठ पर 'केन्द्र' लिखा हुआ था। सवार होने के साथ ही गाडी चलने लगी। दालान के बाहर हो जाने पर मालूम हुआ कि वह किसी सुरग के अन्दर जा रही है। जैसे-जैसे वह गाडी आगे बढ़ती जाती थी तैसे-तैसे उसकी चाल भी तेज होती जाती थी और हवा के झपेटे भी अच्छी तरह लग रहे थे।

"आध घटे तक तेजी के साथ चले जाने के बाद गाड़ी एक ठिकाने पहुंच कर रुक गई। प्रभाकरसिह ने आखे खोलकर देखा तो उजाला मालूम हुआ। जब प्रभाकरसिह गाडी से नीचे उतर पड़े तो वह गाडी पीछे की तरफ उसी तेजी से साथ लौट गई जिस तेजी से यहा आई थी।"[2]

इस वर्णन से यह सिद्ध है कि उस तिलस्म के अन्दर कम-से-कम २० मील की सडक तो एक रही ही होगी जहा पहुचने मे तेज चलने वाली बिजली की गाड़ी आधा घटा लेती थी।

तिलस्म के समान ही रहस्यमयी कुछ इमारते है जो तिलस्मी कारीगरी से ही

१. भूतनाथ, तीसरा हिस्सा, तीसरा बयान।
२. भूतनाथ, तीसरा हिस्सा, तीसरा बयान।

बनाई जाती हैं। इनका तिलस्म से एक तो यह अन्तर है कि इन में खजाना नहीं होता और दूसरा यह कि इनका किसी विशेष व्यक्ति के हाथ से टूटना आवश्यक नही। तिलस्म से इन इमारतों की एक ही समानता है कि तिलस्मी कारीगरी के कारण ये रहस्यमयी होती हैं और इनका मार्ग भी किसी पहाड़ी खडहर, या वन-बीहड से मिलता है। 'तिलस्मी सीसमहल' उपन्यास में किशोरीलाल गोस्वामी ने भोपाल राज्य की जिस जमुर्रद पहाडी का वर्णन किया है वह 'तिलस्म' नही है—'तिलस्मी' मात्र है। अधिकतर उपन्यास-लेखक 'तिलस्म' और 'तिलस्मी' इमारत का भेद नहीं कर पाए, परन्तु देवकीनन्दन खत्री की दृष्टि में दोनों अलग-अलग थे। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यास में 'बड़े-बड़े ताज्जुब के खेल और अद्भुत बातो' को दिखाते हुए लेखक ने पाठकों के समझने पर स्वयं सन्देह किया है और उनको बतला दिया है कि यह वर्णन तिलस्म का नहीं है : 'इस जगह बहुत ही अद्भुत बातो को पढ़कर आप ऐसा न समझ ले कि यह तिलस्म है और इसमें ऐसी बातें हुआ ही करती हैं·····इस सन्तति के चार हिस्सो में तो तिलस्म का नाम भी न लेंगे'[1]। जो वर्णन किया गया है वह चारों तरफ से चार खूबसूरत पहाडियों से घिरी हुई लगभग हजार गज चौडी और इतनी ही लम्बी जमीन का है, जहां कुदरती बगीचा, झरने, और फलो के वृक्ष है ; बीचो बीच में एक आलीशान इमारत बनी हुई है, इसमे पन्द्रह-बीस नौजवान और खबसूरत औरतो का डेरा है। इस प्रकार की इमारते प्रायः दो कामो मे आती थी—बन्दी घर तथा विलास भवन। किशोरीलाल गोस्वामी के 'मल्लिकादेवी वा बंगसरोजिनी' उपन्यास में महाराज महेन्द्रसिंह को कैद करके तुगरल ने यह घोषित कर दिया कि वे मर गए हैं। जमालपुर की पहाड़ी मे यह कैदखाना था। पहाडी में आधकोस तक बराबर ऊबडखाबड पगडडियो मे चलकर एक अंधेरी गुफा आती थी, जिसके अन्दर जाकर दीवाल पर अजगर की लटकती हुई मूर्त्ति बडी सुन्दर बनी थी। फरहाद ने एक ताली उस अजगर की चमकती हुई आँख में गड़ा कर घुमाई, फिर वह ताली खीचकर वह कुछ पीछे हट गया और कुछ ही क्षण के उपरान्त एक तडाके का शब्द हुआ और उस अजगर के नीचे की एक पत्थर की पटिया न जाने किधर अन्तर्धान हो गई ; फिर वहाँ जो सीढ़िया दिखलाई देती थी उन्ही के द्वारा सब कोई बारी-बारी से नीचे उतर गए'[2]। 'राजकुमारी' उपन्यास में दीवान ने राजा को एक ऐसे तिलस्मी मकान में कैद कर लिया था जिसका मार्ग पीपल के पेड पर से था। 'कमर से ताली निकाल कर उस कोठरी के पूरब ओर वाली दिवार मे बनी हुई साँप की आँख मे ताली गडाकर कई बार दहने-बाएं घुमाई जिससे एक तडाके की आवाज के साथ उस दीवार की एक पटिया, जो कि स्याह पत्थरों से बनी हुई थी, अलग हो गई और एक आदमी के घुस जाने लायक राह बन गई।

---

१. पहला हिस्सा, ग्यारहवां बयान।

२. बारहवां परिच्छेद, पृ० ७६

रोशनी, कटोर और ताली का गुच्छा लिए हुए दीवान उसमें घुस गया'[1]। विलास-भवन वाली इमारत का वर्णन 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास में भी है। जब वीरेन्द्रसिंह की नींद खुली तो वे अपने डेरे पर नही थे, बल्कि एक सजे हुए कमरे में पहुचे हुए थे, 'यह एक बहुत भारी दीवानखाना है जिसके तीन तरफ संगमर्मर की दीवार चौथी तरफ बड़े-बड़े खूबसूरत दरवाजे है जो इस समय बन्द हैं।...ऊपर चारों तरफ बड़ी-बड़ी खूबसूरत और हसीन औरतों की तस्वीरे लटक रही थीं.....कुमार की निगाह तमाम तस्वीरों पर से दौड़ती हुई उस बडी तस्वीर पर आकर अटक गई'[2]। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'पन्नाबाई' उपन्यास में अकबर की एक तिलस्मी चित्रशाला[3] का वर्णन किया है जिसमें नायिका-भेद के उदाहरण से अनेक स्त्रियो के वासनोत्तेजक चित्र बने हुए थे। वस्तुत: विलास-भवन वाली इमारते रईसों ने अपने व्यक्तिगत मनोरजन के लिए बनवाईं थीं, इनमे प्रवेश की आज्ञा किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं थी।

तिलस्म के कुछ नियम हैं जिनका पालन प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। जो उनका पालन नही करता उस पर दैवी अभिशाप आ गिरते हैं। सबसे प्रथम यह है कि तिलस्म का रक्षक अपने वैयक्तिक जीवन मे चाहे जितने छल-छिद्र करे, परन्तु तिलस्म की शर्तों के सामने उसे नतमस्तक होना चाहिए। मान लीजिए कि किसी रक्षक के मन मे पाप आ गया और वह अधिकारी के हाथ से तिलस्म को बचा कर अपने अथवा किसी अन्य व्यक्ति के हाथ सौप देना चाहता है तो उसने वही पाप किया जो किसी की धरोहर पचा लेने या नष्ट करने से होता है और ईश्वर उस रक्षक को कठोर दण्ड देगा। इसीलिए दारोगा लोग बडी पवित्रता से अपने कर्त्तव्य का पालन किया करते हैं। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' मे कमलिनी की सगी बहिन मायारानी के मन मे ऐसा ही पाप आ गया था। 'हमारी तिलस्मी किताब से साबित होता है कि कुँअर इन्द्रजीतसिंह और आनन्दसिंह उस तिलस्म को तोडेगे क्योकि तिलस्म तोडने वालो के जो लक्षण उस किताब म लिखे हैं वे सब इन दोनो भाइयो मे पाए जाते है; अस्तु माया रानी चाहती है कि तिलस्म टूटने न पावे और इसीलिए वह दोनो कुमारों को अपने कैद मे रखने अथवा मार डालने का उद्योग कर रही है'[4]। कमलिनी यह जानती थी कि तिलस्म बनाने वालो के खिलाफ चलने और इन दोनो भाइयो से दुश्मनी रखने का नतीजा अच्छा न होगा। अन्त मे मायारानी को पराजित होना पडा और तिलस्म बनाने वालो की इच्छानुसार दोनो कुमारों के हाथ से ही तिलस्म टूटा। दूसरा नियम यह है कि तिलस्म पर कोई भी अस्त्र शस्त्र, जादू-विद्या, ज्योतिष-तन्त्र काम नही करता ये चीजे तिलस्म की सहायक है उसके विरोध मे सफल नही हो सकती। उदाहरण के लिए अगर कोई आदमी रमल फैक कर यह पता लगाना चाहे कि इस तिलस्म को

१. उन्नीसवा परिच्छेद, पृ० ८६
२. तीसरा हिस्सा, ग्यारहवा बयान।
३. प्रथम भाग
४. छठवां हिस्सा, पांचवां बयान।

तोडने की युक्ति कहाँ अंकित होगी तो रमल केवल उस समय सफल हो सकता है जब रमल फेकने वाला उस व्यक्ति की आज्ञा से और सच्चे हृदय से उसी के लाभ के लिए पता कर रहा हो जिसके हाथ से तिलस्म का टूटना बाँधने वाले को अभीष्ट है। कुमार ने ज्योतिषी जी से कहा कि आप रमल से शिवदत्त के छूटने का हाल बताइए; तो ज्योतिषी जी बोले—'जी नही, तिलस्म मे रमल काम नही करता और वह तहखाना तिलस्म है जिसमें महाराजा शिवदत्त कैद किए गए थे'[1]। तीसरा नियम यह है कि जिसके हाथ से तिलस्म का टूटना अभीष्ट है उसके हाथ से टूट ही जाना चाहिए। यदि किसी कारणवश वह उसको नहीं तोडता तो उस पर ऐसी आपत्तियाँ आवेगी जो उसे तिलस्म तोड़ने को बाध्य कर देगी। चन्द्रकान्ता' उपन्यास मे चन्द्रकान्ता इसीलिए कैद हो जाती है कि वीरेन्द्रसिह उस तिलस्म को तोडे, फलत जब वे अगम्य पर्वत के ऊपर निस्सहाय नायिका को दु खदग्ध देखते है तो उनमे तिलस्म तोडने का जोश आ जाता है , किसी असामान्य वीर पुरुष पर आपत्तिया आती ही इसीलिए है कि उसके हाथ से कोई महान् कार्य सम्पादित होना चाहता है; सिद्धनाथ योगी के शब्दो मे 'अगर मैं कुमारी को यहा से निकालकर आपके पास पहुचा देता तो कुमार उस तिलस्म को तोडना बन्द कर देते और यहाँ का खजाना भी यो ही रह जाता'[2]। कई बार एक तिलस्म का सम्बन्ध दूसरे तिलस्म से होता है, और जब एक तिलस्म या उसके कुछ भाग टूट जाते है तभी दूसरा टूटता है उसमे पूर्व नही। इस पूर्वापर का उल्लघन स्वय तिलस्म का तोडने वाला भी नही कर सकता। 'इसका लगाव उस तिलस्म से था जिसे कुमार ने तोडा है, वह तिलस्म या उसके कुछ हिस्से अगर न टूटते तो यह तिलस्म (चन्द्रकान्ता वाला) कभी न खुलता'[3]। लगाववाले तिलस्म या तो उनके नाम वर्ये होते है जिनका आपस मे विवाह होना है (जैसे 'चन्द्रकान्ता' मे) अथवा उनके नाम जो अत्यन्त ही निकट सम्बन्धी पिता-पुत्र या भाई-भाई (जैसे 'चन्द्रकान्ता सन्तति' मे) हो। इस प्रकार ऐसा लगता है कि तिलस्म तो प्राकृतिक नियम अथवा धर्म का ही एक दूसरा पर्याय बन गया है—अपने आप मे पूर्ण समर्थ, न्यायी, पालक आदि गुणो से सम्पन्न।

तिलस्म के सम्बन्ध मे पाठको के मन मे सदा यह प्रश्न उठता रहा है कि क्या यह सत्य है क्या यह संभव है। इसमे दो मत नही कि तिलस्मी वर्णन कवि कल्पना की सूझ है। परन्तु प्रश्न यह है कि वह कल्पना अनर्गल दौडती फिरती है अथवा किसी निश्चित सिद्धान्त से अनुशासित होती है। देवकीनन्दन खत्री ने इस प्रश्न का उत्तर अपनी रचनाओ में कई स्थलो पर दिया है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास को समाप्त करते हुए चौथे हिस्से के बीसवे बयान में उन्होने सिद्धनाथ योगी और सुरेन्द्रसिह की बातचीत के बहाने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि तिलस्म किसे कहते हैं और क्यों बनाया जाता है। उसी प्रसंग मे उन्होने लिखा है कि 'एक-एक बात को खूब गौर से सोचिए तो आप

१. चन्द्रकान्ता, तीसरा हिस्सा, नौवां बयान।
२. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, एक्कीसवां बयान।
३. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, बीसवां बयान।

ही मालूम हो जाएगा कि ज्योतिषी नजूमी, कारीगर और दर्शनशास्त्र (-तन्त्र) को जानने वाले क्या-क्या काम करते थे।' 'चन्द्रकान्ता सन्तति' मे वे वर्णन करने पर कहते है कि 'इसी तरह हमारे पाठक महाशय भी ताज्जुब करते और सोचते होंगे कि यह तमाशा सभव है या असम्भव, मगर उन्हे समझ रखना चाहिए कि दुनिया में कोई बात असभव नही है, जो अब असभव है वह पहिले जमाने मे संभव थी और जो पहिले जमाने मे असभव थी वह आज सभव हो रही है'। इन कथनो में लेखक का यही अभिप्राय है कि जिन बातो का वर्णन किया गया है वे सत्य तो नही हैं परन्तु सभव अवश्य है। आगे चलकर खत्री जी ने अपनी दृष्टि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है जो सामान्यत सभी तिलस्मी उपन्यासो पर लागू होने के साथ-साथ घटनात्मक उपन्यास की समीक्षा के लिए एक सतुलित मापदड प्रस्तुत करता है। खत्री जी 'सतति' के अन्त में लिखते है —

"मित्रो ने सवाद-पत्रो मे इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका कथानक सभव है कि असभव। मै नही समझता था कि यह बात क्यो उठाई और बढाई गई ? जिस प्रकार पचतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थ बालको की शिक्षा के लिये लिखे गये उसी प्रकार यह लोगो के मनोविनोद के लिये, पर यह सभव है कि असभव, इस विषय मे कोई यह समझे कि चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्रसिह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक है तो बडी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह एक छोटा-सा नमूना है। अब रही सम्भव-असभव की बात। इसका विचार प्रत्येक मनुष्य की योग्यता और देश-काल-पात्र मे सम्बन्ध रखता है।"

लेखक के निष्कर्ष तीन हैं—(१) यह रचना मनोविनोद के लिए है, (२) इसमे ऐतिहासिक सत्य नही है, (३) जिन वस्तुओ का इसमे वर्णन है वे आज सम्भव नही परन्तु भविष्य मे हो सकती है और अतीत मे रही हो तो कौन जानता है। वस्तुत विवाद का केन्द्र तो अन्तिम निष्कर्ष ही है जिसमे लेखक ने सम्भावना को स्वीकार किया है। किशोरीलाल गोस्वामी के सम्मुख भी यही प्रश्न आया था जिसका उत्तर उन्होने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई' मे दिया है, 'तिलस्म की कुल बाते जो कुछ कि किताबो मे लिखी जा चुकी है सही वो दुरुस्त है और वे हिकमत की कारीगरी से खाली नही है'[1] उन्होने तिलस्म की दूरारूढ तुलना योग से की है और बडे-बडे तिलस्मो का सम्बन्ध प्राय योगियो से दिखा दिया है। 'राजकुमारी' उपन्यास मे योगिराज सबके सामने 'अजायबघर' का रहस्य बतलाने लगे. 'आज से दो सौ वर्ष पहले मै ज्योतिषी का काम करता था और शिल्प-विद्या मे मेरी बडी रुचि थी। सयोग से काशी मे तुम्हारे परदादे से मेरी भेट हुई···और उन्होने मेरी सलाह से यह अजायबघर आदि सारी इमारते बनवाईं।'[2] वस्तुत: गोस्वामी जी ने खत्री जी से स्वतन्त्र कोई बात नही कही, योग बीच मे आ गया है, अन्यथा ज्योतिष

१ पन्नाबाई, प्रथम भाग, पृ० ११५

२ तेतीसवा परिच्छेद, पृ० १६२

एवं शिल्पविद्या के संयोग से ही तिलस्म तैयार होता है—तान्त्रिक विद्या एवं रसायन-विद्या को शिल्पविद्या का एक विशेष सहायक मान कर।

'संभावना' के प्रश्न का जो उत्तर खत्री जी ने दिया है वही कलाकार को देना भी चाहिए। यदि जोनाथन स्विफ्ट के 'गुल्लिवर्स ट्रैवेल्स' (सन् १७२६) मे समकालीन लोगों की तुच्छता पर व्यग्य है तो खत्री जी का 'चन्द्रकान्ता' समकालीन युवकों को उत्साहित करने मे सफल है—इस विषय पर विस्तृत विचार आगे किया जायेगा। जिज्ञासु के समक्ष पुराना प्रश्न आज भी नवीन बना हुआ है। परन्तु विज्ञान के नित्य नये आविष्कार एवं इतिहास की निरन्तर प्राचीन खोज इस सभावना को उस काल की अपेक्षा आज अधिक स्वीकार करा सकते है। मिस्र देश मे राजा के मरने पर उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति उसके साथ भूमि में गाडकर जो पिरामिड बनाया जाता था उसकी परीक्षा करने पर भी आज का विज्ञान यह नही जान पाया कि पत्थर का इतना बडा पिण्ड बनाया कैसे जाता था। हडप्पा में जो खुदाई हुई है उससे लोग समझते हैं कि प्रागैतिहासिक युग के निवासी शिल्प एवं कला में अपने विजेताओ से कई गुना अधिक आगे थे। पौम्पाई नगर की खुदाई से सब आश्चर्यचकित हो गये कि इतने वर्षों से पथ्वी के भीतर छिपा हुआ वह नगर इतना ठीक-ठाक निकल आया। जुलाई १९३४ की 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के अनुसार पंजाब मे एक तिलस्म पाया गया था, जिसकी रक्षक एक मूर्ति थी, 'जो आदमी उस मूर्त्ति के पास जाता है उसे वह पकड कर टुकड़े-टुकड़े कर डालती है।' 'धीरे-धीरे लोगो ने समझा कि पुष्पक विमान की कल्पना निराधार नही थी, संजय इतनी दूर बैठकर भी युद्ध देख सकते थे, आकाशवाणी सुनी जा सकती है, कोई भी व्यक्ति आकाश-मार्ग से दौड सकता है, आग लग सकती है, आंधी आ सकती है। विज्ञान ने यह विश्वास दिला दिया है कि अपने आप दरवाजा खुल सकता है, आप अन्दर चले जायं तो अपने आप बन्द भी हो सकता है। सुरगे तो अविश्वास की वस्तु पहिले भी नही रही। अतः यह सम्भव है कि किसी भी दिन हमको यह विश्वास आ जाय कि मारीच हिरन बनकर राम के सामने से दौड सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि तिलस्म मे वर्णित वस्तुओ पर जितना विश्वास खत्री जी के सामने किया जाता रहा होगा उससे अधिक की सभावना आज दिन-प्रतिदिन होती चली जा रही है। अन्तर केवल एक है कि ज्योतिष का महत्व तिलस्म मे स्वीकार करना आज पहिले की अपेक्षा कठिन है; विज्ञान प्रकृति को जड़ जानकर उसके समस्त सिद्धान्तो को जड मान लेता है, यह नही जानता कि जड के भीतर भी चेतन सिद्धान्त व्याप्त है, उसकी दृष्टि में क्रिया का फल है भावना का नही। अतः विज्ञान ने जहा तिलस्म को अधिक सम्भव बना दिया है वहां उसके सूक्ष्म सिद्धान्तो में अविश्वास भी पैदा कर दिया है।

ऐयार

तिलस्मी उपन्यास का प्राण ऐयार है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास मे नायक वीरेन्द्र सिह को तो 'सिर्फ अपनी ताकत का भरोसा है' परन्तु ऐयार तेजसिह को 'अपनी ताकत

और ऐयारी दोनों का'[1]। प्रारम्भ में पाठक का ध्यान नायक की अपेक्षा ऐयारों पर अधिक जाता है, क्योंकि नायक की समस्त शक्ति उसके ऐयार ही हैं। शिवजी के गणों के समान सारा काम ऐयार ही करते हैं, नायक तो मानो केवल फल भोक्ता-मात्र रह जाता है। खत्री जी के अनुसार 'ऐयार उसको कहते हैं जो हर एक फन जानता हो, शक्ल बदलना और दौडना उसका मुख्य काम है'[2]। वस्तुत: ऐयार शब्द का अर्थ 'शीघ्र गामी', अथवा 'चपल' है; जो व्यक्ति भौतिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से चपल अथवा चालाक हो उसे अरबी भाषा में 'ऐयार' कहते हैं। ऐसे लोगो का राजनीतिक महत्व हो गया, जिस राजा के पास जैसे ऐयार होंगे वैसी और उतनी ही उसकी शक्ति होगी। जिसके पास ऐयार नही हैं उसकी सारी शक्ति व्यर्थ है : क्योंकि 'ऐयारों का जवाब बिना ऐयार के कोई नही दे सकता, वे लोग बड़े चालाक और फसादी होते हैं, हजार-पांच सौ की जान ले लेना उन लोगो के आगे कोई बात नहीं है'[3]। इसलिए राजदरबारो में ऐयार (चालाक) भी नौकर हुआ करते थे जो कि हरफनमौला याने सूरत बदलना, बहुत सी दवाओं का जानना, गाना बजाना, दौडना, शस्त्र चलाना, जासूसो का काम देखना वगैरह बहुत सी बाते जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तो ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून गिराए वो पलटनो की जान गवाएं लडाई खत्म कर देते थे। इन लोगो की बडी कदर की जाती थी'[4]। ऐयार और जासूस एक ही बात नही है; ऐयार लोग जासूसी कर सकते हैं, परन्तु जासूसों के लिए ऐयारी जानना आवश्यक नही है। उक्त उद्धरण मे खत्री जी ने ऐयारो का एक काम 'जासूसी का काम देखना' भी बतलाया है; 'चन्द्रकान्ता सन्तति' मे राजा वीरेन्द्रसिह के राज्य का वर्णन करते हुए लेखक ने ऐयार और जासूसो को अलग-अलग स्थान दिया है : 'ऐयार और जासूस लोग छिपे-छिपे रिआया के दु:ख-सुख का हाल मालूम करते और राजा को हर तरह की खबर पहुँचाते थे।'[5]

ऐयारी एक विद्या (हुनर) है, जिसका मूल सूत्र है धोखा देना। ऐयार तेजसिह और देवीसिह क लडके 'भैरोसिह और तारासिह ऐयारी के फन मे बडे ही तेज़ और चालाक निकले इनकी ऐयारी का इम्तिहान बराबर लिया जाता था। जीतसिह (तेजसिह के पिता) का हुक्म था कि भैरोसिह और तारासिह कुल ऐयारो को बल्कि अपने बाप (जो स्वय बहुत बडा ऐयार था) तक को धोखा देने की कोशिश करे और इसी तरह पन्ना-लाल वगैरह ऐयार भी उन दोनो लडको को भुलावा दिया करे'[6]। तेजसिह ने तो स्वयं

१. पहिला हिस्सा, पहिला बयान।
२. वही, फुटनोट।
३. वही, तेरहवा बयान।
४. देवकीनन्दन खत्री (हिन्दी-उपन्यास में पृ० ६९ पर उद्धृत)।
५. पाचवां हिस्सा, सातवा बयान।
६. 'सन्तति', पहिला हिस्सा, पहिला बयान।

अपनी पत्नी तक से धोखा किया था[1] और दरबार से छुट्टी लेकर सिद्धनाथ योगी बन गये थे। जब धोखा देते है तो खाते भी हैं। 'ऐसा कोई ऐयार दुनिया मे न होगा जिसने कभी धोखा न खाया हो, हम लोग कभी धोखा देते हैं कभी स्वयं धोखे मे आ जाते हैं'[2]। परन्तु यह धोखा विश्वासघात नही है। खत्री जी के ऐयार जितने सच्चे एव स्वामि-भक्त हैं उतने भारतीय क्षत्री ही हो सकते है अन्य लोग नही। एक बार 'जनेऊ और ऐयारी का बटुआ हाथ मे लेकर कसम खा के'[3] जिस स्वामी की सेवा स्वीकार कर ली ऐयार उस स्वामी का 'और उसके खानदान का नौकर हुआ, ईमानदारी और मेहनत से अपना काम'[4] अपनी जान पर खेल कर भी वह करता जायगा। जो लोग इस सचाई का पालन नही करते वे 'पूरे डाकू' हैं' उनका ऐयारी से क्या वास्ता'[5]। 'ऐयार चाहे कैसा भी बेईमान क्यो न हो मगर मालिक के साथ ऐसा फरेब कभी नही करेगा'[6]। इतना ही नही, 'अपने मालिक की भलाई के लिए उद्योग करना'[7] ऐयार का धर्म है, इस धर्म के लिए वह बडे-से-बड़ा पाप कर सकता है। वस्तुत. ऐयार के लिए मालिक के अतिरिक्त ससार मे कुछ नही है, उसका भला ऐयार का एक मात्र उद्देश्य है। यदि ऐयार यह अनुभव करे कि उसका मालिक अधर्म की ओर जा रहा है तो वह उसकी सेवा से विरत हो सकता है और किसी भी अन्य स्वामी की सेवा मे जा सकता है—भले ही नया स्वामी पुराने स्वामी का शत्रु हो; 'चन्द्रकान्ता' मे शिवदत्तसिह के ऐयार उसको छोड़ कर वीरेन्द्रसिह की सेवा मे आ जाते हैं और उतनी ही ईमानदारी तथा तत्परता से नये स्वामी की सेवा करते हैं।

ऐयारी का धर्म तो अलग है ही, इसके नियम भी कुछ भिन्न है। इनमे से मुख्य यह है कि 'ऐयार लोग जान से मारने योग्य नही होते बल्कि कैद करने योग्य होते है'[8] 'अगर किसी ऐयार को कोई ऐयार पकडता है तो सिवाय कैद करने के जान से नही मारता'[9]। 'ऐयारी का यह मतलब नही कि वह बेकसूरो के खून से अपनी जीवन की पवित्र चादर मे धब्बा लगाए'[10]। 'हिन्दोस्तान भर मे कोई धर्मिष्ठ हिन्दू ऐयार को कभी जान से न मारेगा। हा, वह ऐयार जो अपने कायदे से बाहर काम करेगा जरूर

---

१. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, तेरहवा बयान।
२. 'सन्तति', पांचवा हिस्सा, चौथा बयान।
३. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, चौथा बयान।
४. वही
५. वही, चौदहवा बयान
६. भूतनाथ, पहिला हिस्सा, छठवां बयान।
७. वही, तीसरा हिस्सा, पाँचवा बयान।
८. वही, छठवां बयान।
९. चन्द्रकान्ता, पहिला हिस्सा, सोलहवां बयान
१०. भूतनाथ, तीसरा हिस्सा, तीसरा बयान।

जान से मारा जायगा'[1]। अस्तु, जो सुरक्षा राजदूत का व्यावसायिक अधिकार है वह ऐयार को भी प्राप्त है। क्योंकि ऐयार तो नौकर है उसका कर्तव्य स्वामी का हित है, उसकी नियमानुकूल कार्यवाही उसको दण्ड नही दिला सकती।

ऐयार लोग माया के उपासक होते है। आपस में मिलते हुए ये लोग 'जय माया की'[2] कहकर अभिवादन करते है। इनके पास एक बटुआ होता है जिसमे मोमबती, बेहोशी की बुकनी, होश मे लाने का लखलखा, आईना, सूरत बदलने के रासायनिक पदार्थ, खाने की कुछ मेवा होती है। ऐयारी की दुकानो पर दूसरा सामान दाढ़ी आदि मिल जाया करता है। जब ऐयार गिरफ्तार होता है तो नियम यह है कि उसका बटुआ छीनकर रख लिया जाय परन्तु उसकी तलाशी न ली जाय। बाहर निकलकर पता नही कब कितना खर्च करना पडे इसलिए 'ऐयारो का जितना ज्यादे खर्च होता है उतना ही लालच करते है'[3]। शकुन मे उनका विश्वास होता है, छीक आदि का वे ध्यान रखते है 'मै छीक से नही डरा मगर छीकने वाले से जी खटकता है'[4]। 'स्नान-पूजा'[5] मे वे नियमित रहते है। ऐयार जब किसी को गिरफ्तार करता है तो 'उसकी मुश्के बाध, एक चादर मे गठडी कस, पीठ पर लाद'[6] अपना रास्ता लेता है। ऐयारो की एक गुप्त भाषा होती है जिसको केवल ऐयार ही समझ सकता है।

लोक समझते हैं कि बहुत से चमत्कार योग से सभव है या भूत-प्रेत आदि ऐसी बाते करते है जो हमारी समझ मे नही आती परन्तु 'जो काम आदमी के या ऐयारो के किये नही हो सकता'[7] उसे योगी भी नही कर सकता। क्योकि संसार मे 'भूत-प्रेत कोई चीज नही, जादू-मन्त्र सब खेल-कहानी है, जो कुछ है ऐयारी ही है'[8]। इसी के कारण आदमी शेर का रूप धारण कर सकता है (सतति, पहिला हिस्सा, दूसरा बयान), चेहरे पर झिल्ली चढा कर आदमी कुछ का कुछ बन जाता है। अगर तिल आदि चिह्नो का ज्ञान न हो तो ऐयार को बदली हुई सूरत मे पहिचानना असभव है। ऐयार के पास तिलस्मी फूल होते हैं जो अनेक गुणो की खान है, किसी से भूख नही लगती, किसी से अन्धेरे मै भी दिखलाई पडता है (चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, पच्चीसवा बयान)।

ऐयारी बडा कठिन काम है। 'इस फन मे सब से भारी हिस्सा जीवट का है। जो ऐयार जितना डरपोक होगा उतना ही जल्द वह फसेगा'[9]। किसी भी आश्चर्य-

१. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, चौदहवा बयान।
२. चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, पाचवा बयान।
३. सन्तति, पहिला हिस्सा, छठवा बयान
४. वही, पन्द्रहवा बयान
५. चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, छब्बीसवां बयान।
६. चन्द्रकान्ता, पहिला हिस्सा, पाचवां बयान।
७. वही, चौथा हिस्सा, बीसवा बयान।
८. वही, दूसरा हिस्सा, तेरहवां बयान।
९. सतति, चौथा हिस्सा, दूसरा बयान।

जनक घटना के होने पर 'बुजदिलों को भूत-प्रेत और पिशाच का ध्यान'[1] आता है, परन्तु ऐयार उसके रहस्य को जानने का प्रयत्न किया करता है। जीवट के कारण ही ऐयार 'हजार आदमियों में अकेले फंसकर काम करते हैं'[2] और 'एक-एक ऐयार दस-दस राज्य गारत कर देने की सामर्थ्य रखते हैं'[3]। फलतः ऐयारो के लिए कोई रोक-टोक नही होती 'चाहे ये समय-कुसमय जब महल में घुस जायं और जहाँ चाहें वहाँ पहुँचें, महल में उनकी खातिर और उसका लिहाज उतना ही किया जाता था जितना पन्द्रह वर्ष के लड़के का किया जाता'[4]। राजा के बाद एक ओर दीवान साहब और फिर बड़े-बड़े बहादुरो का स्थान मिलता था, परन्तु 'बाद उसके दोनों तरफ नीम कुर्सियो पर ऐयार लोग विराजमान'[5] होते थे, 'अमीर ओहदेदार लोग' इसके बाद बैठते थे।

जिस प्रकार ऐयारी का काम आरम्भ किया जाता है उसी प्रकार छोडा भी जा सकता है। वृद्ध जीतसिह को 'ऐयारी को छोड़े मुद्दत हो चुकी थी'। अस्तु ऐयारी एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें क्षत्रियोचित गुणों का भरपूर पालन होता है। जिस राजा के पास अच्छे ऐयार हो उसे युद्ध की कोई आवश्यकता नही, वह बिना लड़े ही अनेक राज्यो को अपने वश मे कर सकता है। अणुबम्ब के युग में ऐयारी उतनी अविश्वसनीय भी नही रही।

चन्द्रकान्ता उपन्यास

'परीक्षा गुरु' और 'गोदान' के समान 'चन्द्रकान्ता' हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की अमर रचना है। जितनी लोकप्रियता इस उपन्यास को मिली है उतनी हिन्दी के अन्य किसी उपन्यास को नही। एक ओर इसने हिन्दी मे तिलस्मी उपन्यासों की परम्परा चलाई दूसरी ओर अपनी कहानी से आकृष्ट करके अनेक पाठको को हिन्दी सीखने को प्रोत्साहित किया। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास के लेखक देवकीनन्दन खत्री की प्रतिभा अद्भुत थी। चुनार के जंगलो का ठेका लेकर जब वे उनकी सफाई कराने लगे तो उनको खोहों से भीतर कई विचित्र सुरंगें, दरवाजे, तहखाने मिले। इन भग्नावशेषो से उन्होने तिलस्मो की बडी मनोहर एव गुम्फित कल्पना की। इनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी, जो इनकी रचनाओ के पूर्वापर प्रसग से ही प्रत्येक पाठक के समक्ष प्रमाणित हो जाती है। स्व० प्रेमचन्द जी का अनुमान है कि तिलस्मी उपन्यास की बौद्धिक प्रेरणा खत्री जी को 'तिलस्म होशरुबा' से मिली होगी। यह अकबर के दरबारी कवि फैजी की लिखी हुई पुस्तक फारसी मे है, उर्दू मे भी इसका अनुवाद हुआ था। खत्री जी फारसी और उर्दू जानते थे। सम्भवतः उन्होने 'तिलस्म होशरुबा' को पढकर अपनी कल्पना के

१. वही, दूसरा हिस्सा, ग्यारहवां बयान
२. चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, तीसरा बयान।
३. संतति, चौथा, हिस्सा, दसवा बयान।
४. संतति, दूसरा हिस्सा, सत्रहवा बयान।
५. चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, तीसरा बयान।

आधार पर हिन्दी में इस प्रकार के उपन्यास लिख डाले हों। 'तिलस्म होशरुबा' की कुछ बातें—जैसे डिबिया में बेहोशी की बुकनी रख कर किसी को देना, और उसको खोलते ही बुकनी के उड़ने से उसका बेहोश हो जाना, जीभ पर दवा मल देने से उसका एठ जाना, चम्पा का नाम, औरतो के परे (झुण्ड) के परे को बन में घूमते हुए देख कर प्रेम करना, नजूमी-रम्माल से पता लगाना—ऐसी है जिनका 'चन्द्रकान्ता' तथा उसकी 'संतति' मे बराबर उपयोग किया गया है। ऐयारों का सामने आईना रखकर रूप बदलना भी इसी से लिया गया हैं···।'[1] फिर भी यह समझना भूल है कि 'तिलस्म होशरुबा' को पढ़कर ही लेखक ने 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति' और 'भूतनाथ' जैसे बड़े उपन्यास लिख डाले। 'तिलस्म होशरुबा' को न जाने कितने लोगो ने पढ़ा होगा, परन्तु किसी दूसरे पाठक को इस ओर सफलता न मिली। वस्तुतः खत्री जी ने 'तिलस्म होशरुबा' की कुछ ऐयारियां ही ली हैं, वे भी अनेक संशोधनो के साथ। फारसी की उक्त पुस्तक मे जादू के चमत्कार हैं, परन्तु खत्री जी की रचनाओ मे जादू का लेश भी नही है। उसमे पात्र मानवेतर भूत-प्रेत, जिन्न आदि भी हैं, खत्री जी के सभी पात्र मानव हैं मानव-शक्तियो से परिपूर्ण—भूत-प्रेत आदि का उन्होने खंडन किया है। फैजी का युग अति मानवीय शक्तियो मे विश्वास करता हुआ उनकी पूजा करता था। इसलिए उस समय के मुसलमान लेखको ने अपने अति-मानवो की शक्ति हिन्दुओ के देवी-देवताओ से अधिक चित्रित करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कहानियां लिखी, फैजी की रचना भी उसी दिशा में एक प्रयत्न है। 'उसने अपनी कहानी मे सभी जादूगरो को हिन्दू काफिर माना है और उन्हे होम करते, तिलक लगाते, त्रिशूल लिए आदि रूपो ही मे चित्रित किया है तथा उन सबके मन्त्रो तथा जादुओं को मुसलमानो के 'इस्म आज़म' की फूंक से उडवा दिया है।'[2] खत्री जी की सारी कल्पनाए विज्ञान एव योग की संभावनाओ पर आश्रित हैं। तिलस्म तोडने और ऐयारी की माया मे खत्री जी ने जिन पात्रों को सफल दिखाया है वे धार्मिक, सच्चरित्र एवं मनस्वी है और जो असफल रहते है वे दुष्ट, दुश्चरित्र एवं धोखेबाज है—ये हिन्दू भी है और मुसलमान भी। अस्तु, खत्री जी के हाथो तिलस्मी विद्या तथा ऐयारी की माया वैज्ञानिक तथा आचारनिष्ठ बन गई है। यह उनकी सबसे बडी मौलिकता है, जिसका अनुसरण भी उतनी सफलता से नही हो पाया।

चुनार राज्य मे दो पुराने तिलस्म थे जिनको किसी प्रतापी राजा ने बधवाया था। इनमें से जो बडा था वह चुनार का तिलस्म कहलाता है। छोटे तिलस्म की शर्त यह थी कि यह उस स्त्री के हाथ से खुलेगा जिसका विवाह बड़े तिलस्म तोडने वाले के साथ होगा—वस्तुतः छोटा तिलस्म दहेज की सम्पत्ति पर बधा था। कालान्तर में बड़े तिलस्म को तोडने वाले व्यक्ति के नक्षत्र और गुणो से सम्पन्न एक पुत्र को नौगढ की रानी ने जन्म दिया। नौगढ से पांच कोस दूर विजयगढ़ की राजकुमारी बनकर नायिका

१. हिन्दी-उपन्यास साहित्य, पृ० ५०

२. वही, पृ० ५०

ने जन्म लिया। ये ही वीरेन्द्रसिंह और चन्द्रकान्ता प्रस्तुत उपन्यास के नायक-नायिका है। यदि ये लोग सामान्य राजकुमार-राजकुमारी होते तो इनका विवाह बडी आसानी से हो जाता। परन्तु इनके हाथ से बड़े-बड़े काम होने थे। अत आपस में बहुत अधिक प्रेम होने पर भी इनके विवाह में कतिपय बाधाए उपस्थित थी, जिन पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न मे जो कर्म-सौन्दर्य निखरा उसका वर्णन प्रस्तुत उपन्यास मे है। विवाह में पहिली परन्तु अस्थायी बाधा स्वय राजकुमारी के पिता थे, वे नौगढ के राजा को इतना बडा न समझते थे, कि उनके घर अपनी पुत्री दे—हिन्दुओ का, विशेषत: क्षत्रियो का यह सामान्य दृष्टिकोण है। दूसरी बाधा विजयगढ के मन्त्री का पुत्र क्रूरसिंह था जो राजकुमारी पर मुग्ध था और किसी छल-बल से उसे हस्तगत करना चाहता था। राज्य मे क्रूर के सहायक दो दुष्ट मुसलमान थे, जिनको यह विश्वास था कि उनकी सहायता से राजकुमारी को अपने अधिकार मे करके क्रूरसिंह मुसलमान हो जायगा और अन्ततोगत्वा विजयगढ मुसलमानी राज्य बन जायगा। मन्त्री बनने के लिए क्रूर ने अपने बाप को मरवा दिया, और राजा से भी कुछ छल किया। फलत राजा ने क्रूर तथा उसके साथियो को राज्य से बाहर निकाल दिया। इस घटना से एक ओर तो क्रूरसिंह ने चुनार जाकर राजा शिवदत्तसिंह को विजयगढ का शत्रु बना दिया, दूसरी ओर परिस्थिति के कारण नौगढ और विजयगढ राज्यो मे मित्रता हो गई; आगे चलकर शिवदत्तसिंह ने, शत्रु-कन्या चन्द्रकान्ता को अपनी पत्नी बनाने के प्रयत्न से, नौगढ राज्य को भी अपना शत्रु बना लिया। यही शिवदत्तसिंह और वीरेन्द्रसिंह की शत्रुता हो गई जो वश-परम्परा से आगे तक चली। शिवदत्त के साथ वैर होने से ही चुनार का तिलस्म टूट सकता था। अस्तु अनेक कठिनाइयो को सहते हुए नायक ने अपने विश्वस्त ऐयारो की सहायता और अपने भुजबल से चुनार के तिलस्म को तोडा। उधर नायिका ने भी छोटे तिलस्म को खोल लिया। अन्त मे नायक-नायिका का विवाह हो गया।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का यह कथानक बहुत ही सुलझा हुआ है। इसमें एक ही मुख्य कथा है जिसका विकास उत्तरोत्तर होता चला जाता है। आदि काव्य मे नायक राम और नायिका सीता के प्रेम का चित्रण करने के लिए कवि ने विवाह के उपरान्त उन पर आपत्तिया बुलाकर उनके प्रेम का महत्त्व सिद्ध किया है। सस्कृत के क्लासिकल साहित्य में दुष्यन्त और शकुन्तला गान्धर्व विवाह कर लेते है, परन्तु उनका गृहस्थ जीवन आपत्तियो को पार करने से पूर्व आरम्भ नही होता। मध्ययुग का साहित्य विवाह से पूर्व आपत्तियो से मुठभेड कराकर प्रेम की परीक्षा लिया करता था। यही पिछली प्रवृत्ति प्रस्तुत उपन्यास मे भी देखी जा सकती है। 'कुअर वीरेन्द्रसिंह और राजकुमारी चन्द्रकान्ता की मुहब्बत बाजारू न थी, वे दोनों एकरूप हो रहे थे'[1] फिर भी जब तक उन पर आपत्तिया आकर उनको तप्तकाचन न बना दे तब तक उनके हृदय का मूल्य ही क्या होगा, इस भावना से लेखक ने उनके मार्ग में आपत्तियो के पर्वत बना दिये है, 'जितनी मेहनत पर जो चीज मिलती है उस के साथ उतनी ही

१. चौथा हिस्सा, अट्ठारहवां बयान।

बडी खुशी में जिन्दगी बीतती है'[1]। दूसरी विशेषता यह है कि मध्ययुगीन वीर-गाथा-साहित्य मे नायक अपनी प्रेयसी का सन्देश प्राप्त करके उसका पितृकुल से हरण कर लेता था और उसकी शत्रुता पत्नी के कुल-वालो से भी प्रायः रहती थी, परन्तु प्रस्तुत कथानक प्रारम्भ में पिता को अस्थायी बाधा दिखाकर आगे सर्वत्र खलनायक को एक-मात्र शत्रु सिद्ध कर देता है—चन्द्रकान्ता के पिता तो रुक्मिणी के पिता के समान नायक के हितैषी तथा सहायक हैं। तीसरी विशेषता यह है कि मध्ययुगीन कथानक में केवल नायक को प्रयत्नशील दिखाया जाता था, परन्तु इस कथा में नायक और नायिका दोनो ही प्रयत्नशील है अत. प्रेम-वर्णन की अपेक्षा प्रयत्न-चित्रण को बहुत अधिक विस्तार मिला है। वर्णन की प्रचुरता के ही कारण इस उपन्यास में प्रासगिक कथाओ को स्थान न मिल सका। वीरेन्द्रसिह और शिवदत्तसिह की वीरता तथा उनके ऐयारो की चाला-किया ही पाठक को आगे बढाये चली जाती है, उसे न समाज का ध्यान रहता है न प्रकृति का, न वह भाषा पर रीझना चाहता है और न नख-शिख-वर्णन पर। कथानक जिस प्रकार एक बिन्दु से विकसित हुआ था उसी प्रकार एक बिन्दु में ही उसका पर्यवसान हो जाता है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास मे नायिका चन्द्रकान्ता की उसके सच्चे प्रेमी कुमार वीरेन्द्रसिह के साथ विवाह की कहानी है, परन्तु इस कहानी का आकर्षण नायक-नायिका की प्रेम-चर्चा नही प्रत्युत उनकी वीरता एव विजय है।

इस उपन्यास मे मुख्य पात्र तीन हैं—नायक वीरेन्द्रसिह, नायिका चन्द्रकान्ता और खलनायक शिवदत्तसिह। वीरेन्द्रसिह मध्ययुगीन क्षत्रिय वीर है, उसके व्यक्तित्व मे वीरता एव मनस्विता का ही विशेष महत्त्व है। वह जानता है कि हमको तो सिर्फ अपनी ताकत का भरोसा है'[2]। जब शिवदत्तसिह ने चन्द्रकान्ता को प्राप्त करने के लिए दूत भेजा तो क्रोध के कारण वीरेन्द्रसिह की आखो के सामने अधेरा सा छागया, वे हाथजोड़-कर पिता जी बोले : 'मुझको लडाई का बडा हौसला है और यही हम लोगो का धर्म भी है, फिर ऐसा मौका मिले न मिले इसलिए अर्ज करता हू कि मुझ को हुक्म हो तो अपनी फौज ले कर जाऊ और विजयगढ पर चढाई करने के पहिले ही शिवदत्त को कैद कर लाऊ'[3]। चुनार के किले मे कैद नायक ने 'जोर से झटका देकर हथकडी तोड डाली, उसी जोश मे एक लात सीखचे वाले किवाड मे भी मार पल्ला गिरा शिवदत्त के पास पहुचे।'[4] लेखक ने नायक को उस युग के सबसे वीर क्षत्रिय के रूप में चित्रित किया है। नायक का ठीक विपरीत शिवदत्तसिह है, वह बल और वीरता मे तो किसी से कम नही, उसके ऐयार भी अपने गुणो मे अद्वितीय है। परन्तु शिवदत्त चरित्रहीन राजा है। वह रावण की प्रतिमा है। जो अपने अवगुणो के कारण अपनी तिलस्मी लंका (चुनारगढ) को मिट्टी में मिला देता है। उसके ऐयार भी सन्तुष्ट नही, फलतः वे गुण-

१. चौथा हिस्सा, पांचवा बयान।
२. पहिला हिस्सा, पहिला बयान।
३. वही, एक्कीसवां बयान।
४. दूसरा हिस्सा, दसवां बयान।

ग्राही राजा वीरेन्द्रसिंह की शरण में चले जाते हैं। शिवदत्त की रानी मारी-मारी फिरती है, पुत्र-पुत्री विमुख हो जाते हैं। फिर भी अपने अहंकार में डूबा हुआ वह दो परिवारों में वैर की जडें जमा देता है। नायिका चन्द्रकान्ता में भारतीय क्षत्राणी के सभी गुण हैं, उसके रूप-सौन्दर्य कौशल तथा वीरता सभी प्रशंसनीय है। मध्ययुगीन नारी के समान वह घर के अन्दर आंसू बहाकर अपना प्रेम नहीं प्रकट करती प्रत्युत कर्मक्षेत्र में आकर अपने प्रेम को चरितार्थ करती है। हिन्दी-साहित्य में चन्द्रकान्ता के समान कोई दूसरी नायिका नहीं है, उपन्यास का नाम भी नायिका के नाम पर है। खत्रीजी ने अपनी लेखनी से ऐसी नायिका की सृष्टि की है जिसमें रूप, गुण और कर्म तीनों का अपूर्व सौन्दर्य है। नायिका की इस विशेषता के ही कारण इस उपन्यास में कहीं भी अश्लीलता अथवा स्त्रैणता नहीं आ पाई। रीतिकाल के पिछले द्वार पर ऐसी मूर्ति की स्थापना साहस एवं पूर्ण दूरदर्शिता के बिना संभव नही था। जो लोग इस उपन्यास की लोकप्रियता का कारण 'अनर्गल' वर्णन अथवा शृंगार का चटपटापन समझते हैं वे अपने निष्कर्षो में सावधान नही हैं। इस उपन्यास का मुख्य आकर्षण तो वीरत्वपूर्ण वातावरण अथवा आदर्श वीर क्षत्री पात्रो की सृष्टि है। लेखक क्षत्रियत्व का अभिमानी है, उसने सर्वत्र क्षत्रियत्व का आदर्श पाठक के सम्मुख रखा है। नायक के पिता राजा सुरेन्द्रसिंह के शब्दो मे 'क्षत्रियो को लडाई से ज्यादा प्यारा बाप, बेटा, भाई भतीजा कोई नही होता इसलिए मैं तुम्हारी मुहब्बत छोडकर हुक्म देता हूं कि अपनी कुल फौज लेकर महाराज जयसिंह को मदद दो और अपना नाम करो'[1]। नायक की माता के भी ऐसे ही उद्‌गार है : 'बेटा जाओ, वीर पुरुषो मे नाम करो, क्षत्री कुल का नाम रख फतह का डका बजाओ, शूर-वीरो का धर्म है कि लडाई के वक्त मा-बाप, ऐश-आराम किसी की मुहब्बत नही करते, सो तुम भी जाओ, ईश्वर करे लडाई मे वैरी तुम्हारी पीठ न देखे'[2]। यह उपन्यास इस बात का प्रमाण है कि जनता का मन जाति और धर्म के रक्षक वीरो की गुणगाथा मे जितना रमता है उतना विलासी-निष्क्रिय नायक-नायिका के चित्रो मे नही।

इस उपन्यास मे द्वितीय श्रेणी के पात्र राजाओ के ऐयार है। वे भी क्षत्री हैं, कम से कम आचरण से। फिर भी उनका महत्व स्वामी के अग के रूप मे है, स्वतन्त्र नही। वीरेन्द्रसिंह के ऐयार समस्त देश मे अपूर्व है, वे उन सब विशेषताओ से युक्त तो है ही जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, साथ ही उनमे वीरता का भी अपूर्व गुण है। नायक के शब्दों में उनको 'अपनी ताकत और ऐयारी दोनो का'[3] भरोसा है। जीतसिंह और उनके पुत्र तेजसिंह अपने कार्यों से पाठक के मन को अपने अधिकार मे किये रहते हैं : 'कुमारी चन्द्रकान्ता की जान बचाने वाले, नौगढ विजयगढ दोनो राज्यो की इज्जत रखने वाले, दोनो राज्यो की तरक्की करनेवाले, इस छोटे से तिलस्म को कुमारी के हाथ

---

१. पहिला हिस्सा, एक्कीसवां बयान।

२. वही, बाईसवां बयान।

३. वही, पहिला बयान।

से फतह कराने वाले, आज तक अच्छे ऐयारों को धोखे में डालने वाले···चुनार राज्य में फतह का डंका बजाने वाले सिद्धनाथ योगी बने हुए यही महात्मा जीतसिंह हैं'[1]। तेजसिंह की सहायता कितनी ही बार उनको नायक से अधिक सावधान सिद्ध कर देती है। फिर भी नायक आदि धर्मरक्षक एवं धर्मपालक हैं जबकि ऐयार लोग केवल धर्म-पालक—रक्षा का भार इन पर नही है। शिवदत्तसिंह के ऐयार बुरे नहीं परन्तु वीरेन्द्र-सिंह के ऐयारों के सामने फीके लगते है, उनमें केवल ऐयारी है स्वामी की धर्म-वीरता से उत्पन्न उत्साह नही।

मुसलमान ऐयारों को लेखक ने अच्छा चित्रित नहीं किया। ऊपर कहा जा चुका है कि फैंजी के समान अनुचित पक्षपात तो लेखक में नही है, परन्तु उसके हिन्दू ऐयार प्रायः आचारवान् हैं जबकि मुसलमान ऐयार आचारहीन। वे ऐयारी के नियमों का भी पालन नहीं करते, डाकू वा हत्यारे के समान रक्तजीवी हैं। मुसलमानों की एक विशेषता अपने मज़हब का प्रचार है जिसके लिए वे प्रायः छलछिद्रमय नीच कर्म करते हैं। भारत का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि युद्धक्षेत्र में अपने प्राणो से सौदा करके क्षत्रियों ने सदा धर्म रक्षा की है, कुमार्गों से उसके प्रसार का कभी प्रयत्न नही किया, परन्तु मुसलमान इतिहास इसके विपरीत है। खत्री जी स्वयं क्षत्रियों के इस गुण के प्रशंसक थे, उनके पात्रो में भी यही छाया है। अहमद और नाजिम ऐयारो के समान हिन्दू क्रूरसिंह भी है, वह अधर्म से अपना काम बनाकर (नायिका को हस्तगत करके) मुसलमान बन जाना चाहता है, वह अपने बाप को मार देता है; अन्त मे जैसा कर्म करता है वैसा फल भी भोगता है। खत्री जी ने उत्तम, मध्यम और अधम तीनो प्रकार के पात्रो का चित्रण किया है। अधम में मुसलमान तथा क्रूरसिंह जैसे हिन्दू आ जाते हैं। जिस युग मे 'चन्द्रकान्ता' लिखा जा रहा था उस युग मे चरित्र का चित्रण लेखकों का अभीष्ट न था, पात्र वर्ग-प्रतिनिधि होते थे, वर्गगत समस्त गुणो को परिस्थितियो में डालकर उनका प्रकटीकरण भी न होता था, एक मुख्य गुण का उल्लेख करके लेखक पाठको से यह आशा करता था कि शेष समस्त गुण वे स्वयं कल्पना द्वारा अंकित कर लेगे। उदाहरण के लिए नायक नायिका क्षत्री है यह दिखाकर लेखक यह विश्वास करेगा कि क्षत्री के सामान्य गुण उनमे पाठक अपने-आप समझ ले, रहा उनका एक विशेष गुण धर्मनिष्ठता, उसका चित्रण एक बार कर दिया जायेगा—ऐसी परिस्थिति की योजना आवश्यक नही है जिसमे नायक-नायिका के गुण स्वय प्रकट होकर ऊपर आ जावे। प्रस्तुत उपन्यास का चरित्र-चित्रण उसी युग-प्रवृत्ति के बीच में परीक्षण के योग्य है।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता युग-चित्रण का अभाव है। जब यह उपन्यास लिखा गया था उस समय देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक अवस्था कैसी थी, इसका कोई भी ज्ञान इस रचना से नही होता। इतना तो निश्चय है कि लेखक को अपने काल का चित्रण अभीष्ट नही है, अप्रस्तुत रूप से भी समकालीन

---

१. चौथा हिस्सा, बाईसवां बयान।

संकेत दुर्लभ है। अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित होकर लेखक ने क्षत्रियों का आदर्श चित्रण किया और आचारहीन हिन्दू तथा मुसलमानो के प्रति पाठको के मन में घृणा का भाव जगा दिया। दूसरी बात यह कही जा सकती है कि शस्त्रजीवी जातियो की समकालीन उथल-पुथल की छाया इस उपन्यास के पृष्ठो पर पड़ती गई है, जिसका सकेत ऊपर हो चुका है। जिस आदर्श को लेखक पुनर्जीवित करना चाहता था वह राजपूतकालीन था; अत कई बार अतीत मे झाककर लेखक ने प्रेरणा ग्रहण की है। चुनार तथा रोहिताश्व तिलस्मो का सम्बन्ध वह इतिहास से जोडना चाहता है; चुनार को 'चर्णादि या चर्णाद्रि' बतला कर और 'सतति' मे रोहिताश्व दुर्ग का कुछ इतिहास देकर लेखक अपनी कहानी को इतिहास से दूर नही रखना चाहता। परन्तु इन उपन्यासो मे न ऐतिहासिकता है और न इतिहास। इनका ससार कल्पित है, जिसमें क्षत्रियोचित वीरता का वर्णन कर लेखक ने पाठक के मन मे उच्च आदर्श जगाने का प्रयत्न किया है। यदि खत्री जी कल्पित ससार को न अपनाते तो इतना उच्च आदर्श स्थापित करना शायद सम्भव न हो पाता और उनकी रचना को भी उतनी ही लोकप्रियता मिलती जितनी अन्य तत्कालीन उपन्यासो को मिली, साथ ही सामान्य जनता पशु-पक्षियो के कहानी-किस्सो मे भटक कर स्त्रैण, लम्पटतापूर्ण आदर्शो मे डुबकी लगाती रहती। अत: देशकाल के चित्रण से उदासीनता इस उपन्यास की एक विशेषता है, कोई दोष नही।

खत्री जी के उपन्यास कई 'हिस्सो' मे विभक्त हैं, 'चन्द्रकान्ता' के चार हिस्से है तो 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के चौबीस। प्रत्येक हिस्से मे कई-कई 'बयान' है। लेखक की शैली सामान्यत. वर्णनात्मक है, कथोपकथन का अभाव तो नही है परन्तु कथोपकथन मात्रा मे कम एव गुण मे सामान्य है। लेखक वर्तमान एव भूत दोनो ही कालो की क्रियाओं से वर्णन करता है, जिसमे पुरानी और नवीन दोगो शैलियो का मिश्रण समझना चाहिए। 'शाम के वक्त कुछ-कुछ सूरज दिखाई देता है, सुनसान मैदान मे एक पहाडी के नीचे दो शख्श वीरेन्द्रसिह और तेजसिह एक पत्थर की चट्टान पर बैठे आपस मे कुछ बातें कर रहे हैं', इत्यादि वर्णन 'परीक्षागुरु' की 'नई रीति' से मिलते-जुलते है। साथ ही 'पुरानी रीति' के कुछ वर्णन भी इस उपन्यास मे है जिनमे लेखक कथा सुनाता चलता है। वर्णन 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का एक विशेष गुण है, परन्तु वर्णन समाज का नही है वन, पर्वत, तहखाने, सुरंग आदि रहस्यमय स्थानो का है। यत्र-तत्र भाव-तीव्रता के लिए लेखक ने प्रकृतिवर्णन का सहारा लिया है। ऐसे स्थलो पर खत्री जी की सहृदयता देखने योग्य है।

खत्री जी की भाषा-शैली प्राय. आलोचना का विषय रही है। जिस समय राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिह और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तीनो व्यक्तियो का तीन प्रकार का प्रभाव लेखको पर पड रहा था उस समय खत्री जी ने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया। साहित्यिको को यह आपत्ति थी कि ये हिन्दी के नाम पर उर्दू का प्रचार कर रहे हैं। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' मे लेखक ने उन आलोचकों को उत्तर दिया है जिसका

साराश यह है कि जन साधारण में हिन्दी का प्रचार धीरे ही धीरे होगा क्योंकि' आठ-सौ वर्षों के कुसंस्कार को गिनती के दिनो मे दूर करना' सम्भव नही है। दूसरी बात यह है कि यदि उपन्यास की भाषा कठिन होगी तो उसे लोकप्रियता नही प्राप्त हो सकती। तीसरे, 'चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए बहुत पुरुष नागरी की वर्णमाला सीखते हैं', जो स्वयं हिन्दी की एक सेवा है। चौथी बात यह है कि उनके उपन्यासो में धीरे-धीरे इस बात का यत्न है कि पाठक का साहित्यिक स्तर ऊंचा होता चले; 'चन्द्रकान्ता संतति' में यद्यपि इस बात का पता नही लगेगा कि कब और कहा भाषा का परिवर्तन हो गया परन्तु उसके आरम्भ और अन्त मे आप ठीक वैसा ही परिवर्तन पावेंगे जैसा बालक और वृद्ध में'[1]। इन चार तर्कों का सत्य हमको इन उपन्यासो में मिल जाता है। कथा से आकृष्ट होकर पाठक नागरी लिपि सीखता है और सारे उपन्याम पढ लेने के बाद साहित्यिक भाषा से परिचित हो जाता है। खत्री जी की भाषा में उत्तरोत्तर उत्थान होता गया है। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास से उनकी प्रारम्भिक भाषा का एक सामान्य उदाहरण देखिए

'कुमार की दशा देखकर तेजसिह बहुत घबराये। जी मे सोचने लगे कि इनकी जिन्दगी कैसे रहेगी। अजब हालत हो रही है। चेहरे पर मुर्दनी छा गई, तनोबदन की कुछ सुध नही, बल्कि पलके नीचे को बिलकुल नही गिरती, आखो की पुतलिया जमीन देख रही है, जरा भी इधर-उधर नही हटती। तेजसिह ने कुमार का हाथ पकड़ बैठाने के लिए जोर किया मगर घुटना बिलकुल न मुडा, धम्म से जमीन पर गिर पडे, सिर फट गया, खून निकलने लगा मगर पलके उसी तरह खुली, पुतली ठहरी हुई, सास रुक-रुक निकलने लगी।'[2]

'सन्तति' के प्रमाण पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि खत्री जी ने अपने उपन्याम जनता के मनोविनोद के लिए लिखे थे। फलत: जिस पाठक के हाथो मे उनका कोई उपन्याम चला गया वह पहिले उसको समाप्त कर पीछे कोई दूसरा काम अपने हाथ मे लेता था और फिर पढने के लिए उसी प्रकार की रचना की खोज मे रहता था। पढने का यह चस्का यहाँ तक बढा कि नवयुवक अपना आवश्यक कार्य छोड़ कर इन उपन्यासो मे रात-दिन बिताने लगे। कुछ लोगो की शिकायत है कि यह व्यसन अच्छा नही है, तिलस्मी उपन्यासों मे भटकने वाला युवक व्यावहारिक जीवन के लिए बेकार-सा हो जाता है। इतना तो सत्य है कि तिलस्म की दुनिया उसी सामग्री से नही बनती जिससे हमारे दैनिक व्यवहार की। परन्तु तिलस्म की दीवार पर चढ़ कर जो उस तिलस्म के भीतर झाक लेगा वह हसता हुआ अन्दर कूद ही पडेगा, वापिस नहीं आ सकता—यह आवश्यक नही, भूतनाथ वापिस आया था और उसने पुरस्कार भी प्राप्त किया था (दे० 'सन्तति', चौबीसवा हिस्सा, आठवा बयान)। लेखक का विचार है कि

१. 'संतति', चौबीसवा हिस्सा, आठवां बयान।

२. दूसरा हिस्सा, ग्यारहवां बयान।

इन छल छद्ममयी रचनाओ से पाठक अधिक सावधान तथा चतुर बनता है। जो भी हो, पढ़ना तो बुरा व्यसन है नहीं। देखना यह है कि 'चन्द्रकान्ता' का आदर्श क्या है और उसका पाठक चित्रित पात्रों में से किसी का अनुकरण करके किस रूप में ढल सकता है। 'पात्रों का चालचलन दिखलाने में जहाँ तक हो सका, ध्यान रखा गया है। सब पात्र यथासमय सन्ध्या-तर्पण करते है और अवसर पडने पर पूजा प्रकार भी वीरेन्द्रसिह आदि के वर्णन में जगह-जगह दिखलाई देता है'[1]। लेखक ने अपने आदर्श पात्रो को आचारवान् तथा दुष्ट पात्रों को आचारहीन चित्रित किया है। वीरेन्द्रसिह तेजसिह, चन्द्रकान्ता, चपला सभी क्षत्री कुल की मर्यादा का पालन करते है। उपन्यास मे क्रियाशील होने पर भी चन्द्रकान्ता कुलमर्यादा का सर्वत्र पालन करती हुई ही नायक को प्रेम करती है, क्योकि 'एक बडे घर की लड़की का पराये मर्द से मिलना और पत्र-व्यवहार करना, ब्याह का सन्देश देना, कितने ऐब की बात है'[2]। नायक-नायिका के प्रेम को भी लेखक ने वासना से ऊपर चित्रित किया है—उसमे कही भी अमर्यादा नही है। मा-बाप के सम्मुख नायक जितने सम्मान से बोलता है वह सबके लिए अनुकरणीय है। स्नान, सन्ध्या आदि मे ऐयार तक जितने नियमित हैं वह सामान्यत. उपन्यासो मे कम ही मिलता है। यज्ञोपवीत और खजर पकड कर प्रतिज्ञा करना तो मानो पत्थर की लकीर है। इस प्रकार के आदर्श नवयुवको को निश्चय ही ऊँचा उठाने वाले है। साथ ही दुष्टों में सारे विपरीत आदर्श एवं पराजय दोनो का सयोग अकित करके लेखक ने दुर्गुणो से पाठक को विरत करने का प्रयत्न किया है। दुष्टो के चित्रण मे भी कोई स्थल ऐसा नही जिसे बिना सकोच किसी युवक अथवा युवती के हाथ मे न दिया जा सके। खत्री जी ने अपने उपन्यासो में कर्म-सौन्दर्य चित्रित करके एक तो यह दिखलाया है कि 'जैसी जिसकी करनी होती है उसको वैसा ही फल मिलता है इसमे कोई शक नही'[3] और दूसरे यह कि 'किस्मत भी कोई भारी चीज है'[4]। अस्तु, भाग्य एव ईश्वर के न्याय मे विश्वास रखते हुए आचार-निष्ठ मनस्वी व्यक्ति अन्त मे विजय प्राप्त करते हैं, आपत्तिया उनके जीवन को अधिक विकसित एव उन्नत बनाती हैं उनका स्वागत करना चाहिए—यही 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का सन्देश है। जिस स्तर पर खत्री जी ने उपन्यास लिखे उसका निर्वाह पीछे के लोग उसी प्रकार न कर पाये जिस प्रकार तुलसीदास के मर्यादावादी स्तर का। फलतः पिछली रचनाएं दुर्गन्धिपूर्ण एव कलुषित हैं उनको चन्द्रकान्ता की परम्परा का अधिकार न मिलना चाहिए।

'चन्द्रकान्ता' की परम्परा

'नौगढ़ के राजा सुरेन्द्रसिह के लडके वीरेन्द्रसिह की शादी विजयगढ के महा-

१. संतति, चौबीसवां हिस्सा, आठवां बयान।
२. चन्द्रकान्ता, चौथा हिस्सा, तेरहवां बयान।
३. चन्द्रकान्ता, दूसरा हिस्सा, छब्बीसवा बयान।
४. वही, चौथा हिस्सा, सोलहवा बयान।

राजा जयसिंह की लडकी चन्द्रकान्ता के साथ हो गई', खलनायक शिवदत्तसिंह पराजित हुआ, चुनार का तिलस्म टूट गया। इस सुख और आनन्द के अवसर पर ऐयार-शिरोमणि तेजसिंह ने एक मजाक किया कि शिवदत्त का रूप धारण कर वे चन्द्रकान्ता के विवाह में मशालची बन कर चले। इस घटना से शिवदत्तसिंह का रक्त खौल उठा और वे आजीवन शत्रु बनकर जंगल में चले गये। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यास में उसी शत्रुता का वर्णन है। यह उपन्यास चौबीस भागों में पूरा होता है। दूसरी पीढी के नायक चन्द्रकान्ता-वीरेन्द्रसिंह के दोनो पुत्र इन्द्रजीतसिंह और आनन्दसिंह है; उनके ऐयार चपला-तेजसिंह का पुत्र भैरोसिंह तथा चम्पा-देवीसिंह का पुत्र तारासिंह है। जमनिया का तिलस्म तोडने के उपरान्त इन्द्रजीतसिंह का विवाह शिवदत्तसिंह की पुत्री किशोरी के साथ हो जाता है।

'सन्तति' की रचना का रहस्य चौबीसवे हिस्से मे लेखक ने स्वयं ही बतलाया है : 'चन्द्रकान्ता के आरम्भ के समय मुझे यह विश्वास न था कि उसका इतना अधिक प्रचार होगा, यह मनोविनोद के लिए लिखी गई थी, पर पीछे लोगो का अनुराग देखकर मेरा भी अनुराग हो गया और मैने अपने उन विचारो को जिनको मै अभी तक प्रकाश नही कर सका था फैलाने के लिए इस पुस्तक को द्वार बनाया और सरल भाषा में उन्हीं मामूली बातो को लिखा जिसमे मै उस होनहार मण्डली का प्रियपात्र बन जाऊं जिसके हाथ मे भारत का भविष्य सौपकर हमे इस असार ससार से विदा होना है'। 'सन्तति' के बिना 'चन्द्रकान्ता' पूरा उपन्यास है परन्तु 'चन्द्रकान्ता' के बिना 'सन्तति' अधूरा है; विशेषता यह है कि 'चन्द्रकान्ता' के सभी मुख्य पात्र 'सन्तति' के अन्त तक जीवित रहते है। प्रस्तुत प्रबन्ध मे 'सन्तति' की पूरी आलोचना करना सम्भव नही, परन्तु मूल उपन्यास से तुलना करने पर इसका कथानक बडा जटिल है और वैचित्र्य की रक्षा करते हुए इसमे पुराने गुण ही दुहराये गये है : लेखक की शैली एक निश्चित विकास की ओर जा रही है। योजना के अनुसार 'सतति' पर जाकर लेखक का उपन्यास समाप्त हो जाता है। 'चौबीसवे हिस्से' के आठवे बयान मे लेखक ने अपने उपन्यास के कथानक और भाषा-शैली पर विचार किया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि मूल 'चन्द्रकान्ता' तथा उसकी 'सन्तति' को लेखक अलग-अलग नही मानता।

'सन्तति' के अन्त मे महाराज ने एक प्रसिद्ध ऐयार गदाधरसिंह उपनाम भूतनाथ को आज्ञा दी कि वह अपनी जीवनी लिखे। 'भूतनाथ ने प्रतिज्ञानुसार अपनी जीवनी लिखकर दरबार मे पेश की और महाराज ने उसे खजाने में रखवा दिया'। यह जीवनी 'भूतनाथ उपन्यास अथवा भूतनाथ की जीवनी' नाम से इक्कीस भागो मे प्रकाशित हुई परन्तु इसको पूर्ण करने से पूर्व ही खत्री जी का स्वर्गवास हो गया, फलत: इस के अन्तिम १५ भाग उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने पूरे किये है। खत्री जी ने 'सन्तति' में 'भूतनाथ की जीवनी' को 'चन्द्रकान्ता सन्तति का उपसंहार भाग भी' कहा है, क्योकि भूतनाथ 'सतति' मे ही प्रकट होता है और तिलस्मी दीवाल पर सफलतापूर्वक खडा होकर सबको आश्चर्य में डाल देता है। 'भूतनाथ' उपन्यास अपेक्षाकृत

बहुत उलझा हुआ है और उसमें आतंककारी दृश्य भी हैं। इसमें तिलस्म के दरोगा अपने धर्म का पालन न कर सकने के कारण अनेक आपत्तियों के कारण बनते हैं।

'भूतनाथ उपन्यास का प्रारम्भ आत्मकथात्मक शैली में है : 'मेरे पिता ने तो मेरा नाम गदाधरसिंह रखा था और बहुत दिनो तक में इसी नाम से प्रसिद्ध भी था परन्तु समय पडने पर मैने अपना नाम भूतनाथ रख लिया था और इस समय यही नाम बहुत प्रसिद्ध हो रहा है।.....यद्यपि लोगो का कथन यही है कि तेरी जीवनी से लोगों को नसीहत होगी परन्तु ऐबो और भयानक घटनाओ से भरी नीरस जीवनी कदाचित् लोगों को रुचिकर न हो, इस खयाल से जीवनी का रास्ता छोड इस लेख को उपन्यास के रूप मे लाकर रस पैदा करना ही मुझे आवश्यक जान पडा'। उपन्यास के अन्त में दुर्गाप्रसाद जी लिखते है : 'यह किस्सा आवश्यकता से कही अधिक लम्बा हो गया और इसमें उलझने भी बहुत पड गई जिससे सभव है कि इसके कुछ भेद खुलने से रह गये हो।...किसी की लिखी हुई एक अधूरी पक्ति का भी जब किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा ठीक-ठीक पूरा किया जाना कठिन होता है तो वैसी हालत मे एक इतने लम्बे-चौड़े और उलझनदार उपन्यास का दूसरे हाथो द्वारा समाप्त किया जाना कितना कठिन होगा.....'।

'भूतनाथ' उपन्यास को विस्तृत आलोचना इस प्रबन्ध में संभव नही है। इस का रहस्य यह है कि ऐयारी के नियम का उल्लंघन करते हुए गदाधरसिंह ऐयार ने अपने स्वामी को मार दिया। इस कलंक को छिपाने के लिए वह समाज से दूर भाग गया और उसने अपना नाम बदल कर भूतनाथ रख लिया, उसकी पत्नी ने जीवन-भर अपूर्व पतिव्रत धर्म का पालन किया है। यह कहना कठिन है कि लेखक की दृष्टि मे भूतनाथ नीच पात्र है अथवा उच्च। उसको उस युग का सबसे बडा ऐयार चित्रित किया गया है।

तिलस्मी उपन्यासो की यह परम्परा खत्री घराने से बाहर भी गई और देवकी-नन्दन जी के उपन्यासो को पढकर अनेक अपनी रचनाएं लेकर इस क्षेत्र मे आये। परन्तु मूल उपन्यासो को पढ लेने के बाद अनुकरणो मे कोई रस नही मिलता। यही कारण है कि खत्री जी के बाद यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो उनकी संतति का, शेष लेखक विस्मृति की चादर से ढके हुए है। हरेकृष्ण जौहर की 'कुसुम-लता', चार भाग, शकरदयाल श्रीवास्तव की 'मदनमजरी'[1], ६ भाग, दादूविनायक लाल लिखित 'चन्द्रभागा'[2], गगाप्रसाद गुप्त कृत 'कृष्णकान्ता'[3], हरिवंशलाल गुप्त कृत 'महर्षि उपन्यास', गुलाबदास का 'तिलस्मी बुर्ज', अज्ञात लेखक के 'विचित्र चरित्र', 'रमा या पिशाचपुरी' आदि उपन्यास इस वर्ग में केवल गिनाये जा सकते है।

---

१. 'उपन्यास-सागर' बनारस द्वारा प्रकाशित, सन् १९०५।
२. लहरी बुकडिपो, कार्शी।
३. डी० पी० कम्पनी, मदारगेट, अलीगढ़।
४. नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।

जासूसी उपन्यास

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास की लोकप्रियता देखकर कुछ लोग तिलस्मी से भिन्न प्रकार के घटनात्मक उपन्यास लेकर साहित्य के क्षेत्र में आये। इन उपन्यासकारों में गोपालराम गहमरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके साहित्य से हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की परम्परा चली जो तिलस्मी-परम्परा के समाप्त हो जाने पर भी चल रही है। सन् १८९८ ई० मे गहमरी जी ने बगभाषा से अनूदित 'हीरे का मोल' उपन्यास प्रकाशित कराया जिसे पाठको ने बहुत पसन्द किया। उन्ही दिनों बम्बई के महालक्ष्मी मन्दिर मे एक सनसनीपूर्ण घटना का पता लगा कि उसका महन्त एक खूनी धोबी है, उस गिरफ्तारी मे गहमरी जी का सहयोग था। उक्त दोनों घटनाओ ने लेखक को जासूसी उपन्यास लिखने की प्रेरणा दी। सन् १९०० से 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकलने लगा। इस प्रकार लगभग १५० छोटे-बडे मूल और अनूदित उपन्यास गहमरी जी ने हिन्दी-साहित्य को दिये।

जासूसी उपन्यास हिन्दी साहित्य के लिए नई चीज था, इसका आगमन यूरोप से बगाल होता हुआ हिन्दी-क्षेत्र मे हुआ। जितने जासूसी उपन्यास उपलब्ध है उनके विषय मे निश्चयपूर्वक यह कहना कि सर्वथा मौलिक है असंभव है, क्योकि उनमे से अधिकतर का बीज किसी न किसी प्रकार बाहर से आया है। जासूसी उपन्यास के लिए यह भी आवश्यक नही कि वह रचयिता की कल्पना से ही पूर्णतः प्रसूत हो, किसी न किसी यथार्थ घटना मे उपन्यास की कथावस्तु का सकेत मिल जाना असभव नही हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जासूसी उपन्यास पढने से बुद्धि का विकास होता है और पाठक अधिक सावधान बन जाता है। तिलस्मी उपन्यास की अपेक्षा जासूसी उपन्यास को अधिक 'मासारिक और विश्वसनीय' एवं 'बुद्धिगम्य तथा स्वाभाविक' माना जाता है और इसके पाठक उतने बुरे नही समझे जाते।

जासूस

जासूसी उपन्यास नवयुग की देन है, परन्तु जासूस नही। सस्कृत मे जासूस को 'चर' अथवा 'गुप्तचर' कहते हैं। राजा राम को एक दिन 'चर' से समाचार मिला कि जनता सीता के विषय मे कुछ शकाकुल बाते करती है, राम ने उस पर विश्वास करके सीता को त्याग दिया। विदुरनीति मे कहा गया है कि 'चर' राजा के नेत्र है, उनके द्वारा राजा को प्रजा के मन की बातें मालूम होती रहती है। उस युग का 'चर' राजा को लोकापवाद की सूचना देता रहता था। कुछ काल बाद 'चर' का काम बदल गया वह राजा की एक शक्ति बन गया। 'अर्थशास्त्र' के रचयिता चाणक्य ने राजनीति मे गुप्तचरो के महत्व की व्याख्या की है और गुप्तचरो को राजा की एक विशेष शक्ति माना है। वे पाच प्रकार के जासूसों का वर्णन करते हैं—निठल्ले, ज्योतिषी-सामुद्रिक शास्त्री, कृषि कर्मी, व्यापारी, तथा यति। निठल्ले जासूस अवारा घूम-फिरकर लोगों के आचार व्यवहार का निरीक्षण करते रहते थे। ज्योतिषी और सामुद्रिकशास्त्री बनने से जासूसो को घरो में प्रवेश मिल जाता था और अद्‌भुत बाते बतला कर वे किसी भी

घटना का सूत्र खोज लिया करते थे। कुछ जासूस खेती-बारी करके ग्रामीणों के बीच विश्वास जमाते और छिपी हुई बातों का पता कर लेते या अपनी बातों का प्रचार कर देते थे। छोटी-छोटी दुकान अथवा खोमचा लगाकर जासूस प्रतिदिन एक विशेष मुहल्ले के समाचार जानता रहता था। यति के वेष में रहने वाले जासूस सबके विश्वास-पात्र बन जाते थे और प्रायः हर वर्ग का व्यक्ति उनके पास अपने मन को शान्ति देने के लिए उपस्थित हो जाता था। पुरुष जासूसों के अतिरिक्त स्त्री-जासूस भी थी जो भिखारिन, रसोईवाली, धाय अथवा गणिका तक बनकर गुप्त रहस्यो का पता लगाती रहती थी। कौटिल्य के अनुसार जासूस रहस्यो अथवा अपराधो का पता ही नही लगाता प्रत्युत अफवाह फैलाता, हत्या कराता और फूट कराता है। विषकन्या की ऐतिहासिक घटना जासूसी चाल थी, खून कराने वाले और विष प्रयोग करने वाले[1] जासूस एक अलग विभाग के अन्तर्गत थे।

मुसलिम शासन मे भी जासूसी विभाग का विशेष महत्व था। बलबन के शासन काल में ही जासूसी विभाग की स्थापना हो गई, इस विभाग के तीन मुख्य कार्य थे। पहिला, यह देखना कि प्रजा में राजाज्ञा का उल्लंघन तो नही हो रहा। दूसरा, यह ध्यान रखना कि जनता मिलकर बादशाह के विरुद्ध षड्यन्त्र की तैयारी तो नही कर रही। तीसरी यह कि जो लोग न्याय-विभाग मे नियुक्त है वे प्रजा का न्याय करते है या नही[2]। वस्तुत. जासूस का काम प्रजा का दु ख-सुख न रहकर शासन को दृढतर बनाना था।

आधुनिक युग में जासूसों का एक और भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्व हो गया। जर्मन-वासियो ने अपने जासूस दूसरे देश मे भेजकर उसकी जड खोखली कराई और उसका सारा भेद प्राप्त किया। जासूस महत्वपूर्ण व्यक्तियो की छाया बनकर उनकी बाते सुनते और अपने देश को सारी सूचना भेजते रहते थे। कुछ जासूस देश-भर मे घूमते रहते और अपने विभाग के विशेष लोगो को दूसरे देश की कार्यवाही से अवगत कराते रहते थे। जासूसी विभाग मे काम करने वाली बहुत सी स्त्रिया वेश्याए बनकर लोगो को फंसाती और भेदो का पता लगाती रहती थी। कुमारियो के अतिरिक्त विवाहिता स्त्रियां भी जासूस विभाग मे नौकरी करती थी। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व छियालीस सुन्दरिया पूर्वी फ्रास के किलो के आसपास नौकरी और दुराचार करने लगी थी, उनके द्वारा उच्च पदाधिकारियो की कार्यवाही का जर्मन लोगो को पता लगता रहता था'[3]।

अस्तु जासूस का कर्म एव उपयोग समय-समय पर बदलते रहे है। उपन्यास के लिए अंग्रेजी मे जिस प्रकार के जासूसो को पात्र बनाया गया वे अपराध का पता लगाने वाले थे। इसीलिए जासूसी उपन्यास को 'पुलिस नावेल' भी कहते है। आजकल जासूसी

१. प्रभा, दिसम्बर, सन् १९२३।
२. पूर्व-मध्यकालीन भारत, पृ० १०५।
३. सरस्वती, जनवरी, १९१५

विभाग दो प्रकार का है। एक तो वह जो अपराध का पता लगाता है दूसरा वह जो राष्ट्रनीति की रक्षा करता है। इस पिछले वर्ग का काम विदेशियो, षडयन्त्रकारियो तथा संदिग्ध व्यक्तियो के आचरण की देखभाल है। जिस व्यक्ति पर सन्देह हो कि यह देश-हित की हानि कर सकता है अथवा इसका सम्बन्ध देश-द्रोही जैसे लोगों के साथ है उसके पीछे सरकारी जासूस लग जाते हैं। अकेली सडक पर साइकल का पंचर जोड़ते हुए, चना-मुरमुरा बेचते हुए, विश्वविद्यालय मे विद्यार्थी बने हुए, होटल में प्लेटें साफ करते हुए इनको आप देख सकते हैं। अपराध का पता लगाने वाले जासूस साधु का वेष पहिन कर या भिखारी बनकर प्रायः उन बस्तियो में भेजे जाते हैं जहाँ अपराधी का कुछ संकेत सुलभ हो सकता है आजकल हाथ पैर के चिन्हो, मुख-मुद्रा, विशेष रुचि, रक्त-सचार आदि के आधार पर अपराध का सूत्र खोजने का प्रयत्न किया जाता है।

जासूस का कर्त्तव्य है कि वह अपराध की सूचना मिलने पर उसके कर्त्ता तथा उसकी परिस्थिति का सच्चा पता लगावे और अपनी खोज तथा अपराध की कारण-कार्य सम्बन्ध से परीक्षा करके उसके अकाट्य प्रमाण भी जुटावे। क्योकि कानून की दृष्टि में अपराधी का छूट जाना उतना भयकर पाप नही है जितना कि निरपराध व्यक्ति को दण्ड मिलना, इसलिए सन्देह का लाभ सदा तथाकथित अपराधी को मिलता है। जब जासूस खोज मे प्रवृत्त होता है तो उसके मन मे अपराध की परिस्थिति घूमती रहती है और अपनी कल्पना द्वारा वह छोटी-से छोटी संभावना का भी व्यापक विस्तार कर लेता है फलत प्रत्येक व्यक्ति को वह अपराधी समझता है। ऐसी मानसिक स्थिति में उसकी कोई भी बात उस समय तक स्वीकार नहीं होती जब तक कि पक्ष-विपक्ष के तर्क-वितर्क द्वारा वह सत्य सिद्ध न हो जाय। जासूस का कर्म बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण है उसकी बुद्धि और उसका मन जितने निखरे होंगे उतना ही वह समाज सेवा में अधिक सफल हो सकता है।

इस जासूसी विद्या पर अनेक पुस्तकें लिखी जा रही हैं और दिन-दिन यह अधिक वैज्ञानिक होती जा रही है। इसमे शरीर-विज्ञान, रासायन का एव मनोविज्ञान का विशेष महत्व हो गया है। जासूस जितनी अधिक भाषाएं एव बोलिया जानेगा उतना ही अधिक कृतकार्य हो सकता है, जितने अधिक व्यवसायो का उसे ज्ञान होगा उतनी ही उसे अपने कर्त्तव्य मे सुविधा मिलेगी। मूल मन्त्र यह है कि जासूस मानव-स्वभाव और परिस्थिति-विशेष की मनोवृत्ति से भली-भाति परिचय रहे, उसे हर काम बड़े ध्यान से देखना चाहिए। अपराध-विज्ञान के विश्वविद्यालयो मे मानव-स्वभाव एव अपराध-अनुसंधान दोनो की शिक्षा दी जाती है। जासूसी अधिक अध्ययन से लाभान्वित नही होती, इसका आधार तो अनुभव एव बुद्धिस्फुरण है। जासूसो को साधारण जेबकटो से लेकर बड़े-बड़े बदमाशो तक की चाल-ढाल और उनके अद्भुत चातुर्य-चमत्कार का ज्ञान होना चाहिए। व्यवसायी अपराधियो की एक अपनी साकेतिक भाषा होती है, वे अनुभव के कारण निपुण बन जाते हैं, अपराध करके उनके रक्त में विशेष

गति नही आती, वे सभ्य व्यक्ति बने घूमते रहते है, ऐसे लोगो का पता लगाकर उनका रहस्य जानना अत्यन्त कठिन है ।

जासूस का काम सत्य की खोज है, परन्तु सत्य कभी अमिश्रित नही मिलता । अतः कठिनाई यह होती है कि जासूस के निरीक्षण में जो कुछ आया है वह किस अश तक सत्य है और किस अश तक झूठ—इसका निर्णय कैसे हो । प्राय. भिन्न-भिन्न विषयो के विशेषज्ञो से सहायता लेनी पड़ती है, फिर भी अकाट्य प्रमाण नही जुट सकता । जासूस को स्वय सामान्य कमजोरी से ऊपर होना चाहिए । यदि उनके मन में दया, मोह, लोभ, भय आदि आ गये तो वह अपना कर्त्तव्य न निभा सकेगा । दूसरो से स्नेह दिखाता हुआ भी वह उदासीन रहे, सबकी बात मालूम करे परन्तु अपनी प्रकट न होने दे, उसके मन मे जाति-धर्म आदि का कोई पक्षपात न होना चाहिए । 'मिस जौहरा' उपन्यास मे अरकाट नाम का अंग्रेज जासूसी-विभाग का अधिकारी है, वह



को दृष्टि में रखकर उपन्यास को श्रव्यकाव्य का मुख्य प्रतिनिधि माना है और 'इनके द्वारा जगत् का भला करने की चेष्टा' लेखक का लक्ष्य ठहराया है । इस मगल-कार्य के लिए यह आवश्यक है कि उपन्यास की कथावस्तु इतनी विश्वसनीय हो कि पाठक उसका मनोरजनमात्र उद्देश्य न समझे । ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक का संकेत तिलस्मी और अद्भुत उपन्यासों की ओर है, उनसे पाठक का मनोरजन तो होता है, परन्तु पाठक उनको गल्प समझकर उनसे कोई शिक्षा नही ले पाता । लेखक के शब्दों मे ही देखिए :—

(क) अच्छे और सदाचरणी पात्रो का शुभ परिणाम देखकर पाठक अपना आचरण सुधारे और कर्त्तव्य स्थिर करें । दुराचरणी, कुपथगामी लोगों की दीन-हीन और दु.खपूर्ण दशा विचार कर अवगुणो को त्यागें । यही मगल-उद्देश्य लेकर लिखना अच्छे औपन्यासिक और नाटककार का

अभिप्राय होता है।

(ख) जगत् में होने वाली घटनाओं को इस तरह गुम्फित करना कि पढने वाले उसे सच्चा समझकर उसकी बातो पर आस्था रखकर पढ़े और मूल उद्देश्य को सफल बनावे, इसी मे ग्रन्थकार का परिश्रम सफल होता है। जिसको पढकर पाठक के मन में यह भाव उपजे कि यह तो कोरी गप्प है—ऐसा हो नही सकता, तब यह समझना चाहिए कि उपन्यासकार के सारे परिश्रम पर पानी फिर गया।

'मेम की लाश' सवा सौ पृष्ठ का जासूसी उपन्यास है। इसका घटना-स्थल बम्बई है। इसमे पुलिस दौड़-धूप करके मेम की हत्या के लिए एक निर्दोष को दोषी ठहराती है, परन्तु अन्त मे सत्य प्रकट हो जाता है : 'दुनिया मे सत्य के आगे झूठ बहुत दिन तक नही चलता।'''जो लोग अपनी चालाकी के आगे ईश्वर को कुछ नही समझते, वे लोग जरूर खदक मे गिरते हैं'।[1] इस उपन्यास की जासूसी मृत एव जीवित दोनो प्रकार के आदमियो के चेहरो के भावो का अध्ययन करती है और निर्दोष को बचाकर दोषी को दण्ड दिलवाती है। प्रसंगतः लेखक ने उन भारतीय अफसरो (डाक्टरो) के प्रति असन्तोष प्रकट किया है जो भारतीय चपरासियो, बेयरो आदि से सीधे मुह बात नही करते।

'खूनी का भेद' उपन्यास का भी केन्द्रस्थल बम्बई है और पात्र आग्ल-भारतीय तथा पारसी है। यह ८८ पृष्ठ का उपन्यास है। लूनी के दो प्रेमी थे, जिनमे से धनी लोमर के साथ उसका विवाह हो गया, फिर भी विलासिनी लूनी थार्न से भी प्रेम करती रही। चिढ कर लोमर ने लूनी का खून कर दिया, परन्तु पुलिस ने थार्न को गिरफ्तार किया। अन्त मे लोमर ने अपना अपराध स्वीकार किया। इस उपन्यास मे सब से ध्यान देने वाला गुण भाषा है, जो लेखक का सामान्य सिद्धान्त भी माना जा सकता है; अहिन्दी-भाषियो के मुख से भी ब्रजमिश्रित खडी बोली सुनकर लेखक का पक्षपात ब्रज-भाषा की ओर लगता है—'इनकार मत करियो', 'काहे नही पूछूं' आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। कुछ प्रभाव बगला का भी है। 'लोमर को आख का टेलीग्राम देकर दरवाजे की आड से लूनी को भी उसकी अधूरी कापी देता गया'[2] आदि वाक्यो मे भाषा रोचक एवं सजीव है। कथोपकथन भी आकर्षक है।

लेखक ने कर्मफल के अतिरिक्त आंग्ल-भारतीय तथा पारसी समाज की उन बातो का बडा कुशल चित्रण किया है जिनमे हिन्दू समाज के लिए कुतूहल था। इस उपन्यास के आग्ल-भारतीय विलासी तथा मर्यादाहीन है। उनका असयत तथा अनिश्चित जीवन जिसमे जुआ और शराब का मुख्य स्थान है, चित्रण का विषय बना है। उपन्यास का सार है कि 'पापी, पातकी, कुकर्मी को निधि ही मिल जाय तो क्या उसको कभी भोगने का नसीब हो सकता है; जैसे का पैसा तैसे मे ही जाता है, यह दुनिया तो

१. पृ० ११०
२. तीसरा भेद, पृ० ६

इस हाथ दे उस हाथ ल का बाज़ार है'[१]। मन के भावों का इस उपन्यास में सुन्दर चित्रण है, अन्त तक पाठक को यह पता नही चलता कि लूनी का थार्न से सच्चा प्रेम था अथवा वह केवल विलास-भावना से उसमे अनुरक्त थी।

'काशी की घटना' एक तीसरे प्रकार का जासूसी उपन्यास है। लेखक ने स्वयं इसको 'अजब गोरखधंधा' कहा है। 'बहुत से लोगो को बनारस जाने का काम पडता है, उनको चाहिए कि इन चाण्डाल चोरो और बदमाशो से बचे रहे, किसी से बिना जाने-बूझे मेल-मिलाप न कर ले, न किसी की बात मे आवे'[२]। इसी उद्देश्य से इस उपन्यास की रचना हुई है। इसके ७९ पृष्ठ और चौबीस भेदो में एक महिला विनोदिनी और पुरुष विनोदीलाल की चालबाजियो की कहानी है। स्त्री नये-नये पुरुषो को बेवकूफ बनाकर उनसे पैसा ठगती है, अन्त मे जासूस उसका पता लगा लेते है। प्रसंगत. लेखक ने कुछ सामायिक समस्याओ पर भी प्रकाश डाला है। उसने पश्चिमी सभ्यता के कारण स्त्रियो के चरित्र का पतन माना है : 'पश्चिमी शिक्षा की रोशनी मे मोहिनी की आंख का पानी गिर गया है, अनेक उपन्यास के नायक-नायिका का चरित्र जान कर प्रेमपथ मे पक्की हो चुकी है'[३], विनोदिनी का बाहरी चरित्र लोगो की नजर में विचित्र होने पर भी आजकल की स्वाधीन रमणी-गण से कुछ-कुछ मिलेगा'[४]। ब्याज का धन खाने वाले को लेखक ने बुरा बताया है : 'बहु-ब्याज-भोगी के समान पापी दूसरा नही है, जो दरिद्र लोगो को जिन्दगी भर सताता और उनकी वस्तु जायदाद सब थोड़े दाम में अडाकर धीरे-धीरे हथिया लेता है'[५]।

गहमरी जी का जासूसी उपन्यास-साहित्य मे एक विशेष स्थान है। यद्यपि इनके अधिकतर उपन्यास घटनात्मक है फिर भी लेखक का उद्देश्य मंगल-वर्षा रहा है, वह समाज का सुधार करना चाहता है। फलत उसने समकालीन जीवन में रुचि रखकर अपनी रचना मे उस पर विचार किया है। इस दृष्टि से ये जासूसी उपन्यास तिलस्मी उपन्यासों की अपेक्षा जीवन से अधिक निकट हैं। दूसरी बात यह है कि लेखक की भाषा सरल तथा लोकप्रिय होते हुए भी तत्सम शब्दावली का अधिक ध्यान रखती है, लेखक ब्रजभाषा का मोह भी नही छोड़ पाया है। जासूसी होते हुए भी इन उपन्यासो मे कोई चित्र अग्राह्य नही है, रहस्य-मात्र का उद्घाटन एव सत्कर्म का उपदेश लेखक का लक्ष्य रहा है। इन उपन्यासो की सबसे बडी कमजोरी वैचित्र्य का अभाव है, प्रत्येक उपन्यास के लगभग समान ही रहस्य है, जासूस एक-से है, पुलिस वही है। कई उपन्यास तो केवल बम्बई को घटनास्थल बनाते है। इन उपन्यासो का आकार भी छोटा है। तिलस्मी उपन्यासो की अपेक्षा जासूसी उपन्यास अधिक यथार्थ होते है परन्तु यह उनकी कमजोरी

१. पृ० ४१
२. पृ० ७९
३. पृ० ३९
४. पृ० ७१
५. पृ० १९

भी है—वे अतिमानवीय शक्ति के द्वारा पाठक के मन को वशीभूत नहीं कर पाते। यही कारण है कि जासूसी उपन्यास की रचना उतनी प्रतिभा की भी अपेक्षा नही रखती जितनी कि तिलस्मी उपन्यास की।

रामप्रसाद लाल के उपन्यास

गहमरी जी के अनुगामियो मे रामप्रसाद लाल, जयरामदास गुप्त, रामलाल वर्मा आदि के नाम गिनाये जा सकते है। इन सबने छोटे-छोटे रहस्यपूर्ण उपन्यास लिखे, जिनको 'एक अनूठा जासूसी उपन्यास' बतलाया। इनमें घटनाओ की कल्पना एवं भाषा के अतिरिक्त अन्य कोई वैयक्तिक छाप नही है। सबने उपन्यास के अध्यायो को 'भेद' नाम दिया है, प्राय: प्रत्येक भेद का शीर्षक है, कविताएँ नही है, भावुकता भी कम मिलेगी। जासूसो के साथ-साथ पुलिस की कार्यवाही का भी इन उपन्यासो मे वर्णन है। नमूने के लिए कुछ प्रसिद्ध लेखको के एक-दो उपन्यास देखे जा सकते हैं।

रामप्रसाद लाल का 'हम्माम का मुर्दा' जासूसी उपन्यास सन् १९०३ में काशी के लहरी प्रेस से प्रकाशित हुआ था। यह ९० पृष्ठ तथा ८ भेद का एक छोटा सा उपन्यास है। दृगपालसिह नवलगढ़ का उत्तराधिकारी था, उसको चन्द्रकला के प्रेम मे फंसाकर चचेरे भाई जसवन्तसिह ने हम्माम के अन्दर मरवा दिया। रामसिह नामक जासूस ने नौकरानी चिखुरिया का वेष धारण कर जसवन्तसिह का अपराध मालूम कर लिया। अपराधी ने जासूस पर गोली चलाई जो उसकी प्रेयसी चन्द्रकला को ही लग गई। इस प्रकार दृगपालसिह की हत्या करने वाले जसवन्तसिह और चन्द्रकला दोनो दण्ड के भागी हुए।

लेखक ने सारे नाम तिलस्मी परम्परा से लिए हैं, उसके पात्र क्षत्री है। फिर भी उसके नायक और खलनायक व्यसनी रईस पात्र हैं। जासूस रामसिह को उपन्यास मे सबसे ऊँचा पद मिला है, लेखक स्वय उसको 'वीर रामसिह' कहता है। जिस प्रकार तिलस्मी उपन्यास के ऐयार अपने गुणो मे आदर्श क्षत्री है उसी प्रकार जासूस रामसिह, किन्तु उसकी कोई विशेष वीरता अकित नही की गई। उपन्यास मे तीन प्रकार की भाषा का प्रयोग है —मुसलमानो की, सवर्ण हिन्दुओ की और ग्रामीणो की। सब्जीमंडी के जूआघर का वर्णन है, परन्तु घटना किस शहर की है, यह पाठक को पता नही लगता। दृगपालसिह ने अपनी प्रेयसी को जो अगूठी दी थी उस पर 'डी० पी० यस०' खुदा हुआ था, शीशी के ऊपर भी 'पायजन' लिखा हुआ था—यह आधुनिक प्रभाव है। हम्माम का वर्णन मध्ययुगीन इस्लामी सस्कृति की याद करा देता है। उपन्यास का वर्ण्य कर्म-फल है। जासूसो उपन्यासो मे स्त्री का तो प्राय: अपचित्रण ही है। लेखक का दूसरा इस जाति का उपन्यास 'हसीना उर्फ सलीमा' है जो सन् १९०३ से १९१५ तक चार भागो मे छपा था। इसके पात्र मुसलमान हैं और मुख्य आकर्षण जासूसी है। लेखक ने इसको 'एक नये ढग का मनोहर जासूसी उपन्यास' बतलाया है।

जयरामदास गुप्त के उपन्यास

'उपन्यास-बहार' के मालिक बा० जयरामदास गुप्त ने अनेक उपन्यास लिखे हैं, जिनमे कुछ ऐतिहासिक है और कुछ घटनात्मक। 'कालाचाद' तथा 'लगडा खूनी' आदि उनके जासूसी उपन्यास दो भिन्न प्रकार है। 'कालाचाद या सौतेली मा'[1] को लेखक ने 'एक जासूसी उपन्यास' बतलाया है, इसमें चौदह भेद तथा छप्पन पृष्ठ है। इसकी दो विशेषताएँ हैं। प्रथम, यह अट्ठारहवी शताब्दी की कहानी है। द्वितीय, इसके सभी पात्र मुसलमान है। नायिका हलीमा नायक सफदर को प्रेम करती है, परन्तु सफदर गरीब है : कालाचाद नामक जासूस अपनी जासूसी द्वारा उस विवाह मे सहायता देता हैं। एक ओर गरीबी को प्रेम में बाधा दिखला कर लेखक ने सामाजिक समस्या को छू दिया है। दूसरी ओर नामी डाकू आफत खा और जाफत खां को करीमुद्दीन और सलीमुद्दीन के वेष मे रखने पर उनका भेद खोलते हुए जासूसी का चमत्कार प्रदर्शित किया है। पात्र मुसलमान होते हुए भी भाषा में फारसी का अधिक प्रभाव नही है। इस उपन्यास मे नायिका हलीमा का आदर्श उच्च है। उपन्यास समान्य स्तर का है।

'लँगडा खूनी' लेखक का यथार्थ जासूसी उपन्यास है। 'इस मे एक लंगड़े के पूर्व साहस—उसका खून करना, धोखे मे एक निरपराधी का पकडा जाना, अन्त में जासूस की बारीकी से सारा भेद खुलना, पुलिस की भूल, निरपराधी का बच जाना, खूनी का अपने मु ह से खून को स्वीकार करने इत्यादि की रोचक कथा'[2] है। लेखक ने इसको 'विचित्र जासूसी उपन्यास' कहा है। इसमे आठ भेद और चालीस पृष्ठ है। इसमें एक जासूस ने अपराधी हरिहरसिह की कहानी सुनाई है। विश्वनाथ और हरिहर मे मित्रता थी, विश्वनाथ की इच्छा थी कि उसके पुत्र महादेव का हरिहर की पुत्री लता के साथ विवाह हो जाय जिससे हरिहर की मृत्यु के बाद सारी सम्पत्ति विश्वनाथ को मिल जाय। महादेव और लता एक-दूसरे को भाई-बहिन समझते थे। हरिहर भी इस विवाह के विरुद्ध था, उसने विश्वनाथ को मार दिया। पुलिस ने मृतक के पुत्र महादेव को गिरफ्तार किया। अन्त मे जासूस के प्रयत्न से हरिहर ने अपराध स्वीकार किया। इस उपन्यास मे हरिहर-विश्वनाथ तथा लता-महादेव दोनों के मनोभाव सफलतापूर्वक चित्रित किये गये हैं। भाषा सामान्य है। कथा का गठन इस उपन्यास को जासूसी-परम्परा मे उच्च स्थान दिला सकता है।

रामलाल वर्मा के उपन्यास

'हिन्दी दारोगा' के सम्पादक श्री रामलाल वर्मा ने अनेक जासूसी उपन्यास प्रकाशित किये तथा लिखे हैं। प्रकाशित उपन्यासो में से कितने उनके लिखे हुए है, यह कहना कठिन है। 'चालाक चोर', 'घटनाचक्र', 'जासूस के घर खून', 'जासूसी कुत्ता', 'अस्सी हज़ार की चोरी' आदि तीन दर्जन उपन्यास उनके नाम से प्रकाशित है। सन्

१. प्रकाशक—उपन्यास-बहार आफिस, काशी।

२. विज्ञापन से।

१९११ से उन्होने 'हिन्दी दारोगा' नामक 'सचित्र मासिक पत्र' भी कलकत्ता से निकाला था। उदाहरण के लिए उनका 'मेहदी का बाग' देखा जा सकता है।

'मेहदी का बाग' 'हिन्दी-दरोगा' के प्रथम अंक मे सन् १९११ मे पहिली बार छपा था। यह ३६ पृष्ठ का छोटा-सा उपन्यास है। प्रारम्भ में लेखक यह प्रतिपादित करता है कि जासूसी का कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है, 'मनुष्य की पहचान करना सीखना हो तो यह स्थान उत्तम है'[1]। कहानी बहुत ही सरल एव सुगठित है। मेहदी का बाग 'डाकुओ का अड्डा', या 'खूनियो की माद' 'चोरों का तहखाना' या 'लुटेरों का खज़ाना'[2] था। डाकुओ का सरदार यूसुफ गौरी को पकड़ लाता है, उसे भांति-भाति के कष्ट दिये जाते हैं परन्तु वह अपने सतीत्व पर दृढ रहती है। फिर उसके भाई को पकड लिया जाता है, वह भी अत्याचार सहता रहता है, अपने घर का पता नही देता अन्त में रामसिह और निहालसिह डाकुओ को पकडते हैं। इसके सम्पूर्ण वर्णन स्वाभाविक एवं यथार्थ हैं। उपन्यास सामान्य कोटि का है।

जासूसी उपन्यास और उनके लेखको की संख्या नही हो सकती। काशी और कलकत्ते मे जितनी उपन्यास-मालाए निकली उनका तीन-चौथाई साहित्य जासूसी है। लहरी प्रेस, उपन्यास-बहार आफिस, हिन्दी-दारोगा दफ्तर आदि के प्रकाशनो की लम्बी सूचिया उपन्यासो के अन्त मे दी हुई है। रचनाओ के वर्णन करके वाले विज्ञापन भी अमरूप हैं। परन्तु यह समस्त साहित्य किसी भी दृष्टिकोण को उपस्थित नही करता। रोचकता की भी इसमे कमी है। तिलस्मी की अपेक्षा जासूसी उपन्यास लिखना सरल है, यही इस परम्परा की समृद्धि का रहस्य है।

समीक्षात्मक दृष्टि

'ब्लेक्स नोटबुक' की एक कहानी का अनुवाद श्री नरोत्तम व्यास ने 'चालाक चोर' नाम से किया है जो सन् १९१८ में कलकत्ता के बर्म्मन प्रेस से छपा था। इस की 'भूमिका' मे लेखक ने जासूसी उपन्यास की संक्षिप्त आलोचना की है। व्यास जी के मत मे 'जासूसी उपन्यास कोरे मनोरजन के लिए ही नही लिखे जाते, वरन् उनके गर्भ मे एक प्रयोजनीय उद्देश्य छिपा रहता है कि—जिसके जरिये से लोग सुगमता से ही संसार के अच्छे-बुरे लोगो की पहिचान करने में समर्थ हो जाते है, उद्देश्य का नाम है 'सासारिक चरित्र का अविकल प्रकाश'। फिर लेखक ने अग्रेजी और बगला के जासूसी उपन्यास-साहित्य पर विचार किया है तथा हिन्दी मे उच्च कोटि के जासूसी-उपन्यासो के अभाव पर खेद प्रकट किया है 'ऐयारी के उपन्यास लिखकर बाबू देवकीनन्दन जी ने तो खूब नाम' कमाया, जासूसी-साहित्य के लिए लेखक ने 'गहमर के श्रीयुत गोपालराम जी और कलकत्ते के श्रीयुत बाबू रामलाल जी वर्मा' की सराहना की है।

---

१. पृ० ८

२. पृ० १५

यह 'भूमिका' हमारे अलोच्य-काल के अन्त में लिखी गई और इसमें ऐसे व्यक्ति के विचार हैं जो जासूसी उपन्यासो का न लेखक है न प्रकाशक—इसलिए इसका विशेष महत्त्व है। साराशत: गभीर साहित्यिकों की दृष्टि में आलोच्य-काल के जासूसी उपन्यासो के विषय में निम्नलिखित तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

(क) 'हिन्दी में भी जासूमी उपन्यासो की खूब मांग है।·····यह हिन्दी का मौभाग्य है, अच्छा है—इसी बहाने से उसका प्रचार हो'।

(ख) 'जासूमी उपन्यास कोई मनोरंजन के लिए नही लिखे जाने चाहिए··· उनके जरिये से पाठको को संसार के अच्छे-बुरे लोगों की पहिचान' सीखनी चाहिए।

(ग) हिन्दी में कोई ऐसा जासूमी-उपन्यासकार नही जिसे तिलस्मी-उपन्यास-लेखक देवकीनन्दन खत्री के समकक्ष रखा जा सके।

(घ) गोपालराम गहमरी तथा रामलाल वर्मा को जासूसी उपन्यासो के प्रकाशन का श्रेय प्राप्त है।

इन निष्कषो से यह भी स्पष्ट है कि जासूमी उपन्याम नाम से जितना साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमे से केवल यथार्थ घटना द्वारा चरित्रोत्थापक पुस्तको को ही साहित्य के पवित्र मन्दिर में स्थान मिलना चहिए और इमी दृष्टि से गोपालराम गहमरी हिन्दी के सबसे बडे जासूमी उपन्यासकार हैं; उन्होंने अपनी रचनाओ से नव-युवको के चरित्र को बिगडने से बचाया है।

आलोच्य काल के कुछ वर्ष बाद जासूसी उपन्यासो की स्थिति बदल गयी। व्यास जी की भूमिका सन् १९१८ की है। उससे ११ वर्ष बाद गहमरी जी ने अपने प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास 'गेरुआ बाबा'[1] (सन १९२९) के 'वक्तव्य' मे समकालीन जासूसी उपन्यासो पर विचार किया है। ये लिखते है कि 'अश्लील, निस्सार, और कोरी अनहोनी गप्प के उपादान पर गढे हुए उपन्यासो की इस समय इतनी बाढ़ है कि साहित्य के इस अंग की इन दिनो बडी ही छीछालेदार हो रही है'। आगे उन्होने और भी स्पष्ट किया है : 'ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी का साइनबोर्ड कपार पर लगाकर ऐसी-ऐसी निकम्मी और मगज़ बिगाडकर समय और आचरण बिगाडने वाली इतनी पुस्तकें आज-कल निकल रही है, जिनसे लोग इन पुस्तकों पर बेतरह नाक-भौ चढाने लगते हैं'। वस्तुत: तिलस्मी उपन्यासों में वे ही हैं जो खत्री-परिवार ने लिखे हैं। जो केवल ऐयारी के उपन्यास कहे गये हैं उनमें मनोविनोद के किस्से मात्र पाये जाते हैं। 'जासूसी' शब्द का उस युग में बडा दुरुपयोग हुआ और प्रत्येक रहस्यमय उपन्यास को जासूसी कहने लगे, 'हवाई-डाकू' नामक उपन्यास को जासूमी कहा गया है, परन्तु उसमे 'एक ऐसे विचित्र डाकू-दल का अद्भुत हाल लिखा गया है जो एक अनोखे प्रकार के नवीन आविष्कृत हवाई जहाज पर चढकर जगह जगह इस ढंग से डाके डाला करता था कि लाख चेष्टा करने पर भी लोग उसका पता न पा सकते थे···अन्त मे एक स्त्री ने बड़ी चालाकी और

---

१. प्रकाशक—एस० एस० मेहता एण्ड, ब्रदर्स, काशी

बहादुरी से इसके रहने की जगह का पता लगा लिया और ऐसा अद्‌भुत यन्त्र बनाया जिसकी सहायता से ऐसे भयंकर डाकू दल का एकदम नाश हो गया'[1]। इसी प्रकार 'चन्द्रभागा' उपन्यास को 'तिलस्मी और ऐयारी का उपन्यास' बतलाया गया है परन्तु उसमे तोता-कहानी के समान 'राक्षस और देव' पात्र बनाये गये हैं। ऐसे स्वच्छन्द दल-दल में गोपालराम गहमरी का प्रयत्न बडा स्तुत्य है, उन्होने घटना को विश्वसनीय बनाया और रचना का लक्ष्य शिक्षा या सुधार निश्चित किया। गहमरी जी के उपन्यासों के बाद दूसरे जासूसी उपन्यास सचमुच फीके और नीरस लगते है। व्यासजी ने सन् १९१८ में जो कुछ लिखा था वह अक्षरश: सत्य है उसमे केवल इतना परिवर्तन हुआ कि गहमरी जी जासूसी उपन्यास के क्षेत्र मे अपनी कला के कारण प्रतिष्ठित हो गये, शेष लेखको के विषय मे पुरानी समीक्षा ही यथावत् समझनी चाहिए।

अद्‌भुत उपन्यास

घटनात्मक उपन्यास के तीसरे वर्ग में उन रचनाओ पर विचार किया जा सकता है जो तोता-कहानी तथा तिलस्मी-जासूसी से भिन्न होने पर भी अद्‌भुत हैं। 'अद्‌भुत उपन्यास' वास्तव में 'अद्‌भुत रसात्मक उपन्यास' का सक्षिप्त रूप है। इसका क्षेत्र इतना विशाल है कि शेष समस्त घटनात्मक उपन्यास इस वर्ग में स्थान पा सकते हैं। यदि केवल काशी से प्रकाशित इस वर्ग के उपन्यासो की सूची देखी जाय तो इनकी सख्या पाच सौ से ऊपर है। फिर कलकत्ता, आगरा, मथुरा आदि स्थानो के अपने-अपने अलग प्रकाशन हैं। 'बम्बई मशीन प्रेस, आगरा' का नाम किसी आलोचक को याद नही परन्तु 'उपन्यास' नाम से इस प्रेस ने दर्जनो छोटी-छोटी पुस्तके छापी और अनेक लोगों को लेखक बना दिया। इस वर्ग की रचनाओ को उपन्यास मानने के दो कारण हैं: प्रथम, यह कि लेखको ने स्वय इनको उपन्यास कहा है, दूसरा यह कि इनके पात्र मानव है पशु-पक्षी नही, अत: ये तोता-कहानी से प्रवृत्ति मे भिन्न हैं।

'मिस्ट्री' अथवा 'रहस्य'

इस वर्ग के उपन्यासो पर अप्रत्यक्ष प्रभाव रेनाल्ड की प्रसिद्ध रचना 'मिस्ट्रीज़ आफ दि कोर्ट आफ लन्दन' अथवा 'लन्दन-रहस्य' का पडा था। इस पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद सोलह भागो में छपा था। 'यह उपन्यास आश्चर्य का खजाना, विचित्रता का भण्डार, घटना का समुद्र, दिलचस्पी का पहाड, खूबसूरती का अखाडा, प्रेम का नन्दन-कानन, हसी-मजाक का फव्वारा, सीन-सीनरी का कोहेकाफ, और दगा-फरेब, जाल-जूआ, चोरी-खनखराबी, चोरी-डकैती, तथा अत्याचार-अविचार का वायस्कोप है'[2]। अपने अनूठेपन से यह रचना अंग्रेज़ी भाषा में बडी लोकप्रिय हुई। हिन्दी में इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि लज्जाराम शर्मा तथा ब्रजनन्दन सहाय ने अपने

---

१. 'रक्त मण्डल' (दूसरा भाग) पर विज्ञापन से।
२. सरस्वती, जून १९१५, में विज्ञापन।

उपन्यासों में पाठकों पर इसके कुप्रभाव[1] का वर्णन किया है। वस्तुतः हिन्दी में इसका अनुवाद जितना लोकप्रिय हुआ उतना इसका प्रभाव न पड़ा। परन्तु 'रहस्य' को लक्ष्य बना कर इस युग में अनेक घटनात्मक उपन्यास लिखे गये जिनमे से अधिकतर 'अद्भुत वर्ग' मे आते हैं। इस जाति की रचनाएँ पढकर पाठक 'संसार के सब तरह के अच्छे-बुरे, नीच-ऊँच और गुप्त से गुप्त रहस्यो से भली भांति परिचित होकर अपनी वास्तविक उन्नति मे अग्रसर' होने योग्य बन सकता है, ऐसा लेखकों का सामान्य विचार था। 'रेनाल्ड के उपन्यास हाथ में लेने से मनुष्य खाना, पीना, सोना आदि आवश्यक काम भूल जाता है'[2]। 'मिस्ट्री' अथवा 'रहस्य' का प्रकाशन करने वाले उपन्यास उस युग मे सबसे अधिक लिखे और पढे जाते थे—ये रहस्य ऐयारी के हों, जासूसी के हो, अथवा सामान्य हों।

अद्भुत वर्ग के सभी उपन्यासो पर रेनाल्ड का प्रभाव नही है, बहुत से लेखक ऐसे थे जो अग्रेज़ी बिलकुल न जानते थे और अनुवाद से पूर्व हिन्दी में अद्भुत उपन्यास की बाढ़ आने लग गई थी। 'रामलाल' उपन्यास का नायक अपने दुःखी दिनो को काटने के लिए जब उपन्यास पढने लगा तो उसने देवकीनन्दन खत्री के 'काजर की कोठरी' से प्रारम्भ किया, यह उपन्यास सन् १९०० मे छपा था, इसमे वेश्याओ का वर्णन करके उनसे बचे रहने का उपदेश दिया गया है। खत्री जी ने तिलस्मी और ऐयारी से स्वतन्त्र लिखने की परम्परा भी चलाई थी, उनका 'कुसुमकुमारी' (सन् १८९८) 'वीरेन्द्रवीर या कटोरा भर खून', तथा 'नरेन्द्रमोहिनी' इसी परम्परा मे है। 'कुसुमकुमारी' के विषय में लहरी बुकडिपो ने लिखा है कि यह एक 'विचित्र उपन्यास है जो ऐयारी और तिलस्मी हाल न आने पर भी इतना रोचक हुआ है कि मजाल नही कि समाप्त किये बिना पुस्तक आप हाथ से रख दें'। 'नरेन्द्रमोहिनी' के विषय मे भी ऐसा ही मत है। 'लोगो का कहना है कि बिना ऐयारी और तिलस्मी हाल आये उपन्यास रोचक नही हो सकते पर इसमे न तो ऐयारी ही है न तिलस्म ही, फिर भी यह इतना रोचक है कि पढ़ना आरम्भ करके आप इसे अधूरा नही छोड सकते'।

विषय-वस्तु की दृष्टि से यदि अद्भुत उपन्यासो का विश्लेषण किया जाय तो निम्नलिखित उपवर्ग सामान्यत दिखलाई पडते हैं—

(क) रोमांचकारी घटना का रहस्य, किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'खूनी औरत का सात खून'।

(ख) अद्भुत प्रेम का रहस्य, निहालचन्द वर्मा कृत 'प्रेम का फल या मिस जौहरा'; प्रेम विलास वर्मा कृत 'अनंगकान्ता'।

(ग) भाग्य या व्यक्ति का रहस्य; 'किस्मत का खेल', 'मयंकबाला', 'प्रभात सुन्दरी'।

(घ) गल्प के आनन्द का रहस्य; 'कटा हुआ सिर', 'पुरानी ढढ्ढो का चरित्र'।

---

१. दे० 'सामाजिक उपन्यास'

२. 'कुसुम कुमारी' उपन्यास पर लहरी प्रेस के विज्ञापन से।

(ङ) नवीन सभ्यता का रहस्य; 'अलबेला रागिया', 'बी० ए० की बर्बादी'।

(च) राष्ट्रोद्धार के प्रयत्नों का रहस्य; 'रक्तमण्डल', 'प्रतिशोध', 'लालपंजा'।

ये उपवर्ग कथानक की प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर किये गये हैं। अद्‌भुत उपन्यास का मुख्य आकर्षण कुतूहल था, जो जितना अधिक कुतूहलवर्द्धक होता उतना ही दिलचस्प बन जाता था। भाषा, शैली, सामाजिक चित्रण, चरित्रांकन आदि का इन उपन्यासो में प्रश्न ही नही आता। इन उपवर्गों की प्रतिनिधि विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है।

'अद्‌भुत उपन्यास का सबसे बडा आकर्षण कोई न कोई रोमांचकारी रहस्य है सामान्यतः चोरी, डकैती अथवा खून की घटनाएं कुतूहल भरी होती हैं, उनमें प्रत्येक किशोर पाठक को गर्म-गर्म रहस्य मिल जाते हैं। इसीलिए आलोच्य युग में चोरी, डकैटी और खून (अथवा हत्या) के अद्‌भुत उपन्यास बडे लोकप्रिय हुए। उनमें से वे तो जासूसी वर्ग में चले जाते हैं जिनका कुतूहल जासूसों की चतुराई में है, शेष अद्‌भुत वर्ग मे रहते है क्योकि इनका आकर्षण घटना का अद्‌भुतपन है अपराध की खोज नहीं।

रोमांचकारी घटना का रहस्य

खूनी औरत का सात खून

यह अद्‌भुत उपन्यास पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने सन् १९१६ में लिखकर प्रकाशित किया था। लेखक ने इसको 'जासूसी' बतलाया है, परन्तु उपर्युक्त कसौटी पर कसकर यह 'अद्‌भुत' सिद्ध होता है, 'जासूसी' नहीं। आत्मकथात्मक शैली में नायिका दुलारी ने अपनी कहानी १७८ पृष्ठो मे कही है।

कानपुर जिले के एक छोटे-से ग्राम मे एक प्रतिष्ठित परिवार था। दुर्भाग्य-वश प्लेग में एक-एक करके ब्राह्मण-दम्पति की मृत्यु हो गई, रह गई बेचारी नायिका दुलारी, उस ग्राम के पाँच नीच लोग दुलारी के रूप पर कुदृष्टि रखते थे। अवसर पाकर रात्रि मे वे दुलारी के घर मे घुस आए और उसका धर्म नष्ट करने की योजना बनाने लगे। नायिका ने चालाकी से काम लेकर उन पाचों को आपस मे लड़ा दिया और वे सब मारे गए। दुलारी दूसरे दिन थाने में रिपोर्ट करने पहुँची। उसके रूप को देखकर मुसलमान थानेदार तथा दीवान भी उसको अपने वश में करने की सोचने लगे। दुलारी ने वही चाल चली और दोनों दुष्ट एक-दूसरे को मारकर मर गए। मुकद्दमा चल रहा था, दुलारी को फांसी होने वाली थी। एक ब्राह्मण कुमार को उस घटना का पता लगा, उसने जासूस निहालसिंह की सहायता से नायिका को बचा लिया। अन्त में नायक नायिका का विवाह हो गया।

इस उपन्यास में दुष्टों की दुष्टता का चित्रण करते हुए लेखक ने यह दिखलाया है कि जो लडकी अपने धर्म को बचाने का प्रयत्न करती है उस पर सात आदमियों की हत्या का आरोप व्यर्थ ही लग जाता है, परन्तु अन्त में सत्य की जय होती है और धर्म

की रक्षा करने वाली नायिका की स्वयं धर्म रक्षा करता है। चौकीदार रामदयाल के शब्दों में तुम्हारा धर्म जो नारायण ने बचा दिया उसके मुकाबले में फाँसी की तख्ती कोई चीज़ ही नहीं है। यदि धर्म और परमेश्वर कोई चीज़ है तो वे दोनों तुम्हें अच्छी गति देंगे और परलोक या दूसरे जन्म में तुम सुख पाओगी। फिर यह भी बात है कि यदि तुमने सचमुच खून न किए होगे तो भगवान तुम्हें बचा भी सकते हैं'[1]।

इस अद्भुत घटनात्मक उपन्यास में लेखक ने दो सामाजिक समस्याएं भी उठाई हैं। पहिली यह कि जो ब्राह्मण युवक विदेश जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करता है उस पर ब्राह्मण समाज गर्व तो करता ही नही उसका बहिष्कार करके उसे समाज सुख से भी वंचित कर देता है। बैरिष्टर दीनानाथ (नायक) ऐसा ही भुक्त-भोगी है। दूसरी समस्या उस ब्राह्मण-कन्या की है जो अपने किसी दोष के बिना दुष्टों के जाल मे फंसकर यातना भोगती है—धर्म को बचाने पर भी लोग उसको भ्रष्ट समझते हैं; दुलारी जानती है कि 'मैं समाज से दुर्दुराई जाकर भीख माँगती···डोलूगी···उस जीवन से तो फाँसी की तख्ती करोड़ गुना अच्छी समझती हू'[2]। लेखक का समाधान सयोग पर आश्रित है, दीनानाथ का विवाह दुलारी के साथ हो जाता है। परन्तु यदि दुलारी न होती तो दीनानाथ क्या करते—इस प्रश्न का कोई उत्तर नही मिलता। दुलारी का भाग्य तो निश्चित था यदि बैरिस्टर दीनानाथ न होते तो दुलारी को फाँसी हो जाती। वस्तुतः इस उपन्यास का रहस्य घटना-वैचित्र्य है, सामाजिक चित्रण नही।

अद्भुत प्रेम का रहस्य

प्रेम का फल या मिस जौहरा

दूसरे उपवर्ग में वे अद्भुत उपन्यास हैं जिनका आकर्षण अद्भुत प्रेम है। इसका मुख्य प्रतिनिधि निहालचन्द वर्मा का 'प्रेम का फल अथवा मिस जौहरा' उपन्यास है जो सन् १९१३ मे कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। लेखक ने इसको 'एक प्रेम रस का चुहचुहाता हुआ अनूठा उपन्यास बतलाया है। यह 'रँगीला उपन्यास' ११४ पृष्ठो मे पूरा होता है। नायिका जौहरा और नायक सिकन्दर दोनो ही मुसलमान हैं। जौहरा सिकन्दर को चाहती थी, परन्तु माता-पिता ने उसका विवाह और कहीं निश्चित कर दिया। इधर बारात पहुंचने वाली थी, उधर नायिका ने 'घर से सदा के लिए किनारा' कर लिया। वह दो अंग्रेजों के हाथ पड़ गई, फिर कुछ अन्य लोग उसके साथ छल करने लगे। परन्तु जौहरा चरित्रवती थी, इसी गुण के कारण अन्त में उसका सिकन्दर उसे मिल जाता है। प्रेमी-प्रेमिका के विवाह के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है। उपसंहार-स्वरूप लेखक ने बतलाया है कि 'इस उपन्यास को पढ़कर हमारे उन भारतवासियों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो पर्दे के विपक्षी हैं। यदि आज हमारे यहां से पर्दे की रिवाज उठ जावे तो दिनरात चोर अनर्थ होने लग जावें।·····हे भारतवासियो! आप लोग अपनी

१. पृ० ५८

२. पृ० ११

प्यारी लड़कियों के कोमल हृदय पर बेपर्दगी तथा स्वतंत्रता का वृक्ष न उगने दो उसको लगते ही उखाड़कर फेंक दो'।

प्रेममाधुरी वा अनंगकान्ता

इस वर्ग का दूसरा प्रतिनिधि उपन्यास प्रेमविलास वर्मा का 'प्रेममाधुरी वा अनंगकान्ता' है जो सन् १९१५ में लाला वंशीधर दूदानी ने बम्बई मशीन प्रेस, सेवका बाज़ार, आगरा में छापकर प्रकाशित किया था। लेखक के शब्दों में यह 'विचित्र भावयुक्त मनोहर' उपन्यास है। इसमें ६ परिच्छेद तथा चालीस पृष्ठ हैं। तरलका अपनी सखी अनगकान्ता के लिए प्रेमपात्र खोजने निकली और देवगढ़ के राजकुमार समरसिंह को सौदागर के वेश में उसने नायिका का चित्र बेच दिया। निरंजनसिंह अपनी पुत्री शत्रु-कुमार को देना पसन्द नहीं करते। इसी संघर्ष का अत्यन्त साधारण भाषा मे वर्णन किया गया है। तिलस्म एवं ऐयारी होते हुए भी रचना का मुख्य आकर्षण नायक नायिका का प्रेम ही है। उपन्यास का लक्ष्य है कि 'कर्मों के शुभाशुभ फल अवश्य मिलते है; इसी कारण हे भाई, 'सत्य, धर्म, धीरज, दया, क्षमा दान अरु मान। ये सातों त्यागो नही जब तक है तन प्राण'[1]।' इस उपन्यास की भाषा अत्यन्त शिथिल है, तिलस्मी चमत्कार काफी मनोरजक हैं।

भाग्य या व्यक्ति का रहस्य

किस्मत का खेल

तीसरा उपवर्ग उन अद्‌भुत उपन्यासों का है जिनमें भाग्य अथवा व्यक्ति का रहस्य चित्रित किया गया हैं। पंडित विट्ठलदास नागर का 'किस्मत का खेल' ऐसा ही उपन्यास है जो लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। इसकी नायिका महाराज उग्रबाहु की पुत्री चन्द्रकान्ता है, जिस पर स्वयं अश्वनीकुमार मोहित हो जाते है। राज-परिवार पर एक के बाद दूसरा कष्ट आता है, अन्त मे वह सुख प्राप्त करता है। लेखक का उपदेश है कि 'पुरुष को चाहिए कि कष्ट के दिनो को सुदिनों की आशा करता हुआ सब्र से काटे और ईश्वर को धन्यवाद दे क्योंकि इस संसार में सदा सुख भोगता हुआ अल्प समय मालूम होता है और कष्ट के थोड़े दिन भी वर्षों के तुल्य जान पड़ते हैं, परन्तु बुद्धिमान लोग दोनो समय को धैर्य से काटते है'[2]। आगे चलकर धर्म और कर्म का सम्बन्ध बड़ी स्पष्ट शब्दावली में चित्रित किया गया है : 'धर्म और कर्म का आपस में घना सम्बन्ध तो है परन्तु सूक्ष्म बुद्धि से देखो तो इन दोनों में बडा अन्तर है क्योंकि कर्म बन्धन का मूल है और धर्म से बन्धन छूट जाता है'[3]। उपन्यास में पौराणिक तथा कथात्मक अंश कुछ अधिक आ जाने से आधुनिक रोचकता को ठेस पहुँचती है,

---

१. पृ० ३३
२. पृ० ३३
३. पृ० ७१

अन्यथा भाषा को दृष्टि से यह उपन्यास सुन्दर है।

'मयंकबाला', 'गुप्तरहस्य' तथा 'प्रभात सुन्दरी'

'मयंकबाला' भी इसी प्रकार का सामान्य उपन्यास है जिसमें 'भाग्यचक्र का अपूर्व परिवर्तन दिखाया गया है' साथ ही 'प्रेम के सच्चे परिणाम का सुन्दर दिग्दर्शन' भी है। 'गुप्त रहस्य' नामक उपन्यास में भाग्य ने एक निर्धन नायिका का धनी नायक से प्रेम करा दिया। दोनों एक दूसरे को अत्यधिक प्रेम करते हैं परन्तु उनका विवाह नहीं हो पाता। अन्त में अभिलाषा पूर्ण होने वाली होती है, उससे पूर्व ही दोनों की मृत्यु हो जाती है। इस उपन्यास में लोक-कथा का-सा आनन्द है। सौराष्ट्र की प्रसिद्ध लोककथा 'सेणी अने बीजानन्द' में नायक-नायिका एक-दूसरे को हार्दिक प्रेम करते हैं। नायिका का पिता नायक पर एक भारी शर्त्त लगा देता है कि यदि नायक उसे पूर्ण कर देगा तो नायिका से विवाह कर सकता है। नायक उसे पूर्ण करने के लिए निकल पडता है। जब वह लौट कर आता है तो पता लगता है कि प्रतीक्षाकुल नायिका कुछ ही समय पहिले मर चुकी है। यह सुनकर नायक भी शरीर त्याग देता है। इन कथाओं में मन की भावना और भाग्य के चक्र का अद्‌भुत चित्र है जो भावुकता के कारण प्रत्येक पाठक को प्रभावित करता है। इसी वर्ग में 'प्रभात सुन्दरी' उपन्यास आयेगा जिसका नायक पहिले हिन्दू था परन्तु व्यक्तिगत ग्रन्थि के कारण उसे मुसलमान बनना पड़ा। वह इतिहास मे 'काला पहाड़' नाम से प्रसिद्ध है। वह बहुत ही क्रूर था, उसने जगन्नाथ के मन्दिर तथा मूर्ति को तोड़कर सन्तोष की सांस ली थी।

गल्प के आनन्द का रहस्य

'कटा हुआ सिर'

चौथा उपवर्ग उन अद्‌भुत उपन्यासों का है जिनमें गप्पों द्वारा कुतूहल उत्पन्न करते हुए मनोरजन का प्रयत्न किया गया है। इस जाति के उपन्यास आगरा से बहुत छपे थे। इनके मुखपृष्ठ पर 'उपन्यास' लिखा गया है। अटूसनिवासी सूरजभान वैश्य का 'कटा हुआ सिर' (सन् १९१२) इस जाति का प्रतिनिधि उपन्यास है। रचना को 'उपन्यास' और 'नावेल' दोनो ही नाम दिये गये हैं। इसमें 'पूरे-पूरे इल्म हुनर और चालाकों की चालाकी, चोरों की दगाबाज़ी, ठगों की धोखेबाजी से बचाने वाली अपूर्व कला' का दर्शन होता है। उपन्यास में ४४ पृष्ठ हैं, बीच-बीच में मन को लगाने वाली बहुत-सी हिन्दी और उर्दू की कविताएं भी लिख दी गई हैं। भाषा तथा शैली अत्यन्त प्राथमिक है। मनोरंजन के अतिरिक्त दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है। विशेषता यह है कि चरित्र को बिगाडने वाली कोई भी बात इस पुस्तक में नही लिखी गई।

विचित्रपुर में सुजान नामक एक प्रसिद्ध चोर था उसका पुत्र श्याम उससे भी बढ़कर निकला। पिता-पुत्र ने एक दिन राजा के घर में चोरी की, लोग जग गये, सुजान मारा गया, श्याम अपने पिता का सिर काट लाया जिससे कोई पहिचान न

सके। श्याम की माता ने कहा मैं सती होना चाहती हूं। श्याम ने ऐसी चालाकी कि जब राजपुरुष चोर को जला रहे थे तब गूजरी का वेश धारण कर श्याम की माता वहां गई और सती हो गई; राजकर्मचारियों को पता भी न लगा। फिर कोतवाल ने श्याम को पकड़ने का प्रयत्न किया परन्तु श्याम कभी चमारिन का वेश बना लेता कभी धोबिन बन जाता। अन्त में राजा ने घोषित किया कि जो 'आज रात को हमारे साथ इस तरह चौसर खेलेगा कि हमको खबर न पड़े, उसे हम अपनी बेटी ब्याह देंगे'। श्याम ने वेष बदल कर राजा के संग चौसरी खेली, अतः उसका विवाह राजपुत्री के साथ हो गया। 'जैसे श्याम के दिल की मुराद पूरी हुई ऐसी ही परमब्रह्म परमात्मा हमारे इस पुस्तक के पढ़ने वाले पाठक महोदयों की मुराद पूरी करे और दिल के हौसले मिटा दे और सबको खुश रखे। अब हमारा नॉविल खतम है'[1]।

इस जाति के दूसरे उपन्यासों में 'पुरानी ढढ्ढो का चरित्र' (सन् १९१३) है। यह भी बम्बई मशीन प्रेस आगरा से छपा था। इसको भी 'उपन्यास' कहा गया है। चम्पा नगरी के सेठ धनदत्त की पुत्री श्यामसुन्दरी और दृगपाल सेठ के पुत्र चित्रशाल के रोमान्स का वर्णन है। यह बत्तीस पृष्ठ की कहानी है। स्कूल में साथ-साथ पढ़ते हुए नायक-नायिका का प्रेम हो जाता है, फिर विवाह है, परदेश-गमन है। नायक नायिका को सोती छोड़ जाता है, वह पुरुष का वेश धारण कर निकल पड़ती है। बाद मे उसका विवाह 'बंग सरोजनी' उपन्यास के फरिहाद के समान राजपुत्री के साथ निश्चित हो जाता है। यथार्थ बात का ज्ञान होने पर चित्रशाल दोनों को अपनी पत्नी बना लेता है। वे राजा और रानियां बन जाते हैं। लेखक ने वही शिक्षा दी है जो किशोरीलाल गोस्वामी ने 'पुनर्जन्म वा सौतिया दाह' उपन्यास में दी थी, 'आजकल जिसके घर मे दो स्त्रिया होती हैं वे लड़-लड़ मरती हैं और पुरुष की जान आफत में आ जाती है'[2], उनको आपस में प्रेम करते हुए अपने पति की सेवा करनी चाहिए। बांकेलाल चतुर्वेदी का 'खौफनाक खून' (सन् १९१२), मौजीलाल जैन का 'निर्मल-कुमारी' (सन् १९१३) आदि अनेक उपन्यास इसी जाति के हैं, इनमें आधुनिक उपन्यास की कोई भी विशेषता नहीं मिलती, केवल नाम है।

नवीन सभ्यता का रहस्य

'अलबेला रागिया' तथा 'बी० ए० की बर्बादी'

रामलाल वर्मा ने बनारस से 'अलबेला रागिया' उपन्यास प्रकाशित किया जो किसी हास्य-रसात्मक उपन्यास-परम्परा का प्रतिनिधि है। इस उपन्यास में 'आजकल के नई रोशनी वाले बाबुओं का सुन्दर खाका' खीचा गया है। आगे चलकर इसी जाति का उपन्यास 'बी० ए० की बर्बादी' एस० एस० मेहता एण्ड ब्रदर्स काशी ने प्रकाशित किया। इसमें 'आधुनिक सभ्यता मे रंगी हुई भारतीय-कन्याओं के जीवन-रहस्य' को

१. ३९
२. पृ० ३२

चित्रित कर सामाजिक अधःपतन की 'पोल खोली गई' है। ये उपन्यास किसी गंभीर सामाजिक उद्देश्य से नहीं लिखे गये, प्रत्युत 'रहस्य' द्वारा मनोरंजन के लिए ही इनकी रचना हुई है। इसीलिए इनको सामाजिक वर्ग में स्थान न देकर अद्भुत उपवर्ग में रखा गया है। सम्भव है आलोच्य काल में इस जाति के अन्य उपन्यास भी लिखे गये हों, परन्तु इनकी सख्या अधिक नहीं हो सकती, क्योकि इनमें जिस समाज का चित्रण है वह अद्भुत उपन्यासों के पाठको की पहुंच से बाहर का है।

राष्ट्रोद्धार के प्रयत्नों का रहस्य

रोमांचकारी घटनाओ का रहस्योद्घाटन करने वाले अद्भुत घटनात्मक उपन्यासों में दुर्गाप्रसाद खत्री के उन उपन्यासों का विशेष महत्व है जो राष्ट्रीय भावना से डकैती और हत्या का वर्णन करते हैं। परतन्त्रता की बेड़िया काटने के लिए जो प्रयत्न हुए हैं वे प्रारम्भ में हिंसात्मक थे, अहिंसात्मक प्रयत्न तो गान्धी जी के नेतृत्व में ही व्यवहार्य बने। ऐसे एक हिंसावादी दल का वर्णन कुछ घटनात्मक उपन्यासो में किया गया है जो देश में क्रान्ति लाना चाहता था, इसके सदस्य पढे लिखे सभ्य एवं उत्साही युवक थे। बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास मे भी डाकुओं का सरदार धनियों को लूटकर निर्धनों की सहायता करता था, परन्तु वह डाकू बन चुका था, उसे क्रान्तिकारी नहीं कहा जा सकता। दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यास 'रक्त मण्डल', 'प्रतिशोध', 'लाल पंजा' राष्ट्रीय भावना से हिंसापूर्ण क्रान्ति का वर्णन करते हैं।

'रक्तमण्डल' तथा 'प्रतिशोध'

'रक्त मण्डल' उपन्यास लहरी बुकडिपो से चार भागो में छपा था। इसके क्रान्तिकारी पात्र नवीन वैज्ञानिक यन्त्रों के उपयोग से अंग्रेज़ी सरकार तथा सम्पत्तिशालियों को परेशान कर देते हैं। एक किले में इनका गढ़ था। मि० ग्रिफिथ के शब्दों में 'शायद दुनिया के इतिहास में किसी सरकार के विरुद्ध किसी भी क्रान्तिकारी दल ने उतना बडा उपद्रव नहीं मचाया होगा जितना इस रक्तमण्डल ने यहा मचा डाला'।[1] लाट साहब के सेक्रेटरी तो यह समझते हैं कि 'अभी यह तो नही कह सकते कि जड-मूल से नाश हो गया'। इस मण्डल के पांच मुख्य कार्यकर्त्ता थे, जिनमे से चार का नाम 'भयानक चार' था और उनके सरदार का नाम 'नगेन्द्र नरसिंह' था। पंडित गोपालशंकर ने सरकार की सहायता की, बारूद से उक्त मण्डल का किला उडा दिया, पुरस्कार-स्वरूप गोपाल का विवाह मिस्टर केमिल की लडकी मिस रोज के साथ हो गया। यह उपन्यास साहित्यिक स्तर का है, पाठक घटनाओं में ही न भटक कर देशभक्तों की प्रशंसा को बाध्य हो जाता है। भाषा शुद्ध एवं प्रवाहपूर्ण है, वैज्ञानिक आविष्कार संभावनातीत नही लगते। 'रक्तमण्डल' में फूट पड़ जाने के कारण दल असफल हो गया, दल के सदस्य नष्ट हो गये और दल का कार्य बन्द हो गया। लेखक ने अपने दूसरे उपन्यास 'प्रतिशोध' में इस विफलता का चित्रण किया है।

---

१. चौथा भाग, पृ० २२२

लालपंजा

इस जाति का अन्य उपन्यास 'लालपंजा' है, जिसमें अंग्रेजी दैनिक पत्र का सम्पादक मि० प्रामाणिक ही नायक अथवा मुख्य कार्यकर्त्ता है। धनी, साहूकार, पुलिस के अधिकारी, जिसके पास भी लालपंजे से अंकित लालरंग का लिफाफा पहुँचता था वह थर-थर कांपने लगता था। ये डाकू लोग सूचना देकर डाका डालते थे, पुलिस अथवा सेना इनके कार्य में बाधा न डाल पाती थी। इस उपन्यास की विशेषता मि० प्रामाणिक का अद्‌भुत रहस्य है, अन्त में वही 'लालपंजा' सिद्ध होता है। 'रक्त मण्डल के अधिकतर पात्र इसमें आ गये हैं। डाके का उद्देश्य स्वतन्त्रता का समर छेड़कर राष्ट्र का उद्धार करना है। ये उपन्यास आलोच्यकाल में नहीं लिखे गये फिर भी इन का संकेत यह जानने के लिए आवश्यक हैं कि अद्‌भुत घटनात्मक उपन्यासों की परिणति क्रान्तिकारी उपन्यासों में हुई जो देश और समाज की परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल थी।

उपसंहार

पिछले पृष्ठों में छत्तीस वर्ष (सन् १९८२ से सन् १९१८) के प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य प्रभाव से 'नावेल' के अर्थ में 'उपन्यास' शब्द के प्रचलित होने और नॉवेल के अनुकरण पर 'उपन्यास'-विधा का प्रारम्भ होने से पूर्व हमारे यहां, विशेषत: खड़ी बोली में, जो साहित्य उपन्यास नाम से विद्यमान था उसका मूल्यांकन कर यह निष्कर्ष स्थिर किया गया है कि 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का प्रथम मौलिक साहित्यिक उपन्यास है। उपन्यास नाम से जिन दो तीन कथा-कहानियों का उल्लेख कतिपय इतिहास-ग्रन्थों में किया गया है यथार्थ में वे औपन्यासिकतत्व-विहीन हैं।

'परीक्षा गुरु' की रचना के अनन्तर जिस उपन्यास परम्परा का प्रवर्त्तन हुआ उसमें पात्रों के चरित्रविकास का अभाव एवं लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोण के तिरोभाव की प्रवृत्ति मुख्य रूप से लक्षित होती है। 'सेवासदन' की रचना से इस प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ। अतः 'परीक्षा गुरु' से 'सेवासदन'-पूर्व-युगीन उपन्यास-साहित्य अधिकांश में एकरस एवं समान हैं। इस युग के कथा-साहित्य को प्रवृत्ति की दृष्टि से दो वर्गों में विभक्त किया गया है—'उपन्यास' तथा 'तोता-कहानी'। 'उपन्यास' नाम से जितनी रचनाएं प्रसिद्ध हैं उनके पात्र मानव (अथवा अतिमानव) हैं। इसके विपरीत 'तोता-कहानी' (अथवा किस्सा-कहानी) के पात्र मानवेतर पशु, पक्षी आदि भी हो सकते हैं। यह वर्गीकरण इस युग के उपलब्ध कथा-साहित्य के आधार पर किया गया है।

आलोच्य-काल के उपन्यास दो परम्पराओं के परिणाम हैं। नवयुग के प्रभाव से जिन उपन्यासों की रचना हुई वे 'सामाजिक' अथवा 'ऐतिहासिक' हैं। 'सामाजिक' उपन्यास में समकालीन युग-जीवन का चित्र होता है, और 'ऐतिहासिक' उपन्यास अतीत का प्रत्यंकन करता है; परन्तु दोनो ही प्रकार के उपन्यास जन-जीवन के क्रिया-कलाप में अभिरुचि रखकर कथा को उपन्यस्त करते हैं। नवयुग से पूर्व की परम्परा ने जिस उपन्यास-साहित्य को जन्म दिया उसे तत्कालीन साहित्यिकों ने 'घटनात्मक' कहा है। इन उपन्यासों का कथा-लोक हमारे प्रत्यक्ष जगत् से अधिक दूर न होता हुआ भी एक विशेष दृष्टि से निर्मित हुआ है।

यथार्थ में हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ सामाजिक रचनाओं से होता है। 'परीक्षा गुरु' की परम्परा कतिपय वर्षों तक चली। इस परम्परा के उपन्यासों में व्यक्ति-चरित्र के उद्‌घाटन एवं वर्णन की प्रमुखता लक्षित होती है, आन्दोलन-विशेष के प्रस्तुत करने में रुचि नहीं दिखलाई पड़ती। पं० बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास इस परम्परा में प्रमुख हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने सामाजिक उपन्यासों द्वारा सनातन धर्म और

आर्यसमाज के विविध आन्दोलनों को चित्रित करना प्रारम्भ किया। फलतः उन रचनाओं से उपन्यास की उपयोगिता के एक बाह्य पक्ष को स्वीकार किया गया। पं० किशोरीलाल गोस्वामी, पं० लज्जाराम शर्मा, बा० गंगाप्रसाद गुप्त, पं० टीकाराम सदाशिव तिवारी, आदि उपन्यासकारों ने सनातन धर्म के सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए तात्कालिक सामाजिक सुधारवाद का खण्डन किया। जन्म से जाति, श्राद्ध एवं तीर्थ, बाल-विवाह, छुआछूत, पर्दा, सम्मिलित कुटुम्ब आदि का समर्थन तथा स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, शुद्धि आदि का कट्टर विरोध इन उपन्यासों के प्रतिपाद्य विषय हैं। पं० रुद्रदत्त शर्मा, महाशय श्याम किशोर वर्मा आदि लेखक कट्टर आर्यसमाजी थे। उन्होने एक ओर पैगम्बरी मतों पर प्रहार किया दूसरी ओर सनातनियों से टक्कर ली पुराणों का परिहास, श्राद्ध का खण्डन, बाल-विवाह का खंडन, विधवा-विवाह का समर्थन, जन्म से जाति में अविश्वास, शुद्धि का समर्थन एव स्त्री-पुरुष सबके लिए शिक्षा का प्रचार इन उपन्यासकारों के मुख्य वर्ण्य है। इस वर्ग के सामाजिक उपन्यासों का अद्यावधि हिन्दी मे मूल्यांकन नहीं हुआ। कथा की दृष्टि से उनके वर्ण्य-विषय भी प्रायः अज्ञात से बने हुए थे। हमने उनके मूल्यांकन के साथ यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि इन उपन्यासों में भावी सामाजिक उपन्यास के मूल बीज निहित थे। कुछ उपन्यासकार सनातन धर्म अथवा आर्यसमाज के सुधार आन्दोलनों के पीछे न चलकर स्वतत्र रूप से कतिपय सुधारो पर जोर देते थे। इस वर्ग के मुख्य उपन्यासकार पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा श्री कृष्णलाल वर्मा हैं। सामाजिक रचनाओं की परिणति जिन उपन्यासों में हुई उनसे उपन्यास-साहित्य के युगान्तर का पूर्वाभास मिल जाता है। श्री ब्रजनन्दन सहाय का 'राधाकान्त' तथा श्री मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल' उपन्यास इस वर्ग के प्रतिनिधि है। इन रचनाओं से सामाजिक धरातल के चित्रण द्वारा ग्रामीण जीवन के चित्रण का मार्ग खुल जाता है। भारतीय शहरी जीवन के साथ ग्रामीण जीवन के चित्रण का प्रारम्भ हिन्दी उपन्यास साहित्य में इसी युग के सामाजिक उपन्यासो द्वारा हुआ।

अतीत की कथावस्तु पर पल्लवित उपन्यासो को इस युग में 'ऐतिहासिक' कहा गया है। इनमे 'इतिहास' तो है परन्तु 'ऐतिहासिकता' का पूर्ण रूप से समावेश नही है पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने बगाल के इतिहास से उपन्यास-रचना प्रारम्भ की है; फिर दिल्ली, आगरा, लखनऊ आदि केन्द्रों का इतिहास इनको पसन्द आया। प्रायः सभी उपन्यासकारों ने भारत के मुगल शासनकाल के इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया, और मुसलमानों के विलास, वैभव एवं दुश्चरित्र का चित्रण किया। वस्तुतः ये उपन्यासकार इतिहास के रहस्यमय असुन्दर वातावरण का ही अपनी रचना में प्रत्यंकन करते थे। इस परम्परा के अन्त में रचित बा० ब्रजनन्दन सहाय का 'लालचीन' नवयुग की सूचना देता है। ऐतिहासिक उपन्यास की पृष्ठभूमि को समझने के लिए आलोच्य युग के ऐतिहासिक उपन्यासो का अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध में विस्तार से किया गया है।

नवयुग से पूर्व की परम्परा के 'घटनात्मक' उपन्यास इस युग में सर्वाधिक लोकप्रिय थे। इनको 'उपन्यास, तो कहा गया है परन्तु इनके पात्र किसी काल्पनिक लोक के हैं—उन

पर युग विशेष की छाप नहीं मिलती। प्रचलित शब्दावली का प्रयोग करते हुए घटनात्मक उपन्यास के दो रूप मिलते है—'रोमान्स' तथा 'रंजनकथा'। 'रोमान्स' के अन्तर्गत 'तिलस्मी' तथा 'जासूसी' उपन्यास आते है और 'रंजनकथा' के अन्तर्गत 'अद्भुत उपन्यास'। अस्तु 'घटनात्मक उपन्यास' के तीन वर्ग हैं—'तिलस्मी उपन्यास', 'जासूसी उपन्यास' तथा 'अद्भुत उपन्यास'। तिलस्मी उपन्यासों में बा० देवकीनन्दन खत्री की रचनाएं शिरोमणि है, उनका 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास तिलस्म के क्षेत्र में एक अमर प्रतिनिधि रचना है। उसका वातावरण मध्ययुगीन राजपूती आदर्श तथा समकालीन शस्त्रजीवियों की परिस्थिति के मिश्रण से निर्मित है। खत्री जी के ऐयार हिन्दी-साहित्य की एक विशिष्ट सृष्टि है। 'जासूसी' उपन्यासों का प्रारम्भ अपेक्षाकृत पीछे हुआ था, इस वर्ग के श्रेष्ठ लेखक श्री गोपालराम गहमरी हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं मे उच्च चारित्रिक स्तर का ध्यान रखा है। जासूसी उपन्यास लेखकों की सख्या अपरिमित है, उनमें से गहमरी जी के उपरान्त श्री रामप्रसाद लाल, श्री जयरामदास गुप्त और श्री रामलाल वर्मा को ही प्रतिनिधि रूप में अध्ययन की सुविधा के लिए ग्रहण किया है। जासूसी उपन्यास की रचना अपेक्षाकृत सुगम है, इसीलिए जासूसी उपन्यासकार भी असंख्य हैं, किन्तु उनमें नवीनता एव मौलिकता कम ही है। 'अद्भुत उपन्यास' यथार्थ में 'अद्भुत रसात्मक उपन्यास' का संक्षिप्त रूप है, इसके अन्तर्गत वे सभी रचनाए आ जाती हैं जिनमें कुतूहल ही मनोरजन का कारण बनता है। इस उपवर्ग मे कोई भी रचना उच्च साहित्यिक स्तर की नहीं है कुछ रचनाओं के पात्र अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न है। फिर भी ये 'उपन्यास' कहलाती थीं, इसलिए इनका अध्ययन अनिवार्य बन जाता है। अदभुत उपवर्ग के उपन्यासों का मुख्य आकर्षण कोई न कोई रहस्य है जो घटना, प्रेम, भाग्य, व्यक्ति, नवीन सभ्यता, अथवा कोरी गल्प पर ही आश्रित रहता था। इस रहस्य का पर्यवसान श्री दुर्गाप्रसाद खत्री के उन रोमांचकारी उपन्यासों में होता है जिनमें क्रान्तिकारी युवक राष्ट्रोद्धार के लिए हिंसात्मक कार्यक्रम अपनाते है। यथार्थ मे 'अद्भुत उपन्यास', 'उपन्यास' और 'तोता कहानी' दोनो धाराओं का स्पर्श करते हुए चलते है। वर्ण्य विषय में साहित्यिकता का अभाव होने पर भी कुतूहल और विस्मय का जाल पाठक को फंसाने वाला सिद्ध होता है। 'अद्भुत उपन्यासों' का बाहुल्य भी समीक्षक की दृष्टि को आकृष्ट करता है, फलतः इस वर्ग का विवेचन अनिवार्य हो जाता है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग का उपन्यास-साहित्य कला की दृष्टि से बहुमूल्य न हो परन्तु जन जीवन के प्रतिबिम्ब रूप में महत्वपूर्ण है। उपन्यास के प्रति जनता की जितनी रुचि उस युग में थी उतनी फिर नहीं रही। उपन्यास पत्र-पत्रिकाएं तो केवल आलोच्य काल में ही निकलती थीं। लेखक और प्रकाशक उपन्यास के प्रति जितने सानुराग उस युग में थे उतने उसके बाद नही रहे। यदि साहित्य का महत्व लोक जीवन का प्रतिबिम्ब है तो हमारा आलोच्य साहित्य किसी भी साहित्य से कम मूल्यवान नही है। हिन्दी के प्रचार में भी उस आलोच्य साहित्य ने अपूर्व सहयोग दिया था। यदि उस उपन्यास साहित्य को ही दृष्टि में रखकर उस जन समाज का इतिहास लिखा जाय तो वह शुष्क इतिहास से अधिक सत्य एवं सुन्दर होगा। अस्तु, भाषा का प्रचार, जन रुचि का परिष्कार, मौलिक रचना का सूत्रपात, जन जीवन का प्रतिबिम्ब, तथा उत्तरकालीन उपन्यास की परम्परा के रूप में प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास साहित्य महार्घ एवं महत्वपूर्ण है और विशेष विवेचन की अपेक्षा रखता है।

●

परिशिष्ट

(सहायक पुस्तकों की सूची)

विशेष : सन् या संवत् उस संस्करण का द्योतन करते हैं जिसका प्रस्तुत प्रबन्ध में उपयोग किया है, वे रचना-विशेष के प्रथम प्रकाशन की सूचना नहीं देते।

हिन्दी की पुस्तकें

पुस्तक	लेखक	विवरण
अंगूठी का नगीना	किशोरीलाल गोस्वामी	१९१८, वृन्दावन
अर्द्ध कथा	बनारसीदास जैन	प्रयाग
अधखिला फूल	अयोध्यासिंह उपाध्याय	१९१५, द्वितीय बार
आदर्श हिन्दू, तीन भाग	लज्जाराम शर्मा	१९१४, प्रयाग
आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी	२००७, इलाहाबाद
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	श्रीकृष्ण लाल	१९५२, प्रयाग
आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर विचार	हजारी प्रसाद द्विवेदी	दिल्ली
आनन्द मठ	बंकिमचन्द्र	१९५५, लखनऊ
इन्दिरा	बंकिमचन्द्र	१९५५, लखनऊ
इन्दुमती वा वनविहंगिनी	किशोरीलाल गोस्वामी	१९१४, वृन्दावन
उपन्यास कला	विनोदशंकर व्यास	१९५०, बनारस
कटा हुआ सिर	सूरजभान वैश्य	१९१२, आगरा
कनककुसुम वा मस्तानी	किशोरीलाल गोस्वामी	वृन्दावन
करामाती बाबाजी अर्थात् तिलस्मी सुरंग	बांकेलाल चतुर्वेदी	१९१२, आगरा
कल्याणी	मन्नन द्विवेदी	१९२०, आगरा
कटे मूड़ की दो-दो बातें	किशोरीलाल गोस्वामी	वृन्दावन
कालाचांद वा सौतेली मां	जयरामदास गुप्त	बनारस
काव्य के रूप	गुलाबराय	आगरा
काशी की घटना	गोपालराम गहमरी	१९३४, बनारस
काशी यात्रा	श्यामकिशोर वर्मा	१९१६, लाहौर
किरणशशि	रामप्रसाद सत्याल	१९०९, काशी

पुस्तक	लेखक	विवरण
किस्मत का खेल	विट्ठलदास नागर	लखनऊ
कुछ विचार	प्रेमचन्द	१९४९, बनारस
कुसुमकुमारी, चार हिस्से	देवकीनन्दन खत्री	बनारस
कृष्णकान्ता, दो भाग	गंगाप्रसाद गुप्त	१९३६, अलीगढ़
खौफनाक खून	बाकेलाल चतुर्वेदी	१९१२, आगरा
खूनी का भेद		बनारस
खूनी औरत का सात खून	किशोरीलाल गोस्वामी	१९१६, वृन्दावन
गुप्त गोदना, पहिला हिस्सा	देवकीनन्दन खत्री	१९२८, बनारस
दूसरा हिस्सा	किशोरीलाल गोस्वामी	१९२२, बनारस
चौथा हिस्सा	,, ,,	१९२४, बनारस
पांचवां हिस्सा	,, ,,	१९२४, बनारस
गुल बहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह	,, ,,	१९१६, वृन्दावन
गेरुआ बाबा	गोपालराम गहमरी	१९८६, काशी
चन्द्रकान्ता, चार हिस्से	देवकीनन्दन खत्री	काशी
चन्द्रकान्ता सन्तति चौबीस हिस्से	,, ,,	काशी
चन्द्रभागा	दादू विनायक लाल	१९२५, काशी
चपला वा नव्य समाज चित्र चार भाग	किशोरीलाल गोस्वामी	१९०३, काशी
चम्पा	कृष्णलाल वर्मा	१९१६, रोहतक
चालाक चोर	अनु० नरोत्तम व्यास	१९१८, कलकत्ता
चित्रावली	उस्मान	
जायसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल	काशी
जिन्नों की महफिल	बाकेलाल चतुर्वेदी	१९१२, आगरा
डबल बीबी		वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई
ताराबाई वा क्षत्र-कुल-कमलिनी	किशोरीलाल गोस्वामी	१९१५, वृन्दावन
तारामती	केदारनाथ	मथुरा
त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी	किशोरीलाल गोस्वामी	१९०७, बनारस
दीनानाथ वा गृहचरित्र	कार्त्तिकप्रसाद खत्री	१९०७, काशी
धोखे की टट्टी	रामजीदास वैश्य	१९०७, प्रयाग
नवाबी परिस्तान, दो भाग	जयरामदास गुप्त	काशी
नाट्यसम्भव	किशोरीलाल गोस्वामी	१९०४, काशी

पुस्तक	लेखक	विवरण
निर्मलकुमारी अर्थात् ऐयारी का भण्डार	मौजीलाल जैन	१९१३, फर्रुखाबाद
नूतन ब्रह्मचारी	बालकृष्ण भट्ट	१९५०, प्रयाग
नूरजहांबेगम, दो भाग	मथुराप्रसाद शर्मा	१९०५, काशी
पतिव्रता विपुला	प्रभातचन्द्र मुखोपाध्याय	१९१७
परीक्षा गुरु	श्रीनिवासदास	द्वितीय बार, कलकत्ता
पंचवटी	मैथिलीशरण गुप्त	२०१२, चिरगांव
प्रतिमा		१९१३
पुरानी ढढ्ढो का चरित्र		१९१३, आगरा
पाप परिणाम	नरोत्तम व्यास	१९१९, कलकत्ता
पुनर्जन्म वा सौतियादाह	किशोरीलाल गोस्वामी	१९०७, काशी
पूर्वमध्यकालीन भारत	रघुवीरसिंह	१९८८, प्रयाग
प्रेममाधुरी वा अनंगकान्ता	प्रेमविलास शर्मा	१९१५, आगरा
प्रेम का फल या मिस जौहरा	निहालचन्द वर्मा	१९७०, कलकत्ता
पुष्पकुमारी	टीकाराम तिवारी	१९८०, कलकत्ता
प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन	नन्ददुलारे वाजपेयी	
फूल मे काटा	रामजीदास वैश्य	१९०६
फोर्ट विलियम कालेज	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	२००४, इलाहाबाद
बिगड़े का सुधार वा सती सुखदेवी	लज्जाराम शर्मा	१९०७, बम्बई
भारतेन्दु युग	रामविलास शर्मा	१९५१, आगरा
भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य	हरिकान्त श्रीवास्तव	
भूतनाथ,		
१ से ६ भाग	देवकीनन्दन खत्री	१९५३, काशी
७ से २१ भाग	दुर्गाप्रसाद खत्री	१९५३, काशी
मदनरंजनी, ६ भाग	शंकरदयाल श्रीवास्तव	१९०५, बनारस
मम्मासिरुल उमरा	अनु० ब्रजरत्नदास	१९८८, काशी
मल्लिकादेवी वा बंगसरोजिनी, दो भाग		१९०५, काशी
माधवी माधव वा मदन-मोहिनी, दो भाग	किशोरीलाल गोस्वामी	१९२६, वृन्दावन
मेंहदी का बाग	रामलाल वर्मा	१९११, कलकत्ता
मोहिनी	अखौरी राधाप्रसादसिंह	१९८३, पटना
रक्तमण्डल, चार भाग	दुर्गाप्रसाद खत्री	१९३०, काशी

पुस्तक	लेखक	विवरण
राजकुमारी	किशोरीलाल गोस्वामी	१९१६, वृन्दावन
राजसिंह	बंकिमचन्द्र	१९५५, लखनऊ
रामलाल	मन्नन द्विवेदी	१९१७, प्रयाग
रामचरितमानस	तुलसीदास	प्रयाग
राधा		
राधाकान्त	ब्रजनन्दन सहाय	१९१८, कलकत्ता
लवंगलता वा आदर्शबाला	किशोरीलाल गोस्वामी	१९१५, वृन्दावन
लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा, सात हिस्से	किशोरीलाल गोस्वामी	१९१७, वृन्दावन
लक्ष्मीदेवी	गंगाप्रसाद गुप्त	दूसरी बार, बनारस
लंगडा खूनी	जयरामदास गुप्त	काशी
लालचीन	ब्रजनन्दन सहाय	१९१६
लालपजा	दुर्गाप्रसाद खत्री	काशी
लीलावती वा आदर्श सती	किशोरीलाल गोस्वामी	१९०७, काशी
वीरमणि	श्यामबिहारी मिश्र शुकदेवबिहारी मिश्र	१९१७
वैशाली की नगर वधू	चतुरसेन शास्त्री	
श्रीनिवास ग्रन्थावली	सं० श्रीकृष्णलाल	२०१०, काशी
सच्चामित्र या जिन्दे की लाश, दो भाग	अम्बिका प्रसाद गुप्त	१९०६, काशी
सत्यार्थप्रकाश	स्वामी दयानन्द सरस्वती	अजमेर
साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास	प्रयाग
साहित्य समीक्षा	सीताराम चतुर्वेदी	२०१०, काशी
सुन्दर सरोजिनी	देवीप्रसाद शर्मा	१९०७, काशी
सुलताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल, दो भाग	किशोरीलाल गोस्वामी	१९०४, वृन्दावन
सूरजमुखी	ज्योतिषी हरदेवप्रसाद	१९२३, मथुरा
सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई, प्रथम भाग	किशोरीलाल गोस्वामी	१९०९, वृन्दावन
द्वितीय भाग	,, ,,	१९११, वृन्दावन
सौ अजान और एक सुजान	बालकृष्ण भट्ट	१९८५, लखनऊ
स्वर्ग में महासभा	रुद्रदत्त शर्मा	मुरादाबाद
हम्माम का मुर्दा	रामप्रसाद लाल	१९०३, काशी
हसीना उर्फ़ सलीमा	रामप्रसाद लाल	

पुस्तक	लेखक	विवरण
पहिला हिस्सा	रामप्रसाद लाल	१९०३, काशी
दूसरा हिस्सा	,,	१९१२, काशी
तीसरा हिस्सा	,,	१९१३, काशी
चौथा हिस्सा	,,	१९१५, काशी
हंसादेवी	गोपालराम गहमरी	प्रथम बार, बनारस
हिन्दी उन्यास	शिवनारायण श्रीवास्तव	२००७, बनारस
हिन्दी-उपन्यास-साहित्य	ब्रजेरत्नदास	२०१३, बनारस
हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	त्रिभुवनसिंह	२०१२, बनारस
हिन्दी कथा-साहित्य	गंगाप्रसाद पाण्डेय	२००८, इलाहाबाद
हिन्दी-गद्य के विविध साहित्य-रूपों का उद्भव और विकास	बलवन्त ल० कोतमिरे	१९५८, इलाहाबाद
हिन्दी साहित्य	हजारीप्रसाद द्विवेदी	दिल्ली
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल	काशी
हिन्दी-साहित्य का आदिकाल	हजारीप्रसाद द्विवेदी	१९५२, पटना
हीरक जयन्ती ग्रन्थ		२०११, काशी
हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी	किशोरीलाल गोस्वामी	१९१५, वृन्दावन

संस्कृत की पुस्तकें

पुस्तक	लेखक	विवरण
अमरकोषः		बम्बई
अभिज्ञानशाकुन्तलम्		१९४७, बम्बई
कादम्बरी		बम्बई
काव्यानुशासनम्	हेमचन्द्र	१९३४, बम्बई
काव्यादर्शः	दण्डी	१९३८, पूना
काव्यप्रकाशः	मम्मट	१९५१, बनारस
काव्यालंकारः	भामह	१९२८, बनारस
किरातार्जुनीयम्		१९४२, बम्बई
दशरूपकम्		बम्बई
नाट्यशास्त्रम्		१९४३, बम्बई
बृहत्कथामंजरी	क्षेमेन्द्र	१९३१, बम्बई
मनुस्मृतिः		१८९२, बनारस
याज्ञवल्क्य स्मृतिः		१८९२, बम्बई
स्वप्नवासवदत्तम्		१९२४, काशी
साहित्यदर्पणः	विश्वनाथ	१९३८, लाहौर
हर्षचरितम्		१९४६, बम्बई

बंगला की पुस्तकें

पुस्तक	लेखक	विवरण
आलालेर घरेर दुलाल	टेकचन्द ठाकुर	१३४७, कलकत्ता
उन्निश शतकेर बांग्ला साहित्य	त्रिपुराशंकर सेन	१३६०, कलकत्ता
बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा	श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय	१९३९, कलकत्ता
बंगभाषा औ साहित्य	दीनेशचन्द्र सेन	कलकत्ता
बांग्ला साहित्येर कथा	श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय	१३५३, कलकत्ता
बांग्ला साहित्येर इतिहास	सुकुमार सेन	द्वितीय खण्ड, तृतीय संस्करण, १३६२, कलकत्ता,
रामतनु लाहिडी औ तत्कालीन बंग समाज	शिवनाथ शास्त्री	१९५७, कलकत्ता
विंश शतकेर बांगला साहित्य, प्रथम खण्ड	अनिल विश्वास	१९५३
साहित्य विचार	मोहितलाल मजूमदार	१३५४, कलकत्ता
समालोचना साहित्य	सं० श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय	प्रथम संस्करण कलकत्ता

संदर्भ ग्रन्थ

इंग्लिश इन्दु मराठी डिक्शनरी
ए प्रेक्टीकल संस्कृत डिक्शनरी (मैकडानल)
ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (मौनियर विलियम्स)
दि शार्टर ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी, थर्ड एडीशन
एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वौल्यूम १६ तथा १९
ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी, वौल्यूम II
दि ऑक्सफोर्ड क्लासिकल डिक्शनरी
दि न्यू डिक्शनरी आफ थौट्स
दि न्यू पिक्चर्ड एनसाइक्लोपीडिया, वौल्यूम ७
दि न्यू इंग्लिश डिक्शनरी
नूतन बांग्ला अभिधान
बैंगाली इंग्लिश डिक्शनरी
बंगीय शब्दकोष
सरल बांग्ला अभिधान
हिन्दी शब्द सागर
हिन्दी-पुस्तक-साहित्य
हिन्दी साहित्य कोश

परिशिष्ट

पत्र-पत्रिकाएँ

आजकल
आलोचना
उपन्यास (किशोरीलाल गोस्वामी)
उपन्यास बहार (जयरामदास गुप्त)
उपन्यास कुसुमांजलि (रामलाल वर्मा)
कवि-वचन-सुधा
कुसुम सरोवर (वृन्दावन)
जासूस (गोपालराम गहमरी)
दारोगा (रामलाल वर्मा)
देवनागर
धर्मयुग
नये पत्ते
प्रभा
बिहार-बन्धु
बंगदर्शन
भारत जीवन
माधुरी
राजस्थान समाचार
शुभ चिन्तक
सरस्वती
साहित्य-सन्देश
हरिश्चन्द्र चन्द्रिका
हिन्दी-प्रदीप
हिन्दी बंगवासी
हिन्दोस्थान

अंग्रेजी की पुस्तकें

A Critical Study of the Life & Novels of Bankim Chandra, Jayant Kumar Das Gupta, 1937, Calcutta.

A History of Sanskrit Literature, V. Varadachari

A Short History of English Novel, S. Diana Neill. 1951, London.

A History of Pali Literature, Bimla Charan Law.

A Treatise on Novel, Ben Ray Redman, 1930, New York.

An Introduction to the Study of Literature, W. H. Hudson, London.

Aspects of Novel, E. M. Forster, London.

Annals & Antiqu of Rajasthan, Lt-Col. James Tod, 1950, London.

Arabian Nights, English Translation.

Bengali Literature, J C. Ghosh, 1948, London.

History of Political Thought from Ram Mohan to Dayanand, Vol. I Biman Behari Majumdar, 193+, Calcutta.

History of Shah Jehan of Delhi, Banarsi Prasad Sexena, 1958, Allahabad.

History of Khaljis, K. S. Lal, 1950, Allahabad.

Life & Letters of Raja Ram Mohan Roy by Sophia Dobson, Ed: Hem Chandra Sarkar, 1913.

Literary Studies, Vol. II, Walter Wagehot, Ed: Richard Holt Hutton, 1891, London.

Lord William Bentick, Demetrius C. Boulger, 1892, Oxford.
Studies in Literary Modes, Arthur Melville Clark, 1946, Edinburgh.
Sir Walter Scott, H. J. C Grierson, 1932, Edinburgh.
The Cambridge History of India Vol. III, 1928, Cambridge.
The Cambridge History of the British Empire, Vol. IV.
Ed: H. H. Dodwell, 1929,-Cambridg
The Life of Robert Lord Clive, Collected from the family papers
3 Vols, Maj-Gen. Sir Malcolm, 1836, London
The History of English Novel,
Ernest A. Baker, Vols 1, 6 & 7, 1950, New York
The Native States of India, Sir William Lee Warner, 1910, London
The Life of Marquis of Dalhousie,
Sir William Lee Warner, 1904 London
The Sepoy Revolt, Lt-Gen. Mcleod Innes, 1897, London.
The Economic History of India (Under early British Rule),
Romesh Dutt, London.
The Development of the English Novel,
Wilbur L. Cross, 1953 New York.
The Craft of the Critic,
S Stephenson Smith, Second Printing, New York.
The Novel, P.H. Newby, 1951, London
The Craft of Fiction, Percy Lubbock, 1921, London.
The Growth of the English Novel,
Richard Church, 1951, London.
The Structure of the Novel, Edward Muir
The Modern English Novel, Ben Ray Redman, 1930, New York.
Western Influence on Bengali Literature,
Priya Ranjan Sen, 1932, Calcutta.